ISSN 0975-5217
DOI-10.65403
स्वीकृत- 15.12.2025
प्रकाशित- 25.12.2025

वर्ष 2025
अंक : 30 (संयुक्तांक)
(जुलाई-दिसम्बर)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध पत्रिका)

Bhairavi Sangeet
Shodh Patrika

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)

भैरवी (दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध पत्रिका) अंक-30 (संयुक्तांक)

Bhairavi Sangeet
Shodh Patrika
ISSN 0975-5217
DOI-10.65403
स्वीकृत- 15.12.2025
प्रकाशित- 25.12.2025

वर्ष 2025
अंक 30 (संयुक्तांक)
(जुलाई-दिसम्बर)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

Website- https://bhairavisangeetshodhpatrika.com/
DOI URL- https://search.crossref.org/search/works?q=10.65403%2F2025&from_ui=yes

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

Bhairavi Sangeet
Shodh Patrika

ISSN 0975-5217
DOI-10.65403
स्वीकृत- 15.12.2025
प्रकाशित- 25.12.2025

वर्ष 2025
अंक 30 (संयुक्तांक)
(जुलाई-दिसम्बर)

भैरवी (दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

प्रधान सम्पादक
प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com
Website- https://bhairavisangeetshodhpatrika.com/
DOI URL- https://search.crossref.org/search/works?q=10.65403%2F2025&from_ui=yes

"भैरवी" Peer Reviewed Refereed Visual and Performing Arts Research Journal है जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित एवं UGC-Care list (Group-1) में शामिल शोध-पत्रिका रही है।

भारतीय मुद्रा के अनुसार - वार्षिक : `1100 / त्रैवार्षिक: `3100 / आजीवन: `25000
अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा के अनुसार - वार्षिक : $12 / त्रैवार्षिक: $ 33.81 / आजीवन: $ 272.64

इस अंक की सहयोग राशि- `500
Contribution amount for this issue - $ 5.45
In Indian currency - Annual: `1100 / Triennial: `3100 / Lifetime: `25,000
In International Currency - Annual: $12 / Triennial: $ 33.81 / Lifetime: $ 272.64
(सहयोग राशि केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

सर्वाधिकार सुरक्षित ©
प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।

समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।
मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201 102

Patron

Padmashree Prof. Ritwik Sanyal
Top Grade vocal Artist
Retd. Dean & Head
Faculty of Music & Performing Arts
B.H.U.Varanasi, Uttar Pradesh

Prof. Sahitya Kumar Nahar
Top Grade Sitar Artist,
U.P Sageet Natak Academy Awardee
Ex. Vice-Chancellor
RajaMansingh Tomar SangeetVishwavidyalaya
Gwalior, Madhya Pradesh, India

Pandit (Dr.)Nishindra Kinjalk
Top Grade Sitar Artist
Senior Doctor & Music Therapist
Muzaffarpur, Bihar, India

Prof. Chaman Lal Verma
Retd. Dean & Head
Department of Music
H.P University, Himanchal Pradesh,Shimla

Prof. Prabhakar Pathak
Retd. Dean & Head
University Dept. of Hindi
Lalit Narayan Mithila University
Darbhanga, Bihar

Prof. Sushil Kumar Gupta
Ph.D.(IITD),CCHEM,FRSC
Professor &Ex. Head
Jiwaji University Gwalior, India

Chief Editor
Prof. Pushpam Narain
Dean Academic & Ex. Dean Faculty of Fine Arts
Lalit Narayan Mithila University Darbhanga Bihar, India
E mail- npushpamji@gmail.com
Mobile-9430063265, 7903836047

Editorial Board

1. Prof. K. Shashi Kumar
Ex. Dean & Head
Faculty of Music & Performing Arts
B.H.U. Varanasi, Uttar Pradesh, India

2. Dr. Chinthaka P. Meddegoda
Professor of Music
Department. of North Indian Music
The University of Visual & Performing Arts, Colombo

3. Dr. Smriti Shukla Principal
Govt. M. K. B. Autonomous College for Women
Jabalpur, Madhya Pradesh

4. Prof. Snehashish Janpriya Das
Head. Department of Music
Women'sCollegeJagChowk
Amarawati, Maharashtra

5. Prof. Umesh Kumar
Head, University Department of Hindi
Lalit Narayan MithilaUniversity
Darbhanga, Bihar

6. Prof, Santosh Dattatrayrao Parchure
Head, Department of Music
S.P.H.Women's College,Malegaon, Maharashtra

7. Dr. Suruchi Arya
M.B.B.S,M.S,
Ophthalmologist,F.C.O.,F.C.RS, Varanasi

8. Mr. Dhirendra Prasad
Senior Advocate
Katihar, Bihar

Peer Review Committee

1. Dr. Ramesh Pokharel
   Associate Professor, Fine Arts Campus
   Tribhuvan University, Kathmandu, Nepal

2. Dr. Om Prakash Bharti
   Head, Department of PerformingArts
   M.G.I Antarrashtriya HindiVishwavidyalaya
   Wardha, Maharashtra

3. Dr. Ramshankar
   Associate Professor.
   Faculty of Music and Performing Arts
   B.H.U., Varanasi

4. Dr. Shobhit Kumar Nahar
   Director
   Uattar Pradesh Sangeet Natak Akadami
   Lucknow, India

5. Dr. Ashwani Kumar Singh
   Associate Professor Department of Music
   Faculty of Performing Arts
   M.S. University, Baroda, Gujarat

6. Dr. Pallavi Shailesh Meshram
   Associate Professor in Applied Arts
   Bharti Vidyapeeth' Collge of Fine Arts, Pune
   Maharashtra, India

7. Dr. Rajendra Kumar Deerpaul
   Senior Lecture
   Department of Stringed Instruments
   School of Performing Arts
   Mahatma Gandhi Institute. Mauritius

8. Dr. Shashank S. Maktedar
   Associate Professor and Officiating Principal
   Goa College of Music, Panji, Goa, India

9. Dr. Gajendra Bhardwaj
   Senior Lecturer Department of Hindi
   Marwari College
   Darbhanga, Bihar, India

'Music is the bridge of peace and love'

'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।'

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

भैरवी जर्नल की सदस्यता हेतु प्रपत्र

Journal Subscription Form

वेबसाइट https://bhairavisangeetshodhpatrika.com

1. **आवेदक का विवरण / Applicant Details**
   - पूरा नाम / Full Name:
   - संस्थान/संगठन का नाम (यदि लागू हो) / Name of Institution (if any):
2. **संपर्क विवरण / Contact Details**

   पूरा पता / Full Address:

   शहर / City: राज्य / State:

   पिन कोड / PIN Code: मोबाइल नंबर / Mobile No.:

   ई-मेल / Email:
3. **सदस्यता का प्रकार / Type of Subscription**

   उचित विकल्प पर निशान लगाएँ / Tick the appropriate option: -

   [ ] व्यक्तिगत / Individual

   [ ] संस्थागत / Institutional

   [ ] छात्र / Student

   [ ] आजीवन / Lifetime
4. **सदस्यता अवधि एवं सहयोग राशि / Subscription Period and Amount**

   भारतीय मुद्रा के अनुसार - वार्षिक : ₹1100 / त्रैवार्षिक : ₹ 3100 / आजीवन : ₹25000

   अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा के अनुसार- वार्षिक : $12 / त्रैवार्षिक : $ 33.81 / आजीवन : $ 272.64
5. **जर्नल का प्रारूप / Mode of Journal**

   [ ] मुद्रित / Print

   [ ] ऑनलाइन / Online

   [ ] दोनों / Both (Print + Online)
6. **भुगतान का माध्यम / Mode of Payment:**

   [ ] ऑनलाइन ट्रांसफर/ UPI / Online Transfer / UPI

   भुगतान संदर्भ संख्या व तिथि / Payment Reference No. & Date:
7. **घोषणा / Declaration**

   मैं यह घोषणा करता/करती हूँ कि उपर्युक्त दी गई सभी जानकारियाँ सत्य एवं सही हैं। मैं जर्नल की सदस्यता से संबंधित सभी नियमों एवं शर्तों से सहमत हूँ।

   I hereby declare that the information furnished above is true and correct to the best of my knowledge. I agree to abide by all the rules and regulations of the journal subscription.

   स्थान / Place:.......... तिथि /Date:........... आवेदक के हस्ताक्षर / Signature of Applicant:

....

कार्यालय उपयोग हेतु / For Office Use Only

आवेदन प्राप्ति तिथि / Date of Receipt: रसीद संख्या / Receipt No.:

सदस्यता स्वीकृत/अस्वीकृत/ Subscription Approved/Rejected: हस्ताक्षर (प्राधिकारी) / Authorized Signature:

संपादक की कलम से ...

आज के प्रतिस्पर्धात्मक समय में शिक्षा का उद्देश्य अक्सर केवल अंकों की प्राप्ति और पेशेवर डिग्रियों तक सीमित होकर रह गया है। हम ऐसे व्यक्तियों को तैयार कर रहे हैं जो तकनीकी रूप से सक्षम तो हैं, परंतु यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या वे संवेदनशील और मानवीय मूल्यों से युक्त भी हैं। इसी संदर्भ में शिक्षा में कला की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। कला केवल मनोरंजन या शौक की वस्तु नहीं है, बल्कि यह वह माध्यम है जो मनुष्य की तार्किक क्षमता को उसकी कल्पनाशक्ति से जोड़ती है। शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य केवल पढ़ना-लिखना सिखाना या रोजगार प्राप्त करना नहीं है, बल्कि मनुष्य के भीतर छिपी संवेदनाओं को जागृत करना और उसके व्यक्तित्व का समग्र विकास करना भी है। आधुनिक समय में जहाँ विज्ञान और तकनीक का प्रभुत्व बढ़ रहा है, वहीं शिक्षा में कला का महत्व और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। यह केवल एक विषय के रूप में नहीं, बल्कि सीखने की एक प्रभावी पद्धति के रूप में सामने आती है।

कला शिक्षा विद्यार्थियों के बौद्धिक, भावनात्मक और सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती है। जब कोई विद्यार्थी संगीत, नृत्य, चित्रकला या नाटक जैसी कलाओं से जुड़ता है, तो उसके मस्तिष्क के विभिन्न हिस्से सक्रिय हो जाते हैं। इससे उसकी रचनात्मक सोच का विकास होता है और वह समस्याओं को नए दृष्टिकोण से समझने लगता है। उदाहरण के लिए, चित्रकला या मूर्तिकला के माध्यम से छात्र कल्पना, निर्णय क्षमता और समस्या-समाधान जैसे कौशल विकसित करते हैं। कला का दायरा केवल सुंदर चित्र बनाने तक सीमित नहीं है। जब कोई विद्यार्थी संगीत की ताल को समझता है या रंगमंच पर अभिनय करता है, तब उसके मस्तिष्क के विभिन्न भाग सक्रिय होते हैं। कला के माध्यम से छात्रों में रचनात्मक सोच विकसित होती है, जो उन्हें परंपरागत सीमाओं से बाहर निकलकर नए ढंग से सोचने के लिए प्रेरित करती है। उदाहरण के लिए, एक खाली कैनवास या मिट्टी का ढेर विद्यार्थियों को निर्णय लेने और समस्याओं के समाधान की प्रक्रिया से परिचित कराता है। इसी प्रकार वाद्ययंत्र बजाने या सूक्ष्म कलात्मक कार्यों में भाग लेने से उनकी एकाग्रता और ध्यान केंद्रित करने की क्षमता में वृद्धि होती है। इस प्रकार कला विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास को समृद्ध करने में सहायक सिद्ध होती है।

अक्सर ऐसा देखा जाता है कि विद्यार्थी अपनी भावनाओं को शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाते। ऐसे में कला उन्हें अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का एक प्रभावी माध्यम प्रदान करती है। कला कई बार उपचारात्मक भूमिका भी निभाती है, क्योंकि यह विद्यार्थियों को मानसिक तनाव और शैक्षणिक दबाव से राहत दिलाने में सहायक होती है। जब छात्र अपनी बनाई हुई किसी कलाकृति को पूर्ण रूप में देखते हैं, तो उनके आत्मविश्वास में भी वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त साहित्य और रंगमंच के माध्यम से वे विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण को समझते हैं, जिससे उनमें सामाजिक संवेदनशीलता और सहानुभूति का विकास होता है।

कला शिक्षा को बोझिल प्रक्रिया से आनंदमय अनुभव में परिवर्तित कर देती है। यदि जटिल वैज्ञानिक सिद्धांतों या ऐतिहासिक घटनाओं को चित्रों, नाटकों या लोकगीतों के माध्यम से समझाया जाए, तो विद्यार्थी उन्हें अधिक आसानी से और लंबे समय तक याद रख पाते हैं। कहा भी गया है कि विज्ञान हमें यह सिखाता है कि हम जीवन को कैसे बनाए रखें, जबकि कला हमें यह समझाती है कि जीवन का उद्देश्य क्या है। इसके बावजूद हमारी शिक्षा व्यवस्था में आज भी कला को अक्सर अतिरिक्त गतिविधि के रूप में देखा जाता है। कई बार अभिभावक और शिक्षक इसे गणित या विज्ञान जैसे विषयों की तुलना में कम महत्व देते हैं। इसके अतिरिक्त विद्यालयों में पर्याप्त संसाधनों और प्रशिक्षित कला शिक्षकों की कमी भी एक बड़ी चुनौती के रूप में सामने आती है।

भारत जैसे सांस्कृतिक विविधता से परिपूर्ण देश में कला शिक्षा सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को विकसित करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। लोकगीत, पारंपरिक नृत्य और क्षेत्रीय कलाएँ विद्यार्थियों को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ती हैं और उनमें अपनी परंपराओं के प्रति गर्व की भावना उत्पन्न करती हैं। साथ ही, समूह में नाटक या नृत्य प्रस्तुत करने से टीमवर्क, सहयोग और सहिष्णुता जैसे गुण विकसित होते हैं। इससे विद्यार्थी विभिन्न दृष्टिकोणों को समझते - सीखते हैं और विविधताओं का सम्मान करना भी सीखते हैं।

वर्तमान समय में राष्ट्रीय स्तर पर भी शिक्षा में कला के महत्व को स्वीकार किया जा रहा है। नई शिक्षा नीति 2020 में कला-एकीकृत शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यदि हमें ऐसे नागरिक तैयार करने हैं जो केवल ज्ञानवान ही नहीं बल्कि संवेदनशील और नवोन्मेषी भी हों, तो कला को शिक्षा व्यवस्था के केंद्र में स्थान देना आवश्यक है। कला से रहित शिक्षा उस सूखे वृक्ष के समान है, जिस पर ज्ञान के पत्ते तो हो सकते हैं, परंतु संवेदनाओं के फूल कभी नहीं खिलते।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्रदान करना नहीं, बल्कि व्यक्ति के भीतर संवेदनशीलता, रचनात्मकता और मानवीय मूल्यों का विकास करना भी है। कला इस उद्देश्य को प्राप्त करने का एक सशक्त माध्यम है। यदि शिक्षा प्रणाली में कला को उचित स्थान दिया जाए, तो यह न केवल विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को समृद्ध बनाएगी, बल्कि उन्हें संवेदनशील, कल्पनाशील और नवाचारी नागरिक बनने की दिशा में भी प्रेरित करेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर कला को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाए, ताकि आने वाली पीढ़ी केवल ज्ञानवान ही नहीं, बल्कि संवेदनशील और सृजनशील भी बन सके।

कला के सभी विद्वानों, संगीतज्ञों, मर्मज्ञों, शोधार्थियों एवं छात्रों के लिए भैरवी का संयुक्तांक अंक-30 आपके समक्ष प्रस्तुत है। संरक्षक मंडल, संपादक मंडल, समीक्षक मंडल एवं सभी शुभचिंतकों का हृदय से आभारी हूँ। पाठकों की प्रतिक्रिया की आशा में। सधन्यवाद।

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
प्रधान संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा-846004 (बिहार)
मोबाइल- 9430063265/7903836047
ईमेल : npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

संपादक की कलम से ... 9

1. राजस्थान की सांस्कृतिक विरासत में अनुनादित वाद्य यन्त्र: एक परिशीलन — डॉ० रितु सिंह 15
2. शुद्धाद्वैत सिद्धान्तवादी आचार्य बल्लभाचार्य जी का जीवन वृत्तांत — कुसुम सिंह, प्रो. संगीता सिंह 21
3. उस्ताद काले खाँ (जयपुर वाले): अजराड़ा घराने की उपेक्षित किंतु अमूल्य विरासत— एक विश्लेषणात्मक अध्ययन — अभिजीत 27
4. उत्तर भारतीय लोकसंगीत में प्रयुक्त तन्त्रवाद्यों के प्रभाव एवं उपयोगिता का विश्लेषणात्मक अध्ययन — अंजली वर्मा, डॉ.सुरेन्द्र कुमार 33
5. गीति (लक्षण एवं भेद) — अर्चना कुमारी, प्रो. के. शशि कुमार 40
6. साम संगीत — डॉ. के.ए. चंचल, बागीश पाठक 48
7. मृण्मय लोकवाद्यों की चरणबद्ध निर्माण प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन — प्रो. पुष्पम नारायण, डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज 53
8. भारतीय ज्ञान परम्परा में राम — डॉ० बिन्दु चौहान, कंचन कुमारी 61
9. भारतीय ज्ञान परंपरा में संस्कार गीत — डॉ. ललन कुमार 65
10. कला की शिक्षा एवं शिक्षा में कला का आधुनिकीकरण — नीतीश रंजन 70
11. पखावज चक्करदार रचनाओं की गणितीय विशेषता व सौंदर्य — प्रो० प्रवीण उद्धव, प्रशांत कुमार 78
12. आधुनिक भारतीय संगीत एवं रोजगार — प्रतीक्षा मिश्रा, डॉ. सुरेन्द्र कुमार 83
13. भारतीय संगीत के पारंपरिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप का विश्लेषण — प्रिया शर्मा, डॉ सुरेन्द्र कुमार 90
14. दुर्लभ वाद्य यंत्र सुन्दरी — राजन, डॉ. बी. सत्यवर प्रसाद 98
15. ठुमरी का भक्तिमय स्वरूप — राजकिशोर कुमार 107

16. अन्तः करण की शुचिता में हेतु संगीतः एक अध्ययन
डॉ. रामशंकर, कृष्ण कुमार तिवारी 111

17. तबला वादन और शिक्षण में कायदों का महत्व,
विशेषता, प्रकार और स्वरूप प्रो० प्रवीण उद्धव, सदानंद प्रजापति 115

18. ख्याल गायन में तान की भूमिका डा. विवेक वर्मा 121

19. गायन में बंदिश: शास्त्रीय अनुशासन से सृजनात्मकता तक ललित कुमार 126

20. संगीत : ध्वनि, मस्तिष्क और अनुभूति का दार्शनिक तत्व पूजा कुमारी 130

21. बुंदेली सांस्कृतिक परम्परा एवं बुंदेलखंड के
लोकगीतों का वर्गीकरण मंगल सिंह वर्मा 134

22. भारतीय ज्ञान परंपरा में वेदों की भूमिका डॉ. शीला झा 139

23. पंडित भोलानाथ भट्ट जी का सांगीतिक योगदान बिहार के सदर्भ में
प्रो. के शशि कुमार, डॉ. अंजू बाला 143

24. बनारस घराने में ठुमरी-दादरा की वंशावली डॉ. अमृता जोशी 147

25. पंडित रविशंकर का "सितार और ऑर्केस्ट्रा के लिए कंसर्टो":
भारतीय राग परंपरा और पश्चिमी सामंजस्य
का सृजनात्मक संवाद" मीना कुमारी, प्रोफेसर (डॉ) राजेश शाह 151

26. गुरमत संगीत के क्षेत्र में भाई शमिंदरपाल सिंह जी
का योगदानः सारंदा वाद्य के संदर्भ में जसप्रीत कौर 159

27. मिथिला लोकचित्रकला एक अनूठी शैली प्रो. पुष्पम नारायण 166

28. Quality and Accessibility of Music Education in Nepal's
Higher Education Swarnima Mishra, Dr. Jyoti Mishra 171

29. Preserving Indian Classical Music: Bhadra Priya K 176
A Qualitative Study of Dr. Rakesh Kumar
Continuity and Change

30. The Changing Landscape of Musical Employment in the Age
of Artificial Intelligence(AI) Sugandha Gupta, Dr. Surendra kumar 184

31. The Unwritten Past: A Journey into India's
Musical Antiquity Dr. Bhanupratap Sahoo Prof. Revati Sakalkar 194

32. Rasa Experience in Carnatic Devotional Music: Aesthetic Theory and Emotional Transformation in Dikshitar's Elemental Kritis — Arun Sankar R, Dr. Abu K M 206

33. Feminine Subjectivity in Thumri: A Dialogue Between Voice and Silence — Dr. Deepika Srivastava, Aditi Pandey 217

34. Exploring Disease Prevention through Bharatanatyam and Yoga: An Analytical Study of Indian Cultural Healing Practices — Soma Mondal, Prof. Dr. Lawanya Kirti Singh 'Kabya 225

35. Comparative Study of Indian and Western Music Theory: Scales, Modes and Rhyrhm — Dr. Deepika Srivastava, Gurlal Singh 235

36. Collection Development of Music Subject in the Library of Mahila Mahavidyalaya, Jog Chauk, Amravati, Maharashtra (India) — Dr. Vijay G. Wardikar 244

राजस्थान की सांस्कृतिक विरासत में अनुनादित वाद्य यन्त्रः एक परिशीलन

डॉ० रितु सिंह

सारांश

राजस्थान का अपने सांस्कृतिक मूल्यों के कारण विश्व में गौरवमयी स्थान है। राजस्थानी जीवन शैली में आरम्भ से ही संस्कृति का अनोखा सम्बन्ध देखने को मिलता है। भारतीय संस्कृति की भाँति यहां की संस्कृति एक धर्म प्रधान संस्कृति होते हुए भी अपनी मौलिक उद्भावनाओं के कारण अपना वैशिष्ट्य रखती है। राजस्थान की संस्कृति में आध्यात्म और दर्शन के आदर्शों को अपनाया ही नहीं गया है बल्कि व्यवहार में स्थान देकर उसे यर्थात स्वरूप प्रदान किया है। इन्हीं आदर्शों ने आगे चलकर सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रतिरूप धारण कर लिया है। यहां की रंग बिरंगी वेशभूषा, संगीत की मधुर स्वर लहरियां और जीवन के आनन्द से सराबोर पर्व, उत्सव और त्योहार, इन सब से मिलकर राजस्थान का मनोरम सांस्कृतिक परिदृश्य बनता है। राजस्थान अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं हेतु विश्व विख्यात है। यहाँ के लोक संगीत ने विश्व पटल पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। राजस्थान के लोक संगीत में यहाँ के लोक वाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके प्रयोग से गीतों व नृत्यों में माधुर्य वृद्धि होती है साथ ही वातावरण एवं भावाभिव्यक्ति भी प्रभावशाली बनती है। यहाँ के परिवेश, स्थिति व भावों के अनुरूप लोक वाद्यों का प्रचुर विकास हुआ है। इस लेख में राजस्थान की संस्कृति में अनुनादित प्रमुख लोक वाद्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

मुख्य बिन्दु – *संस्कृति, परम्परा, पर्व, उत्सव, वाद्य, संगीत।*

विषय प्रवेश - किसी प्रदेश का लोक संगीत वहाँ की संस्कृति का अविभाज्य अंग होता है। सामाजिक जीवन का प्रत्येक पक्ष इससे अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। लोक संस्कृति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है उस प्रदेश विशेष के लोक गीत, लोक नाट्य, लोक वादन तथा नृत्य भंडार। इन्ही अद्भुत कलाओं के साथ भारतीय संस्कृति के गौरवशाली इन्द्रधनुषी रंगों में सराबोर राजस्थान की लोक संस्कृति की विश्व-मोहिनी छटा ने विश्व में अपनी अभिन्न अनूठी विशिष्ट पहचान बनायी है।

संस्कृति और लोक संस्कृति एक ही धारा के दो फूल है, एक को माली ने संवारा है तो दूसरा प्रकृति की गोद में खिला है। महान लेखक और कवि श्रीकृष्ण दास के अनुसार ''लोक संस्कृति प्रकृति की गोद में पलती और पनपती है।'' संस्कृति के उद्गम और विकास के साथ ही संगीत का प्रारम्भ और विकास देखा जा सकता

वरिष्ठ सहायक आचार्य - सितार, प्राचार्य - कमला आर्य कन्या पी. जी. कालेज, मीरजापुर,
Email ID: ritujeets@gmail.com, Mo No: 7398267371

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.001

है। भारतीय संगीत के मूल में दृष्टिपात करने पर द्रष्ट्व्य होता है कि लोक संस्कृति भारतीय मूल संस्कृति का तात्विक अर्थ है।

लोक संस्कृति की ओर जब हम आगे बढ़ते है तो "लोक" शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। लोक मनुष्य की होती है, जो इस संसार को देखता है और उसका पूरी तरह उपयोग करता है। ऐसा दर्शन सदैव उसके जीवन के सूक्ष्म संस्कारों की छाया छोड़ना है। ये संस्कार ही मानव में धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और व्यवहारिक चिन्तन की परम्पराओं के मूलाधार होते है। विभिन्न विषय समाज शास्त्र, साहित्य, इतिहास, कला आदि के क्षेत्र में जो कुछ मानव समाज सोचता और व्यक्त करता आया है उसका आधार लोक के सामाजिक समस्याओं के अन्तगर्त आने वाले विविध विषय जिसमें त्यौहार, पर्व तथा परिवार की जो समीक्षा की जाती है केवल धर्म और आस्था से अनुबन्धित नहीं है वरन् उसकी परिधि में राजस्थान की सम्पूर्ण लोक जीवन की व्याख्या निहित है। कोई भी पर्व या उत्सव क्यों न हो, उसकी धार्मिक अनुष्ठान के साथ ऐसा पिरोया जाता है कि उसमें ऋतु के गुण और सामाजिक तत्व एक रस हो जाते है। ये विभिन्न संस्थायें राजस्थान की संस्कृति की अखण्डता, विशुद्धता तथा अविच्छिन्नता को स्थिर रखते हुए लोगों को आनन्दमय चेतना और स्फूर्तिभाव जीवन प्रदान करती है।

लोक संगीत का सामाजिक महत्व है, एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो मनुष्य के भावों को संस्कारित करती हुए विकृत भावों को सही दिशा देकर उसको मधुर बनाती है। लोक संगीत सम्पूर्ण समाज का संगीत है किसी व्यक्ति परिवार या क्षेत्र विशेष का नहीं। वह सबके मिलाप तथा अभिव्यक्ति के लिए एक सामान्य रंगमंच है। लोक संगीत के विभिन्न रंगमंच है मन्दिर, गाँव का चौराहा, बाजार, सार्वजनिक मेले, हाट बाजार, खेत खलिहान आदि वहाँ व्यक्ति अकेला नहीं होता व्यक्तिगत अभिव्यंजना लोक गीत में नहीं के बराबर है। अत: लोक संगीत जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय संगठन का शक्तिशाली मंच है जिसके द्वारा बिखरे हुए समाज तथा परिवार पुनः जुड़ जाते है और प्रेम सौहार्द तथा दया के अनेक स्त्रोत बहने लगते है।

राजस्थान अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं हेतु विश्व विख्यात है। यहाँ के लोक संगीत ने विश्व पटल पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। जब हम किसी स्थान विशेष के गीतों की विवेचना करते हैं तब हमें उन गीतों में वाद्यों की विशेष भूमिका भी दिखायी देती है। प्रत्येक स्थान के गीतों में वहाँ की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण प्रयुक्त वाद्यों में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। लोक वाद्य लोक संगीत के महत्वपूर्ण अंग होते हैं। इनके प्रयोग से गीतों व नृत्यों की माधुर्य वृद्धि के साथ ही वातावरण निर्माण एवं भावाभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने का कार्य भी होता है। राजस्थानी लोक गीतों का पर्यावलोकन करने पर दृष्टिगत होता है कि इसमें चतुर्विध वाद्यों का प्रयोग बहुत ही उत्कृष्टता के साथ किया गया है।

राजस्थानी वाद्यों पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि उसकी ऐतिहासिक प्रमाणिकता पर भी दृष्टि डाली जाये। इस सन्दर्भ में भारतीय संगीत के प्राचीनतम युग वैदिक कालीन चतुर्विध ग्रन्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद में अनेकानेक सांगीतिक वाद्यों का उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद' जिसमें प्रमुख है दुन्दुभि, बाण, वेणु, नाड़ी, कर्करी, गात्र, पिंग तथा आघाटि आदि। यजुर्वेद में इन वाद्यों के साथ-साथ वीणा, तूणव व शंख का भी उल्लेख मिलता है।

अथर्ववेद में दुन्दुभि के बारे में कहा गया है कि इसकी गर्जना वीरों के ह्रदय में आतंक का संचार करती है। भारतीय संगीत का आदि ग्रन्थ सामवेद में सामगान के अन्तर्गत विभिन्न तत्, वितत्, सुषिर एवं अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख मिलता है।

'वाद्य' शब्द को परिभाषित करते हुए डा० योगमाया शुक्ल कहती हैं- ''स्वर-ताल अभिव्यक्त करने वाले उपकरण भारतीय संगीत में वाद्य कहे जाते हैं।'' इनका कहना है कि उसमें 'णच्' और 'यत्' प्रत्यय के योग से 'वाद्य' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है 'बोला हुआ'। वाद्य कला पर प्रकाश डालते हुए डा० लालमणि मिश्र ने कहा है कि ''संगीत के मूल तत्वों की दृष्टि में वाद्य कला यर्थाथत: संगीत की पूर्णरूपेण प्रतिनिधी कला है। इस कला में स्वर तथा लय का एकछत्र राज्य है। इसमें न तो गायन की भांति काव्य अपेक्षित है और न ही नृत्य की भांति अंग संचालन। स्वर तथा लय का स्वछन्द एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग वाद्य संगीत में देखने को मिलता है।'' इस प्रकार वाद्य कला गान तथा नृत्य की अपेक्षा अधिक सुक्ष्म ओर अकृत्रिम आनन्द प्रदान करने वाली कला होती है।

वाद्य का प्रयोग वर्तमान समय में न केवल शास्त्रीय गायन एवं स्वतन्त्र वादन हेतु प्रयुक्त किया जाता है, वरन् लोकसंगीत के क्षेत्र में वाद्यों ने अपना साम्राज्य सर्वस्व स्थापित किया है। राजस्थानी सांगीतिक परम्परा जो कि विश्व में सर्वाधिक समृद्ध परम्परा जानी जाती है, इसमें वाद्यों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

राजस्थान के लोक गीतों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि राजस्थान में प्रयुक्त लोक वाद्यों की परम्परा एक समृद्ध परम्परा रही है जो कि अन्य राज्यों में प्रयुक्त वाद्यों से कुछ भिन्नता रखती है। राजस्थानी लोकगीतों में प्रयुक्त वाद्यों के अन्तर्गत कुछ तो ऐसे वाद्य हैं जो कि शास्त्रीय संगीत में भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु कुछ वाद्य ऐसे हैं जो कि पूर्ण रूप् से लोक वाद्य के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक वाद्य का यहाँ के लोक गीत में अपना विशिष्ट स्थान है। राजस्थानी लोक गीत तत्, अवनद्ध, घन एवं सुषिर चारों प्रकार के वाद्यों के गुन्जायमान को समाहित करके गीतों का सौन्दर्य द्विगुणित करते हुए प्रतीत होते हैं। राजस्थानी लोकगीतों में प्रयुक्त चतुर्विध वाद्य इस प्रकार है।

सारंगी - सारंगी एक ऐसा वाद्य है जिसकी यात्रा लोक संगीत से प्रारम्भ होकर शास्त्रीय संगीत तक पहुँचती है। शास्त्रीय संगीत को उपयुक्त बनाने के लिए लोक संगीत की सारंगी में अनेक परिवर्तन किए गए, जैसे - लम्बाई में वृद्धि एवं तरब के तारों का प्रयोग इत्यादि। राजस्थान प्रान्त में लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले सारंगी के अनेक प्रकार प्रचलित हैं, जिसके कुछ उदाहरण निम्नवत है -

सिन्धी सारंगी - यह सारंगी राजस्थान के पश्चिमी क्षेत्र जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर क्षेत्र के लंगा लोक कलाकारों में प्रचलित बहुत लोक-प्रिय वाद्य है। लोक वाद्यों में प्रचलित अन्य सभी सारंगियों की तुलना में यह सबसे विकसित सारंगी मानी जाती है इस वाद्य की बनावट शास्त्रीय संगीत की सारंगी के अधिक नजदीक समझा जाता है।

गुजरातन सारंगी - यह वाद्य भी राजस्थान की लंगा जाति के कलाकारों में अत्यधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय है। इसका ढ़ाचा रोहिन्दा, सागवान या केर की लकड़ी से बनाया जाता है। इसकी तबली लम्बी एवं चतुष्कोणी होती है, जिसके बीच का भाग कुछ संकरा होता है। इसकी लम्बाई लगभग दो फुट की होती है। इसमें बाज के मुख्य तार चार होते हैं। इसमें से दो तांत के तथा दो लोहे के होते है। इसमें 7 लोहे के तरब के तार

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.001

होते हैं, जिन्हें 'झील' कहते हैं। कहीं कहीं तारों की संख्या में अन्तर भी पाया जाता है।

धानी सारंगी - राजस्थान के अलवर-भरतपुर क्षेत्र में लोक-गाथाओं की संगत में बजाया जाने वाला यह वाद्य 'धानी सारंगी' निहालदे जोगियों का वाद्य है, जो इस प्रदेश के लोक वाद्यों में प्रचलित सारंगियों के विभिन्न रूप भेदों में से एक है। इसमें दो लोहे के और दो तांत के मुख्य तार होते हैं। इन्हें षड्ज तथा पंचम भाव से मिलाया जाता है। 'झील' (तरब) के तार छः अथवा आठ होते हैं। इसमें घुड़च तथा मेरू लगाते हैं। इसकी तबली कुछ लम्बी एवं सपाट होती है। इसे गज से बजाते हैं तथा इसका गज अपेक्षाकृत छोटा होता है।

डेढ़ पसली सारंगी - राजस्थान के भीनमाल-सिवाना आदि गोड़वाड़ क्षेत्र के 'हिन्दू-ढोलियों' का यह वाद्य गुजरातन सारंगी के समान छोटी सारंगी है। इसका ढ़ांचा भी अन्य सारंगियों की भांति लकड़ी से बनाया जाता है। इसकी तबली का एक भाग सपाट तथा अन्य भाग अर्ध गोलाकार वक्री होता है। असामान्य बनावट के कारण ही इसका नाम 'डेढ़ पसली' सारंगी' पड़ा है। इसमें भी मुख्य तार चार होते है, जिसमें से दो तार लोहे के तथा दो तांत के होते हैं। इसमें तरब के तार 7-17 तक होते हैं।

सुरिंदा - 'सुरिंदा' लोक वाद्य का प्रयोग मारवाड़ के लोक कलाकार विशेषकर लंगा जाति के लोगों द्वारा सुषिर वाद्यों, प्रमुख रूप से मुरली या सतारा की संगत के लिए किया जाता है। स्वतन्त्र गायन में इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। इस वाद्य का ढांचा रोहिड़ा की लकड़ी से बनाया जाता है। इसकी तबली टेढ़ी-मेढ़ी विचित्र रूप से बनी होती है, जिसका ऊपरी भाग मेहराब की शक्ल में उड़ते पक्षी की तरह प्रतीत होता है। बीच का भाग बिल्कुल संकरा होता है। निचला भाग गोलाई लिये कुछ लम्बा होता है। यह भाग चमड़े की झिल्ली से मढ़ा रहता है। इसके मुख्य तारों में दो तार स्टील के तथा एक तार तांत का होता है। इन्हें से मिलाया जाता है। इसमें पांच तरब के तार होते हैं तथा इसे गज से बजाया जाता है।

जन्तर - मेवाड़ के सवाई भोग, नेवड़िया व बदनौर क्षेत्र में बजाये जाने वाले इस वाद्य का प्रयोग बगड़ावत के कथा वाचकों द्वारा किया जाता है, जो गूजर जाति के भोपा होते हैं। इस वाद्य को गले में पहनकर खड़े होकर बजाते हैं।

चिकारा - यह वाद्य सारंगी के आकार का होता है। इसे दो जातियों के लोग सा प भाव बजाते हैं। एक मेओं का चिकारा, जिसे अलवर के मेओं जाति के लोग बजाते हैं। तथा दूसरा गरासियों का चिकारा। गरासियों का चिकारा गरासियों के भोपा जाति द्वारा बजाया जाता है।

चंग - इस वाद्य को अधिकतर राजस्थान के जोगी लोग बजाते हैं। होली के धमार गीतों के साथ चंग बजाने का प्रचलन है। सवाई माधोपुर के मीणा एवं गढ़मंगा जाति द्वारा इस वाद्य को बजाया जाता है।

घुरालियौ - घुरालियौ पांच छः अंगुल लम्बी बांस की खपच्ची से बना हुआ वाद्य है। इसे एक ओर से छीलकर मुख पर धागा बांध दिया जाता है। इसे दांतों को बीच दबाकर धागे को ढील व तनाव देकर बजाया जाता है। यह कालबेलिया व गरासिया जनजाति का प्रमुख वाद्य है।

खंजरी - इस वाद्य का प्रयोग कालबेलियों तथा जोगियों की मण्डिलयाँ करती हैं। इसके अतिरिक्त मारवाड़ी, ब्रज के मन्दिर और गुजरात के गरबा नृत्य में इसका वादन होता है।

बांसुरी - बांसुरी एक अत्यन्त प्राचीन वाद्य है। बांस या धातु की खोखली नलिका से निर्मित होने के कारण इस वाद्य का नाम बांसुरी पड़ा।

इस पोली नाली में स्वरों के लिए छ: छेद बने होते है। फूंक देने हेतु एक छेद मुँह की ओर होता है। लोकवाद्य व शास्त्रीय वाद्य बांसुरी वादन पद्धति में पर्याप्त अंतर होता है। राजस्थान के चरवाहों का यह खानदानी वाद्य यंत्र है।

अलगोजा - इस वाद्य यंत्र के राजस्थान में अनेक रूप प्रचलित है। यह राजस्थान का राज्य वाद्य है। इसमें बांसुरी के सामान नली होती है, जिसमे 4 छिद्र होते है। वादक एक साथ दो अलगोजे मुंह में रखकर ध्वनि उत्पन्न करता है। यह मीणा, आदिवासियों, भीलों का प्रिय वाद्य है। वीर तेजाजी की जीवन गाथा, डिग्गीपुरी का राजा, ढोला मारू नृत्य, भवाई नृत्य में इसका प्रयोग होता है।

कमट - इस वाद्य का वादन अलवर क्षेत्र में किया जाता है। नगाड़े की भाँति इस वाद्य को लोहे से बनाया जाता है। जिस पर भैंस की खाल मढ़ी जाती है। इस वाद्य को होली के अवसर पर पूरे महीने ''हो हो ढोला मारू मगन भई है'' जैसे लोक गीतों के साथ हर्षोल्लास से बजाया जाता हैं।

पुंगी - छोटी लौकी के तुम्बे से निर्मित इस वाद्य यंत्र के एक सिरे पर छेद कर दो लम्बी बांस की नलीयां लगाई जाती है जिनमे छेद होते है। कालबेलिया जाति के लोग सर्प पकड़ने के लिए तथा नृत्यों के दौरान इस वाद्य यंत्र को प्रयुक्त करते है।

मशक - इस वाद्य को चमड़े की सिलाई करके बनाया जाता है। इसकी ध्वनि पुंगी के सामान ही सुनाई देती है। इसे मुँह में रख कर एक ओर से हवा भरी जाती है दूसरी ओर स्थित दो नालियों के छेदों से स्वर निकालते है। भेरुजी के भोपों के द्वारा इसे बजाया जाता है।

मोरचंग - यह लोहे का बना छोटा सा वाद्य यंत्र है। इसे होठों के बीच रख कर बजाया जाता है। लंगा गायक सतारा या सारंगी की संगत में इसे बजाते है।

इकतारा - राजस्थानी लोक वाद्यों में तार वाद्यों के अन्तर्गत 'इकतारा' का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। एक छोटे से गोल तुम्बे में बाँस की डन्डी फंसाकर यह वाद्य बनाया जाता है। तुम्बे का थोड़ा सा हिस्सा काटकर उसे बकरे के चमड़े से मढ़ दिया जाता है। बांस पर दो खूंटिया लगी होती हैं और ऊपर-नीचे दो तार बंधे रहते हैं। नीचे का तार पंचम में और ऊपर का तार षड्ज स्वर में होता है। तार पर अंगुली से ऊपर से नीचे की ओर आघात करते हुए इसका वादन किया जाता है। इसको कालबेलिया, नाथ, साधु, सन्यासी आदि बजाते हैं।

रावणहत्था - 'रावणहत्था' राजस्थान का अत्यन्त प्राचीन लोक वाद्य है। बहुप्रचलित इस वाद्य को बड़े नारियल की कटोरी पर खाल मढ़कर बनाया जाता है। इसकी डांड बांस की बनी होती हैं। जिसमें खूटियाँ लगा दी जाती है और नौ तार बाँध दिए जाते हैं। ये तार स्टील के न होकर बालों के बने होते हैं तथा इन पर गज चलाकर ध्वनि उत्पन्न की जाती है। रावणहत्थे का गज घोड़े के पूंछ के बालों से निर्मित होता है। इसके गज के बाल एकदम ढीले रहते हैं, जिन्हें दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाकर कड़ा बनाया जाता है। इस वाद्य को मुख्य रूप से राजस्थान में भोपे व भील जाति के लोग बजाते हैं। इसके साथ पाबूजी, डंगूजी जवार जी, भर्थरी आदि की कथाएं गायी जाती हैं।

कमायचा - यह वाद्य राजस्थान की मंगा जाति द्वारा प्रयोग किया जाता है। ये लंगो व मांगणियों का खानदानी वाद्य माना जाता है। इसकी तबली पर चमड़े का चढ़ाव रहता है। इसकी कमान लम्बी तथा वादन सारंगी की भांति होती है।

डेरू - इस वाद्य का प्रयोग सपेरे एवं कुछ अन्य घुमक्कड़ समुदायों द्वारा किया जाता है। यह डमरू के आकार का वाद्य है, जिसके दोनों ओर चमड़ा मढ़ा होता है।

भपंग - इस वाद्य का पूर्वी राजस्थान में अधिक प्रचार है। इसके अतिरिक्त गंगानगर क्षेत्र के कालबेलिये और गोगाजी के भोपे लोग इसका अधिकतर वादन करते हैं। यह वाद्य तुम्बी के द्वारा बना होता है। तुम्बी की निचली सतह को काटकर इसे चमड़े से मढ़ देते हैं तथा उसके मध्य में एक छेद करके तांत डाल दी जाती है। इस तांत की पकड़ को कभी ढीला एवं कभी खींचकर तांत पर आघात करके विभिन्न प्रकार की लयात्मक ध्वनि उत्पन्न की जाती है।

अपंग - भील ओर गरासिया समुदाय में प्रचलिक लोक वाद्य 'अपंग' लोहे के छोटे गोल डिब्बे अथवा कद्दु की तुंबी से बनाया जाता है। इसका तुम्बा लगभग 5-6 इंच व्यास के पाईप की तरह दोनों ओर से खुला होता हैं। इसमें केवल एक तार धातु निर्मित होता है। उक्त समुदाय में इसका वादन सांगितिक लय के लिये व्यक्तिगत रूप से या जातिगत गीतों के आयोजन में सामूहिक रूप से किया जाता है।

मादल - मादल वाद्य भीलों के विभिन्न नृत्यों व गबरी नृत्य नाट्य का महत्वपूर्ण वाद्य है। इस वाद्य को भील तथा गरासियों का प्रमुख वाद्य माना जाता है।

नौबत - यह मन्दिरों में प्रयुक्त होने वाला ताल वाद्य है। इसकी कुंडी धातु से निर्मित व लगभग 4-5 फीट ऊंची होती है। जिसे भैंस की खाल से मढ़ते हैं तथा खाल के भीतर राल, हल्दी और तेल पकाकर लगाया जाता है जिससे कि उसकी ध्वनि की गम्भीरता बढ़ जाती है। इस वाद्य को युद्ध का प्रतीक माना जाता है।

निष्कर्ष - उपरोक्त वर्णित वाद्यों के अतिरिक्त राजस्थान के सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत अनुनादानित लोकसंगीत में प्रयुक्त होने वाले और भी अनेक वाद्य है, (जैसे- नगाड़ा, टिमकी, ठिसकी, ढप या घेरा, गुबगुनिया, रमतुल्ला, झीलर इत्यादि) जिनका गायन एवं नृत्य के साथ-साथ अनेक मागंलिक सुअवसरों पर वादन होता है। अत: नि:सन्देह कहा जा सकता है कि राजस्थान की सांस्कृतिक विरासत में चतुर्विध वाद्यों का प्रयोग बहुत ही उत्कृष्टता के साथ किया गया है तथा प्रयुक्त वाद्यों की एक समृद्ध परम्परा विद्यमान रही है।

सन्दर्भ सूची:

1. समर, देवीलाल, राजस्थान का लोक संगीत, भारतीय लोक कला मंडल, जयपुर, 2018
2. चूड़ावत, लक्ष्मी कुमारी, राजस्थान के सांस्कृतिक लोकगीत, शीतल प्रकाशन, जयपुर, 1985
3. डॉ. अनीता, राजस्थान के लोकगीत और उनमें प्रयुक्त लोक वाद्य, शालभ पब्लिशिंग हाउस, आगरा, 2012
4. उपाध्याय, डॉ० कृष्णदेव, भोजपुरी लोक-संगीत, भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1985
5. द्विवेदी, डॉ० रमाकान्त, संगीत स्वरित, साहित्य रत्नालय, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2004
hindi.rajras.in/rajsthan/sans

शुद्धाद्वैत सिद्धान्तवादी आचार्य बल्लभाचार्य जी का जीवन वृत्तांत

कुसुम सिंह*, प्रो. संगीता सिंह**

सारांश

दार्शनिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त अर्थात् क्षुब्ध है जिस प्रकार स्वर्ण अनेक रूपों में परिवर्तित होने पर भी शुद्ध स्वर्ण रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म क्षुद्ध ही है। ब्रह्म अपनी सन्धिनी शक्ति द्वारा सत् का संवित् शक्ति द्वारा चित् का और हलादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आर्विभाव करता है। जीव सत्य और नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जीव अणु है। वह तीन प्रकार का है- शुद्ध जीव, संसारी जीव और मुक्त जीव।

जड़ जगत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट; वरन् इसका आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है। भगवत् प्राप्ति का साधन भक्ति है। भगवान् के पोषण (अनुग्रह) को ही भक्ति का सम्बल मानना चाहिए, इसीलिए इनके मत को 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है।

***कूट शब्द :** शुद्धाद्वैत, अष्टछाप, वेदांत, दर्शन, बल्लभ, वेदशास्त्र, ब्रह्म, उपासना*

भूमिका -

विक्रम की 13वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की अच्छेन्नवादी पर श्री बल्लभाचार्य जी बैठे और उन्होंने श्री विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों से प्रेरणा लेकर शुद्धाद्वैत सिद्धान्त तथा भागवद् अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्त प्रेम-भक्ति के मार्ग की स्थापना की जिन्हें बल्लभ, महाप्रभु, महाप्रभुजी और विष्णुस्वामी या बल्लभ आचार्य के नाम से भी जाना जाता है। एक हिन्दू भारतीय संत और दार्शनिक हैं जिन्होंने ब्रज में वैष्णववाद के कृष्ण-केन्द्रित पुष्टिमार्ग तथा शुद्धाद्वैत (शुद्ध अद्वैतवाद) का वेदांत दर्शन सम्प्रदाय की स्थापना की। भगवान कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। आप वैश्वानर अग्नि स्वरूप हैं। आप वेदशास्त्र में पारंगत थे। वर्तमान में इसे बल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।

श्री बल्लभाचार्य ने अनेक भाष्यों, ग्रन्थों, नामावलियों एवं स्त्रोतों की रचना की ही है। श्री बल्लभाचार्याजी के 84 शिष्यों के अलावा अनगिनत भक्त, सेवक और अनुयायी थे। उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी (गुसाई जी) के बाद में उनके चार प्रमुख शिष्यों- भक्त सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास और कुम्भनदास तथा अपने स्वयं के चार शिष्यों- नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी तथा चतुर्भुजदास जो सभी श्रेष्ठ कवि तथा कीर्तनकार भी थे, का एक समूह

*शोध छात्रा, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

**विभागाध्यक्ष, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

स्थापित किया जो 'अष्टछाप' कवि के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्यों की इस परम्परा द्वारा वैष्णव भक्ति का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उन्नयन हुआ और वैष्णव भक्ति के माध्यम से राम और कृष्ण की उपासना का सर्वत्र प्रचार हो गया।

पुष्टि संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु बल्लभाचार्य

वंश परिचय एवं जन्म-

महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के पूर्व पुरुष दक्षिण में गोदावरी के तट'वर्ती 'कॉकरवाड़' नामक ग्राम के निवासी थे। वे भारद्वाज गोत्र के तैलङ्ग त्राह्मण थे । उनका परिवार 'वेलनाट' अथवा 'वेलनाडु' कहलाता था। इसी वंश के श्री लक्ष्मण भट्ट (बल्लभाचार्य जी के पिता थे। लक्ष्मण भट्ट विद्वान और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे ।

लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी इल्लम्मागारू के साथ तीर्थ यात्रा करते हुए दक्षिण देश से उत्तर की ओर आ गये और प्रयाग, काशी, गया आदि तीथों की यात्रा कर काशी में रहने लगे। वहाँ रहने के कुछ दिन पश्चात् नगर में यह चर्चा फैली कि दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी का आक्रमण काशी पर होने वाला है। इस आपत्ति से बचने के लिए सब लोग अपनी सुरक्षा का प्रबंध करने लगे । लक्ष्मण भट्ट और उनके साथ के दक्षिण निवासी इस आपत्ति से बचने के लिए दक्षिण की ओर चल दिए। उस समय लक्ष्मण भट्ट की पत्नी इल्लम्मागारु गर्भवती थी ।

लक्ष्मण भट्ट उन दिनों की अशांतिपूर्ण । परिस्थिति की आपत्तियों का सामना करते हुए जब वर्तमान मध्यप्रदेशांर्तगत रायपुर जिले के चंपारण्य नामक वन में होकर जा रहे थे, तो उनकी पत्नी को प्रसवपीड़ा होने लगी। सायंकाल का समय था। सब लोग पास के चौड़ा नगर में रात्रि को विश्राम करना चाहते थे, किंतु इल्लम्मागारू वहाँ तक पहुँचने में भी असमर्थ थी । निदान लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित उस निर्जन वन में रह गने और उनके साथी आगे बढ़ कर चौड़ा नगर में पहुँच गये ।

उसी रात्रि को इल्लम्मागारू ने उस निर्जन वन के एक विशाल शर्मा वृक्ष के नीचे आठ मास के बालक को जन्म दिया। बालक पैदा होते ही कुछ संज्ञाहीन सा ज्ञात हुआ, इसलिए इल्लम्मागारू ने अपने पति को सूचित किया कि मृत बालक उत्पन्न हुआ है। रात्रि के अधिकार में लक्ष्मण भट्ट भी शिशु की विशेष परीक्षा न कर सके। उन्होंने देवेच्छा पर संतोष मान कर बालक को सूखे पत्तों से ढक कर वहीं पर छोड़ दिया और आप अपनी पत्नी को चौड़ा गाँव में ले जाकर रात्रि में विश्राम करने लगे । प्रात: काल होने पर उन्होंने यह समाचार सुना कि काशी पर यवनों की चढ़ाई का संकट दूर हो गया है। इस समाचार के कारण उनके कुछ साथी वापिस काशी जाने का विचार करने लगे और शेष दक्षिण की ओर जाने लगे। लक्ष्मण भट्ट काशी जाने वाले दल के साथ हो लिए। जब वे गत रात्रि के स्थान पर पहुँचे तो अपने पुत्र को जीवित देख कर उनको बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ। उनकी पत्नी इल्लम्मागारू ने तत्काल शिशु को गोद में उठा लिया। बालक का नाम'बल्लभ' रखा गया। यही बालक बड़ा होने पर सुप्रसिद्ध बल्लभाचार्य हुआ। महाप्रभु बल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ शाके १४०० की वैशाख कृ० ११ रविवार को हुआ था।

विद्याध्ययन और प्रचार-

लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी और नवजात शिशु बल्लभ सहित काशी में आकर रहने लगे।

वहीं पर वे अध्ययन-अध्यापन तथा ब्राह्मणोचित अन्य कृत्यों को करते हुए अपना जीविकोपार्जन करने लगे ।

बल्लभ बड़े कुशाग्र बुद्धि के बालक थे। उन्होंने विद्या प्रप्ति में बड़ी योग्यता प्रदर्शित की। कहते हैं कि ११ वर्ष की आयु में ही उन्होंने वेद, वेदांद, दर्शन और पुराणों में अद्‌भुत निपुणता प्राप्त करली थी। अपनी प्रतिभा और विद्वता के कारण वे इस छोटी आयु में ही काशी में प्रसिद्ध हो गये और वहाँ पर होने वाले शास्त्रार्थों में योग्यता पूर्वक भाग लेने के कारण पंडित समाज पर उनका यथेष्ट प्रभाव था।

पुष्टि संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु बल्लभाचार्य

सं० १५४६ में उनके पिता लक्ष्मण भट्ट का देहांत हो गया। तब उन्होंने अपनी माता को अपने मामा के घर दक्षिण विद्यानगर में पहुंचा दिया और आप समस्त भारत की यात्रा के लिए चल दिये।

बल्लभाचार्य का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। इसी शुद्धादत सिद्धांत और भक्ति मार्ग के प्रचारार्थ उन्होंने समस्त भारत की कई बार यात्राएं की और विपक्षियों को पराजित कर अपने मत का प्रचार किया।

दक्षिण विजय और आचार्य पद ग्रहण-

जिन दिनों वे दक्षिण की यात्रा कर रहे थे, उन्हीं दिनों विजयनगर में एक बड़ा शास्त्रार्थ हो रहा था। विजयनगर दक्षिण का सुप्रसिद्ध हिंदू राज्य था। उस समय वहाँ के राजा कृष्णदेव राय थे। इन्हीं कृष्णदेव राव ने अपनी राजधानी विजयनगर अथवा विद्यानगर में एक विशाल पंडित सभा का आयोजन किया था, जिसमें विविध संप्रदाय के विद्वान अपने सिद्धांतों की श्रेष्ठता प्रमाणित कर रहे थे। शास्त्रार्थ में एक और माध्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और रामानुज संप्रदाय के वैष्णव विद्वान थे और दूसरी ओर शंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी और शैवशाक्त आदि वैष्णव विद्वान थे। वैष्णवों के प्रमुख वक्ता मान्य संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ थे और अवैष्णवोंके प्रमुख वक्ता शंकर मतानुपायो विद्यातीर्थ थे। दोनों पक्षों में प्रबल वाद-विवाद हुआ। अंत में वैष्णव पक्ष गिरने लगा। बल्लभाचार्य भी इस शास्त्रार्थ के समाचार सुनकर वहाँ गये थे। उन्होंने वैष्णव पक्ष के समर्थन में ऐसा प्रकांड पांडित्य प्रदर्शित किया कि गिरता हुआ वैष्णव पक्ष प्रबल हो गया और अर्द्ध तवादियों तथा अवैष्णवों को पराजय उठानी पड़ी। वैष्णवों की इस विजय का कारण बल्लभाचार्य को जान कर वहाँ के वैष्णव आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और राजा कृष्णदेव राय ने भी उनकी बड़ी आबभगत की।

माध्व संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थं उनको अपने संप्रदाय का आचार्य बनाना चाहते थे और विष्णुस्वामी संप्रदाय के आचार्य सिंगल उनको विष्णुस्वामी की गद्‌दी पर बैठाना चाहते थे। विष्णुस्वामी ने जिस शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रचार किया था, वह बल्लभाचार्य के समय में नाम मात्र के लिए विद्यमान था। विष्णुस्वामी की गद्‌दी पर विल्वमंगल नामक एक आचार्य थे, जो किसी योग्य विद्वान को अपना उत्तराधिकारी बनाकर आप समाधिस्थ होना चाहते थे । बल्लभाचार्य का वेदांत सिद्धांत शुद्धाद्वैत के अनुकूल था, अत: उन्होंने आचार्य विल्वमंगल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ में विजयी होने के कारण विजयनगर नरेश द्वारा बल्लभाचार्य का कनकाभिषेक हुआ और उसी समय उनको विष्णुस्वामी संप्रदाय का श्राचार्य घोषित किया गया । इस घटना का ठीक-ठीक संवत पुष्टि संप्रदाय के प्रबंधों में नहीं मिलता है, है कि वह

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.002

सं० १५६६ के लगभग हुई होगी, राय का समय सं० १५६६ से १५८६ तक है की अवस्था ३१ वर्ष के लगभग थी। वे तब । किंतु ऐसा ज्ञात होता क्यों कि राजा कृष्णदेव उस समय बल्लभाचार्य तक समस्त भारत की तीन बार यात्रा कर चुके थे। पुष्टि संप्रदाय के कुछ ग्रंथों में उनकी प्रथम यात्रा के अवसर पर ही कनकाभिषेक का होना लिखा गया है, किंतु यह ठीक नहीं मालूम होता ।

तीनों यात्राएँ—

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, बल्लभाचार्य जी ने तीन बार समस्त देश की यात्रा की थी। उनके आरंभिक जीवन की सफलता के लिए इन यात्राओं का विशेष महत्व है। तीनों यात्राओं का समय 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार इस प्रकार है-

पहली यात्रा - सं० १५४८ की वैशाख कृ० २ को आरंभ हुई। उस समय बल्लभाचार्य जी की आयु केवल १३ वर्ष की थी । यह यात्रा ७ वर्ष में, सं० १५५४ की वैशाख शु० ३ को समाप्त हुई इसी यात्रा में व मथुरा-गोवधन आये और उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की व्यवस्था की।

दूसरी यात्रा - सं० १५५५ की ज्येष्ठ शु० २ रविवार को आरंभ हुई और ६ वर्ष में, सं १५६१ में पूर्ण हुई। इसी यात्रा में उन्होंने काशी में अपना विवाह किया।

तीसरी यात्रा - सं० १५६१ की अक्षय तृतीया को आरंभ हुई और ६ वर्ष में, सं० १५६८ के लगभग पूर्ण हुई। इसी यात्रा में दक्षिणदिग्विजय के अनंतर उनका कनकाभिषेक हुआ था ।

पुष्टि संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु बल्लभाचार्य

यात्राओं की समाप्ति के समय उनकी आयु ३०-३१ वर्ष के लगभग थी। इन यात्राओं में उन्होंने समस्त देश का पर्यटन कर भक्ति मार्ग और शुद्धाद्वैत सिद्धांत का व्यापक प्रचार किया था। यात्राओं में जिन स्थानों पर उन्होंने श्री मद्भागवत का पारायण किया अथवा उन स्थानों का कुछ विशेष माहात्म्य बतलाया, वहाँ बैठकें बनवा दी गई हैं। ये स्थान ८४ हैं, जहाँ पर बनी हुई "महाप्रभु जी की बैठकें" पुष्टि संप्रदाय में पवित्र एवं दर्शनीय समझी जाती है। ये बैठकें समस्त देश भर में फैली हुई हैं, जिनमें २२ केवल ब्रज में हैं, जो चौरासी कोस की यात्रा में पड़ती हैं। सबसे प्रथम बैठक गोकुल के गोविंदघाट की है, जो सं० १५५० में बल्लभाचार्य जी के वहाँ पधारने की स्मृति में स्थापित की गई थी।

श्रीनाथजी का मंदिर-

जैसा पहले लिखा जा चुका है, बल्लभाचार्य जी ने अपनी प्रथम यात्रा का आरंभ सं० १५४८ में किया था। उस समय वे मथुरा भी आये थे। यहाँ पर विश्रामघाट पर उन्होंने निवास किया और भागवत का पारायण किया। इसके पश्चात् उन्होंने ब्रज की परिक्रमा की। गोवर्धन के आन्यौर ग्राम में कुछ समय पूर्व श्रीनाथ जी की मूर्ति का प्राकट्य हुआ था। वहाँ के ब्रजवासी इस मूर्ति के प्रति मतिभाव रखते थे और गौड़ीय संप्रदाय के विरक्त वैष्णव माधवानंद इसकी सेवा-पूजा करते थे।

सं०१४४६ में बल्लभाचार्य जी गिरिराज गये और वहाँ पर श्रीनाथजी का दर्शन कर उनकी यथोचित सेवा-पूजा की व्यवस्था का विचार करने लगे। कुछ दिनों पश्चात् उन्होंने गिरिराज पहाड़ी पर एक छोटा मंदिर बनवा दिया और उसमें श्रीनाथजी को विराजमान दिया। इसके पश्चात् वे अपनी यात्रा को चले गये। यात्रा की समाप्ति पर वे कमी-कभी गिरिराज आकर श्रीनाथजी की सेवा-पूजा की देखमाल करते थे।

सं० १५५६ की वैशाख शु० ३ को बल्लभाचार्य जी की प्रेरणा से सूरनमल खत्री ने श्रीनाथजी का विशाल मंदिर बनवाना आरंभ किया। द्रव्याभाव से निर्माण कार्य बीच में रुक गया, और द्रव्य की व्यवस्था होने पर पुन: कार्यारंभ हुआ। इस प्रकार यह मंदिर बीस वर्ष में, सं० १५०६ की वैशाख शु० ३ को पूरी तरह बन कर तैयार हुआ। तब बल्लभाचार्य जी ने गिरिराज आकर श्रीनाथजी की सेवापूजा और मंदिर की सुव्यवस्था के लिए कंभनदास को कीर्तनिया और कृष्णदास को अधिकारी नियत किया, किंतु श्रीनाथजी की सेवा बंगाली वैष्णव ही करते रहे। यह प्रबंध कर बल्लभाचार्य जी काशी के पास चरखाट स्थान को चले गये। उन दिनों चरणाद ही उनका स्थायी निवास स्थान था ।

गृहस्थाश्रम -

बल्लभाचार्यजी का विवाह सं० १५६०-६१ में उनकी दूसरी यात्रा के अवसर पर काशी में हुआ था। उस समय तक वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे और जीवन भर ब्रह्मचारी ही रहना चाहते थे, किंतु अपने पीछे अपने मत के प्रचारार्थ एक उत्तराधिकारी की आवश्यकता समझ कर उनको विवाह करना पड़ा। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी, श्वसुर का मधुमंगल अथवा देवत्रत तथा सास का अत्रिस्मा था। विवाह के समय बल्लभाचार्यजी की आयु २५ वर्ष की और उनकी पत्नी की अनुमानत: ८ वर्ष की थी। ५ वर्ष के पश्चात सं० १५६६ में उनकी पत्नी का द्विरागमन हुआ। उस समय वे अपनी तीनों यात्राओं की पूर्ति, दक्षिण विजय और श्राचार्यत्व ग्रहण कर चुके थे अब वे गृहस्थाश्रम के निर्वाहार्थ प्रयाग के दूसरी ओर, यमुना के दक्षिण तट पर स्थित अल नामक ग्राम को अपना स्थायी निवास बना कर रहने लगे। उनका दूसरा स्थायी निवास काशी के निकट चरणाट नामक ग्राम भी था।

बल्लभाचार्यजी के दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र गोपीनाथजी का जन्म सं० १५६८ की आश्विन कृ० १२ को अल ग्राम में हुआ था छोटे पुत्र विट्ठलनाथ जी का जन्म सं० १५७२ की पौष कृ० ६ को काशी के पास चरणाद ग्राम में हुआ था। दोनों पुत्र अपने पिता के समान विद्वान और धर्मनिष्ट थे ।

धर्मप्रचार और शिष्य -

बल्लभाचार्य ने अपनी तीनों यात्राओं में तो धार्मिक प्रचार का कार्य किया ही था, इनके पश्चात् भी वे जीवन भर यही कार्य करते। रहे। वे वैष्णव-धर्म की एक विशिष्ट शाखा के प्रवर्त्तक यह शाखा 'पुष्टि संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। उनका दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। यह दार्शनिक मत बल्लभाचार्य जी के पूर्व से ही प्रचलित था, किंतु उन्होंने उसको नवजीवन देकर उसका रूप से प्रचार किया ।

उनकी विद्वत्ता और तर्कशैली जहाँ विपक्षियों को पराजित करती थी, वहाँ उनके नवीन सांप्रदायिक सिद्धांतों का आकर्षण भावुक जनता को अपनी ओर खींचता था । इन्हीं कारणों से बल्लभाचार्यजी के अनेक शिष्य हुए, जिनमें ८४ प्रमुख थे। इन चौरासी शिष्यों का जीवन-वृत्तांत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। बल्लभाचार्यजी के चौरासी शिष्यों में भी कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास का विशेष महत्व है। इन चारों को बाद में गोसाईं विट्ठलनाथजी द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया गया । पुष्टि संप्रदाय की शिष्य-मंडली में श्रीबल्लभाचार्य "आचार्यजी महाप्रभु" और उनके पुत्र विट्ठलनाथजी "गोसाईजी" के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.002

ग्रंथ रचना-

महाप्रभु बल्लभाचार्य ने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनके ग्रंथों की संख्या कोई ३५ और कोई ८४ बतलाते हैं, किंतु उनके निम्न लिखित ग्रंथ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं :-

१. श्रीमद्‌भागवत की सुबोधिनी टीका, २. ब्रह्मसूत्र का अरणुभाध्य ३. पूर्व मीमांसा भाध्य, ४. पोड़श ग्रंथ, ५. पत्रालम्बन, ६. श्रुति गीता, ७. गायत्री भाग्य, ८ सेवा विवरण, ६. भगवत्पीठिका, १०. निबंवत्रय, ११. शिक्षा श्लोक, १२. स्फुट स्तोत्र - अष्टक - संग्रह आदि ।

इन ग्रंथों में भी 'सुबोधिनी' और 'अणु भाष्य विशेष' उल्लेखनीय है। ये दोनों ग्रंथ बल्लभाचार्यजी के सांप्रदायिक और वेदांत विषयक सिद्धांतों की कंजियों हैं। उनके समस्त ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गये । कुछ लेखकों ने उनके एक 'विष्णुपद' ग्रंथ का भी नामोल्लेख किया। यह ग्रंथ ब्रजभाषा का बतलाया जाता है, जिसमें विष्णु विषयक पद दिये गये हैं। हमको इस ग्रंथ के श्री बल्लभाचार्यजी रचित होने में संदेह है।

संन्यास और देहावसान -

अपने लौकिक कार्य की पूर्ति समझ कर श्री बल्लभाचार्य जी ने सं० १५८७ की ज्येष्ठ कृ० १० को अड़ैल से प्रयाग आकर स्वामी नारायणेन्द्र तीर्थ से विधि पूर्वक संन्यास ग्रहण किया। उन्होंने संन्यासी होकर अपना अंतिम जीवन काशी में पर वे योग-समाधि आदि में लीन रहने लगे। व्यतीत किया । वहाँ अंत में सं० १५८७ की आषाढ़ शु० ३ को उन्होंने गंगा की बीच धारा में जल समाधि प्राप्त की । देहावसान के समय उनकी आयु ५२ वर्ष की थी।

निष्कर्ष –

1. अत: शुद्धाद्वैत सिद्धान्तवादी आचार्य बल्लभाचार्य जी का पुष्टिमार्ग वैष्णव सम्प्रदाय में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. मीतल, प्रभुदयाल, 2004, अष्टछाप परिचय, मथुरा : अग्रवाल प्रेस
2. गुप्त, डॉ० दीनदयाल, 1999, अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय प्रथम भाग, इलाहाबाद : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

https://hiwiki.iiit.ac.in/index.php/%E0%A4%B5%E0%A4%B2%E0%A5%8D%E0%A4%B2%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%9A%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%AF

उस्ताद काले खाँ (जयपुर वाले): अजराड़ा घराने की उपेक्षित किंतु अमूल्य विरासत– एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

अभिजीत

सारांश

संगीत को प्राचीन काल से ही कला के सबसे सूक्ष्म और परिष्कृत रूपों में से एक माना गया है। इसमें तीन प्रमुख अंग सम्मिलित हैं – गायन, वादन और नृत्य। इन तीनों में से वादन का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह गायन और नृत्य, दोनों ही विधाओं की रीढ़ के रूप में कार्य करता है। इसी संदर्भ में तबला का स्थान विशेष रूप से केंद्रीय है। यह गायन, नृत्य और वादन – तीनों में संरचना और ऊर्जा प्रदान करता है। तबला अपनी जटिल लयबद्ध संरचनाओं के माध्यम से संगीत की रूपरेखा को सौंदर्यपूर्ण अलंकरण देता है, जिससे प्रस्तुति की भावनात्मक गहराई और सौंदर्यात्मक प्रभावशीलता बढ़ जाती है।संगीत की मूल आत्मा में घराना प्रणाली निहित है –एक पारंपरिक ढांचा जो गुरु से शिष्य तक अविच्छिन्न परंपरा के रूप में प्रेषित होता आया है। इस प्रणाली के माध्यम से प्रत्येक घराने की विशिष्ट शैली, रचना-संरचना तथा सिद्धांतों का संरक्षण हुआ है, जो उसके संस्थापकों द्वारा स्थापित किए गए थे। छह प्रमुख तबला घरानों में से अजराड़ा घराना का स्थान विशेष रूप से अनूठा है। यह अपनी सूक्ष्म लयकारी, दीर्घ कायदे जिनमें आरोही और अवरोही बोलों का क्रम होता है, तथा तिश्र जाति के कायदों की रचना के लिए प्रसिद्ध है। इसी घराने में उस्ताद काले खाँ एक ऐसे महत्वपूर्ण किंतु उपेक्षित व्यक्तित्व के रूप में उभरते हैं, जिनकी दूरदर्शी मार्गदर्शक भूमिका ने इस घराने की परंपरा को आकार देने में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया।यह शोधपत्र उस्ताद काले खाँ की विरासत और योगदान पर प्रकाश डालने का प्रयास करता है, जिनका कार्य उनकी महत्ता के अनुरूप मान्यता प्राप्त नहीं कर सका है। साथ ही, यह अध्ययन उनके: सांगीतिक परंपरा में उचित स्थान को पुन: स्थापित करने का भी प्रयास है।

प्रमुख शब्दावली :- अजराड़ा घराना, उस्ताद काले खाँ, तबला, संगीत, विरासत

प्रस्तावना

संगीत कला एक उच्च कोटि की उत्कृष्ट कला है। यह कामसूत्र, प्रबन्ध कोश एवं शुक्र - नीति शास्त्र जैसे अन्य ग्रंथों में वर्णित ६४ कलाओं में से उत्तम कला का दर्जा प्राप्त है। गायन, वादन एवं नृत्य , यह तीनों विधाएँ संगीत की मूल तीन स्तंभ है। इन तीनों विधाओं में से वादन ही मुख्य केंद्रीय स्तंभ है जो पूरी रचना

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.003

को एक साथ बाँधे रखता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में वादन, एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसकी अपनी समृद्ध परमपरायें एवं प्रस्तुति की शैलियाँ रही है।

ध्वनि उत्पत्ति के आधार पर वाद्यों को मुख्य ४ श्रेणियों में विभाजित किया गया है -

१. घनवाद्य

२. अवनद्धवाद्य

३. तंत्रवाद्य

४. सुषिरवाद्य

ताल वाद्यों में तबला वर्तमान युग में सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य माना गया है, इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण इसकी गहन, मधुर एवं विविधतापूर्ण ध्वनि गुणवत्ता है, जो इसे कलात्मक रूप से श्रेष्ठ बनाता है। वर्तमान समय तक तबला वाद्य की उत्पत्ति के संदर्भ में विद्वानों के अपने अलग - अलग कई मत है , किंतु शिल्प कलाओं और आदि कई प्रमाणों को देखते हुए तबला वाद्य की उत्पत्ति नाट्यशास्त्र में वर्णित त्रिपुष्कर वाद्य से माना जाना उचित रहेगा । यह वाद्य इतना बहुआयामी है कि यह न केवल गायन और वादन की संगत में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ता है, अपितु एकल वादन के रूप में भी श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने की क्षमता रखता है.

अजराड़ा घराना का अवलोकन

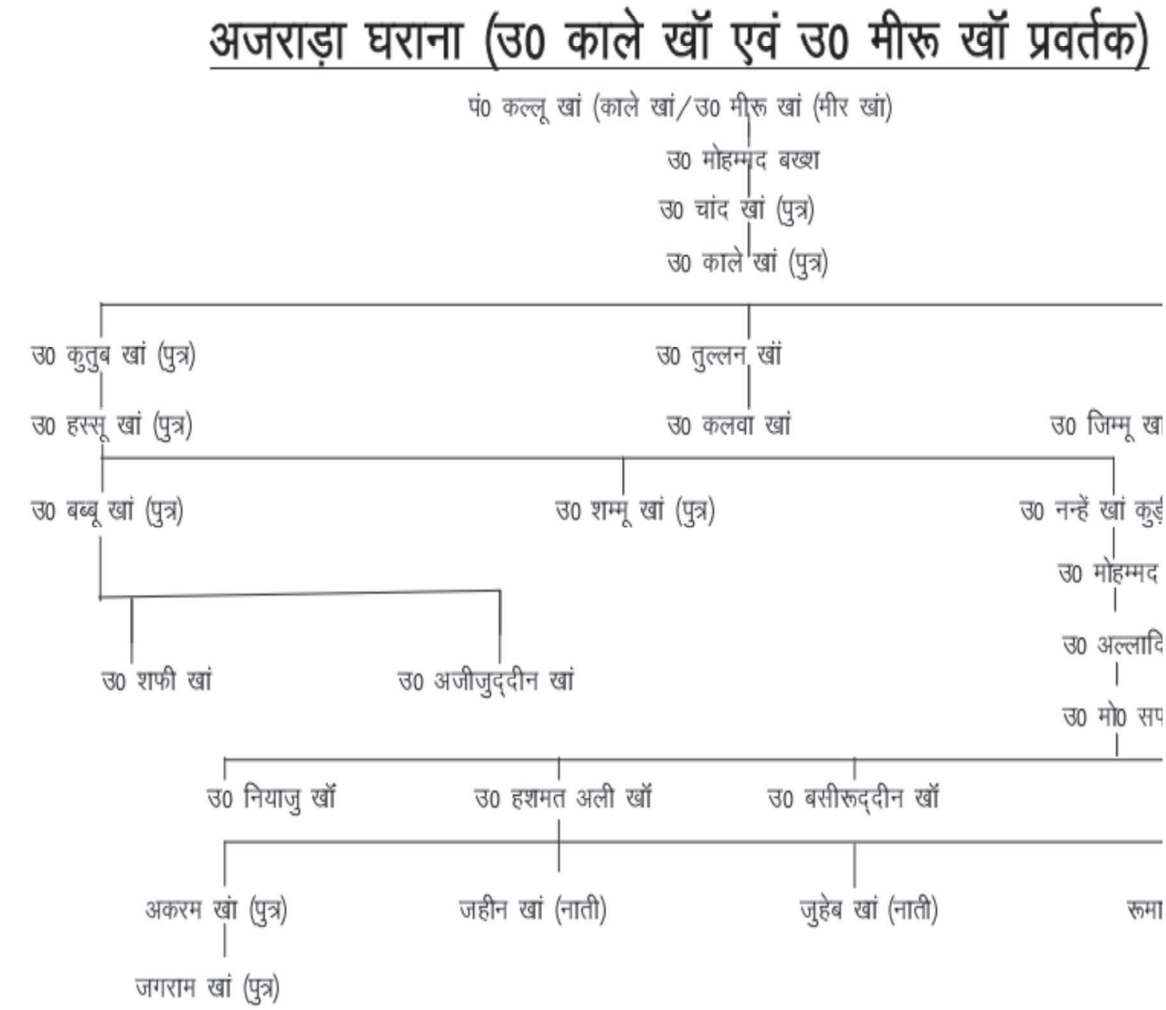

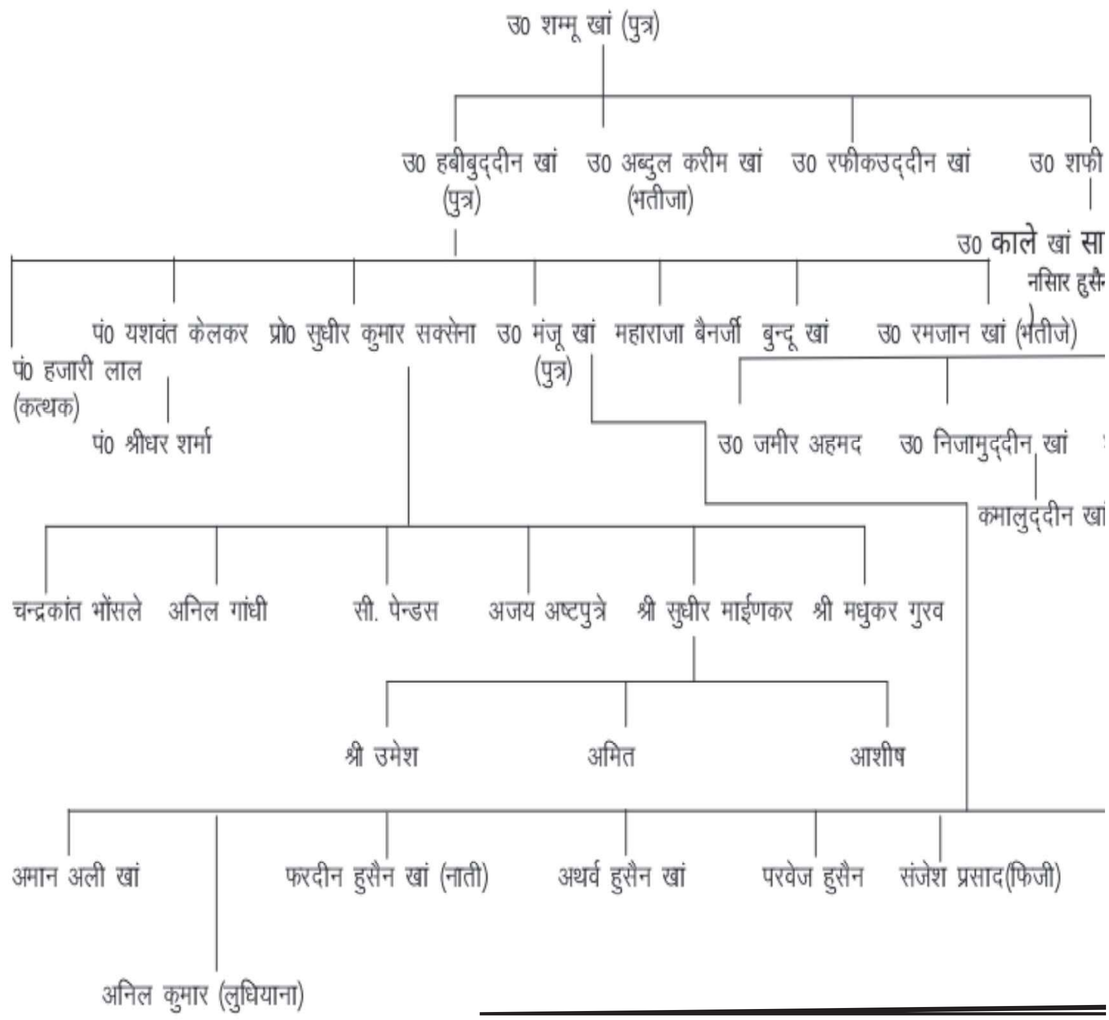

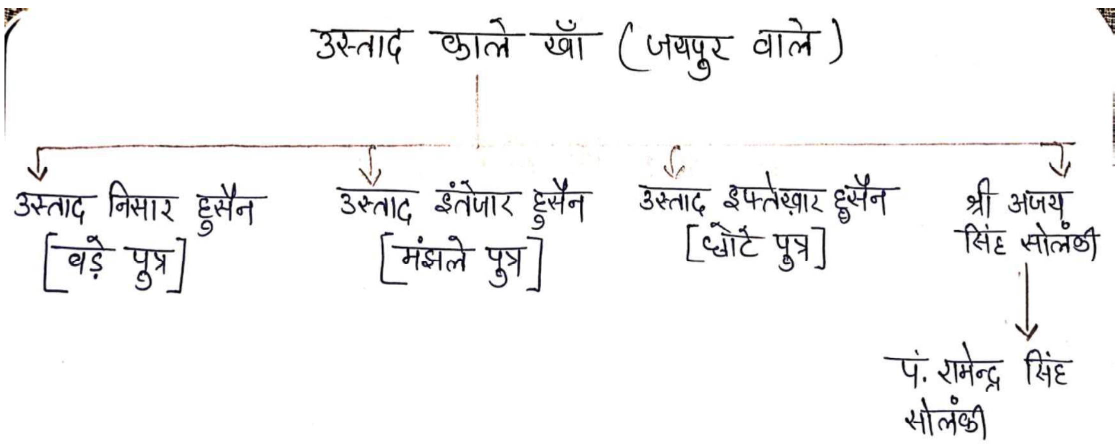

तबला वाद्य की अपनी एक समृद्ध परंपरा रही है। यह परंपराएं समय के साथ - साथ आगे बढ़ी एवं घरानों में परिवर्तित हुई।

तबला के कुल 6 घराना हुए :-

1) दिल्ली घराना
2) अजराड़ा घराना
3) लखनऊ घराना
4) फ़र्रुखाबाद घराना
5) बनारस घराना
6) पंजाब घराना

दिल्ली घराना सर्वप्रथम घराना हुआ। इसकी स्थापना उस्ताद सिद्धार खाँ धाढ़ी द्वारा की गई।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.003

विजय शंकर मिश्रा के द्वारा कथन - चूंकि दिल्ली बाज ढोलक , तासा और नक्कारा जैसे वाद्यों की प्रेरणा से बना था, अत: उनमें बाएं की कोई खास भूमिका नहीं थी। चटक, टनक और तैयारी ने शुरू में लोगों को ख़ूब आकर्षित किया लेकिन 60-70 वर्ष बीत जाने के बाद लोगों ने एकरसता महसूस की। यही कल्लू खाँ और मीरू खाँ के मन मस्तिष्क में यह प्रश्न कौंधा कि जब तबले के साथ बायां भी बजता है तो फिर उसकी कोई स्वतंत्र भूमिका क्यों नहीं है। यह कभी दाएं तबले को सहारा देता है तो कभी उसमें भराव पैदा करता है लेकिन , क्या इतनी ही है इसकी सीमा ? क्या बाएं का अपना कोई अस्तित्व, कोई महत्व नहीं ? और इस सवाल में ही छिपा हुआ था उसका जवाब भी । बाएं को विकसित करने में दोनों भाई प्राण से जुट गये। इसी कारण पूरा तबला दिल्ली का होते हुये भी, तबला के आकाश में अजराड़ा एक अलग बाज वादन शैली के रूप में चमका व घराने के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

उस्ताद काले खाँ साहब: प्रारंभिक जीवन एवं संगीत यात्रा

अजराड़ा घराने में कई प्रख्यात तबला वादक हुए उनमें से एक हुए उस्ताद शंभू खाँ साहब के शागिर्द उस्ताद सफीक खाँ साहब के छोटे भाई उस्ताद काले खाँ साहब (जयपुर वाले)। उस्ताद काले खाँ साहब का जन्म जयपुर राजस्थान में स्वतंत्रता के पूर्व 1938 ईस्वी के लगभग हुआ। उस्ताद काले खाँ के पिता जी का नाम कल्लन खाँ था और माता जी का नाम बाफ़तन खाँ था । हालांकि उस्ताद जी के पूर्वज अलवर राज दरबार में सेवारत थे एवं अलवर के रहवासी थे। कुछ समय पश्चात वे जयपुर राज दरबार में सेवाएं देने आए तो फिर वे जयपुर में ही बस गए। उस्ताद काले खाँ की तबले की शिक्षा सर्वेप्रथम अपने बड़े भाई उस्ताद शफी खाँ साहब से प्रारंभ हुई। उस्ताद काले खाँ साहब के बड़े बेटे निसार हुसैन जी ने अपने एक साक्षात्कार में बताया है कि कितनी कठिनाई से उनके बड़े ताऊ उस्ताद शफी खाँ साहब ने अपनी पुश्तैनी जमीनों को दान में देकर तबले की विद्या अर्जित की। उस्ताद काले खाँ साहब ने तबला की शिक्षा सर्वप्रथम 10-12 वर्ष की आयु से ग्रहण करना प्रारंभ की। आपकी वादन शैली अजराड़ा घराने से ओत प्रोत रही किंतु आपने अपने वादन में तबला के दिल्ली एवं अजराड़ा दोनों घरानों की विशेषताओं को समाहित किया, जिससे आपका वादन और भी प्रभावशाली एवं मनमोहक प्रतीत होता था। आपकी रियाज़ और संगीत साधना की जब भी चर्चा की जाती है तो लोगों का यह कहना होता है कि खाँ साहब जैसे साधक इस पृथ्वी पर कभी कभी ही जन्म लेते है । खाँ साहब जब रियाज़ करते थे तो वह विलंबित लय से प्रारंभ कर पूरा ध्यान अपने बोलों के निकास एवं बोलों की तासीर पे ध्यान केंद्रित करते हुए अभ्यास करते थे। आपका यह कहना व मानना था कि "मैं अपना तबला वादन नहीं करता हूँ, बस अपने गुरु का अनुसरण करने का प्रयास करता हूँ। यह आपका आपके गुरुओं के प्रति समर्पण एक श्रेष्ठ शिष्य का परिचय देता है।

एक कुशल कलाकार के रूप में योगदान

उस्ताद काले खाँ साहब ने तबला को भगवान मानकर उनकी पूजा एवं साधना की। उसी का परिणाम स्वरूप आपकी गिनती कुशल एवं श्रेष्ठ तबला कलाकारों में की जाती है।

उस्ताद जी के लिए लोगों का यह कहना होता है कि "अनेक तबला वादकों का तबला बजता है परन्तु खाँ साहब का तबला वादन

ऐसा प्रतीत होता था कि वह बज हीं नहीं रहा वरन नृत्य कर रहा है। आप अपने तबला वादन के अदभुत एवं विलक्षण प्रस्तुतियों से श्रोताओं को हमेशा ही सम्मोहित किया करते थे। आपके तबला वादन की प्रशंसा बड़े बड़े तबला वादकों द्वारा हमेशा से की जाती रही है। आपके वादन में जितनी जटिलता लय की है उतनी एवं उससे कहीं ज्यादा आपके हाथों से निकलते बोलों की निकास श्रोताओं व दर्शकों के आकर्षण का केंद्र था। आपके वादन में प्रयोग होने वाले पेशकार, कायदा, रेला, टुकड़े इत्यादि विलंबित लय में हो या द्रुत लय में, आप सभी को पूर्ण रूप निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ निभाते थे। काले खाँ साहब का वादन प्राचीन नियमों के अंतर्गत ही आता था। आपका अपना मानना था कि वादक को वादन का क्रम इस प्रकार निर्धारित करना चाहिए कि एक के बाद एक क्रमश: वादन सामग्री प्रतुति को और प्रभावशाली वर्भावशाली बनाए और इसके दौरान रंजकता के कारण नियमों के विच्छेदन न हो, इसका वादक को पूर्ण रूप से ध्यान रखना चाहिए। आप एकल वादन के साथ - साथ सुमधुर, सीधी एवं गायक व वादक के साथ श्रोताओं के मन को छू जाने वाली संगत करने के लिए भी जाने जाते थे । खाँ ने विभिन्न संगीत सम्मेलनों में एवं एक से एक सुप्रख्यात संगीतकारों जिसमे शोभा गुर्टू , लक्ष्मी शंकर , प्रसिद्ध कथक नृत्य कलाकारा सितारा देवी , नारायण प्रसाद जी कथक , मोहनलाल जी कथक , लक्ष्मी शंकर, शंकर पंडित, दिल्ली के पन्नालाल जी, ध्रुपद के डगरबंधु चंद खान , उस्मान खान आदि अनेक कलाकारों के साथ तबला शिरकत की है लेकिन उनका लक्ष्य यह रहता था कि किसी भी स्तर का कलाकार क्यों न हो, उनकी प्रस्तुति में अपनी संगत के कारण चारचांद लग जाए एवं आपने कभी किसी साथी कलाकार को छोटा दिखाने की हीन भावना मन में नहीं रखी एवं गायक व वादक सहजता पूर्ण रूप से अपनी प्रस्तुति पूर्ण कर पाए। आपकी इस खूबसूरत व आत्मविभोर करने वाली सोच का एक नमूना हमें आपके मंजेले बेटे उस्ताद इंतजार हुसैन खाँ जी ने अपने साक्षात्कार में बताया पिता जी शोभा गुर्टू जी के साथ तबला संगत कर रहे थे । कार्यक्रम समाप्त होने के पश्चात शोभा गुर्टू जी ने कहा कि खाँ साहब ने इतनी अच्छी और सुलझी हुई संगत की, कि मुझे गाने में बिल्कुल भी असहजता महसूस नहीं हुई। खाँ साहब ने अपने वादन प्रस्तुति में समय और नियम दोनों ही मर्यादाओं का निर्वहन हमेशा किया है।

रचनाकार के रूप में योगदान

आपने आपका योगदान एक श्रेष्ठ तबला के बंदिशों के रचनाकार के रूप में किया है। अपने कई रचनाएं बनाई , उन रचनाओं में से कुछ निम्नलिखित रचनाएं है -

1. तीनताल में अजराड़ा घराने की ख़ासियत के साथ एक तिस्त्र जाति में रची हुआ रचना (कायदा)

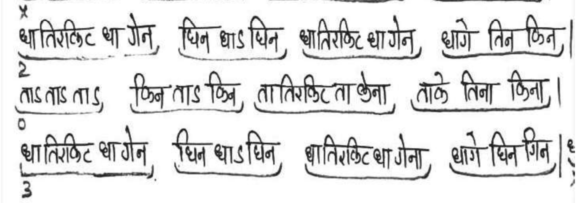

2. एक धीरधीर के बोल पे आधारित बंदिश, जिसमे अलग अलग दर्जे में धीर धीर के बोल का प्रयोग कर तिहाई टुकड़ा / गत की रचना की है।

   https://youtu.be/KZh2osq WEEU?si=dUBVVKgiaqbKTRdk

3. कायदा

1	2	3	4	5	6	7	8
धाऽ	तिट	धिन	तिन	किट्धा	तिट	धिन	तिन
X				2			
9	10	11	12	13	14	15	16
किड़ना	तिकतक	ताता	किड़तक	धित्	धागेन	धा	तिरकिट
0				3			

निष्कर्ष एवं उपसंहार

प्रस्तुत शोध का केंद्र बिंदु उस्ताद काले खाँ साहब (जयपुर वाले) की उस महान विरासत को प्रकाशित करना है, जो अजराड़ा घराना की पारंपरिक वंशावली में अभी तक अल्प-चर्चित रही है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उस्ताद काले खाँ साहब ने अपने अद्वितीय वादन कौशल, अभिनव बंदिशों, और मर्मज्ञ शैली के माध्यम से अजराड़ा बाज को एक असीमित देन दी है।

उनका संपूर्ण कार्यकलाप भावी पीढ़ियों के लिए ज्ञानकोश की तरह है, जिसका संरक्षण और प्रसार आवश्यक है। यह शोध दृढ़तापूर्वक यह निष्कर्ष निकालता है कि उस्ताद काले खाँ साहब के नाम, कृतित्व और प्रभाव को घराने के इतिहास और वंश परंपरा में यथोचित गौरव के साथ समाहित किया जाना चाहिए।

ग्रन्थसूची

1. https://youtu.be/fhnktwh7lrc?si=0mIo55U2YuW5kU76 (उस्ताद निसार हुसैन खाँ डीडी नेशनल interview)
2. https://youtu.be/QpZg3c5kg-A?si=4Q0_pL_0_rlF-7zn (Department of Percussion Raja MansinghTomar Music & Arts University, Gwalior (M.P.) India Presents "TaalSamvad" a National series on Musical Conversation.)
3. https://youtu.be/w0FJmnHy1P0?si=XQQGJfP3ns5BC2fS (त्रिपुष्कर वाद्य से तबला - प्रोफेसर गौरांग भावसार)
4. https://youtu.be/SgV6X3KenGA?si=etvdBJ651uWv_9Bg (भारतीय संगीत वाद्ययंत्र (प्रकार और वर्गीकरण)
5. शर्मा, श्री भगवतशरण (तालप्रकाश) संगीत कार्यालय, हाथरस।
6. वशिष्ठ, पंडित सत्यनारायण, तबले पर दिल्ली और पूरब। संगीत कार्यालय, हाथरस (यू.पी.), प्रथम संस्करण-१९६९।
7. श्रीवास्तव, गिरीशचन्द्र, ताल-परिचय भाग १-२-३। रूबी प्रकाशन, इलाहाबाद (यू.पी.) २००३।
8. शुक्ल, डॉ. योगमाया तबले का उगम विकास और शैलियाँ। हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९८७।
9. सेन, डॉ. अरुण कुमार, भारतीय संगीत का शास्त्रीय विवेचन, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (म.प्र.), प्रथम संस्करण-१९७३।
10. मिस्त्री , डॉ. अबान, पखावज और तबले के घराने एवं परम्पराएँ, स्वर-साधना समिति, मुंबई, प्रथम संस्करण १९८४।

उत्तर भारतीय लोकसंगीत में प्रयुक्त तन्त्रवाद्यों के प्रभाव एवं उपयोगिता का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अंजली वर्मा*, डॉ.सुरेन्द्र कुमार**

सार

हमारा भारतीय लोकसंगीत जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त एक ऐसा सर्वोत्तम एवं लोकप्रिय साधन माना जाता है, जिसके माध्यम से हम अपने मनोभावों को सहजतम रूप से अभिव्यक्त कर पाने में पूर्ण रूप से सक्षम हो पाते है क्योंकि हमारे हृदय की ऐसी बहुत सी अभिव्यंजनाएं एवं भावाभिव्यक्तियाँ होती है जिसे शब्दों द्वारा प्रस्तुत कर पाना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। हमारा उत्तर भारतीय क्षेत्र अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक विविधता, विभिन्न लोक-परम्परा तथा सामाजिक गतिविधियों के लिए विश्व प्रसिद्ध माना जाता है, जहाँ की लोकसंगीत परम्परा अत्यन्त समृद्ध रूप से परिपूर्ण दृष्टव्य होती है। इसके अन्तर्गत लोकगीत, लोकनृत्य, लोकवाद्य तीनों शैलियाँ विद्यमान पायी जाती है। लोकवाद्यों में तन्त्रवाद्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान देखने को मिलता है जिसके अन्तर्गत सारंगी, एकतारा, दोतारा,संतूर, कमायचा इत्यादि जैसे लोक-तंत्रवाद्य देखने को मिलते है जो न केवल सुर एवं ताल को आधार प्रदान करते हैं बल्कि लोकधुनों के विशिष्ट सौन्दर्यबोध को अभिव्यक्त करने में अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हुए परिलक्षित होते हैं। विभिन्न प्रकार के तन्त्रवाद्य अपने भिन्न-भिन्न प्रभाव अभिव्यक्त करते हुए देखने को मिलते हैं जैसे- सारंगी, कमायचा आदि जैसे वाद्य लोकगीत की भावाभिव्यक्ति को अत्यधिक सूक्ष्मता प्रदान करते हुए दृष्टव्य होते हैं तो वहीं एकतारा जैसे वाद्य अत्यन्त भक्तिपरक एवं निर्गुण परंपरा के लिए उपयुक्त माने जाते हैं।

मुख्य शब्द- *लोकसंगीत, तन्त्रवाद्य, लोकवाद्य, लोक-परंपरा, विविधता, भावाभिव्यक्ति, अभिव्यंजनाएं।*

प्रस्तावना- लोकसंगीत को जनसाधारण का संगीत माना जाता है, जिसमें 'लोक' शब्द का वैदिक अर्थ प्रकाश खुली जगह तथा दृश्य जगत से लगाया जाता है जिसका अर्थ मुक्त विचरण से माना जाता है, इसी का विकसित अर्थ 'सम्पूर्ण विश्व' माना जाने लगा जिसे सात या चौदह लोकों में विभक्त रूप में जाना जाता है, वहीं उत्तर वैदिक काल तथा महाभारत काल में 'लोक' का अर्थ पृथ्वी लोक एवं उसके निवासी से लगाया जाता है। अतः लोक संगीत को साधारण लोगों के संगीत के रूप में जाना जाता है।[1]

देवेन्द्र सत्यार्थी "लोक गीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं। लोक गीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। प्रकृति जब तरंग में आती है गान करती है।"[2]

लोकसंगीत- भारतीय लोकसंगीत की जड़ें लोक साहित्य में गहराई तक जुड़ी हुई प्रतीत होती

* शोधार्थी : शोध निर्देशक

** सह आचार्य : संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.004

हैं। लोक साहित्य उस काव्य संपदा को कहा जाता है जो शिक्षित समाज से दूर रहने वाले साधारण, निरक्षर लोगों की भावनाओं एवं अनुभवों को अभिव्यक्त करते हुए देखने को मिलती है। इनके जीवन में आशा-निराशा, सुख-दुख, हर्ष-विषाद, जन्म-मृत्यु तथा लाभ-हानि जैसी स्थितियों का जो स्वाभाविक प्रस्फुटन दिखाई देता है, वही लोक साहित्य का मूल स्वर द्रष्टव्य होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक माने जाने वाले सोलह संस्कारों पर गाए जाने वाले गीत इस साहित्य की अनमोल धरोहर के रूप में परिलक्षित होते हैं।

लोकसंगीत में लोकसाहित्य की भूमिका- लोक साहित्य आदि मानव से लेकर आधुनिक युग तक निरंतर मौखिक परम्परा के सहारे ही संरक्षित होता आया है। प्रारंभिक मानव के पास न तो लेखन की सुविधा थी और न ही प्रसारण के साधन, इसलिए वह अपने विचारों और भावनाओं को स्वाभाविक रूप से बोलकर ही व्यक्त करता था। यही अभिव्यक्तियाँ बाद में पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से संप्रेषित होती रहीं। इस कारण कहा जा सकता है कि लिखित और प्रकाशित रूपों की अपेक्षा लोक साहित्य के वास्तविक संवाहक उसकी मौखिकता और अनुकरणीय परम्परा ही रही है। हालांकि जब ये परम्पराएँ लिपिबद्ध की जाती हैं, तो उनमें स्थायित्व आता है तथा भ्रम या असंगतियों की संभावना भी समाप्त हो जाती है।[3] लोकसाहित्य का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार से देखने को मिलता है-

1. लोकगीत
2. लोकगाथा
3. लोक कथा
4. लोक नाट्य
5. प्रकीर्ण साहित्य [4]

उत्तर भारतीय लोकसंगीत- हमारा लोक-संगीत भारतीय सांस्कृतिक विरासत के महत्वपूर्ण अंग के रूप में परिलक्षित होता है, जिसके अंतर्गत हमें मुख्य रूप से तीन प्रकार की शैलियां देखने को मिलती हैं- लोकगीत, लोक वाद्य, तथा लोक नृत्य[5] जो कि हमारे विविध भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश तथा भाषायी विविधता से प्रभावित होकर पुष्पित एवं पल्लवित रूप में दृष्टव्य होता हैं, जिसके आधार पर हमारे भारतीय लोक संगीत के दो प्रकार -1.उत्तर भारतीय तथा 2.दक्षिण भारतीय वर्ग के रूप में देखने को मिलते हैं।

हमारा उत्तर भारतीय लोकसंगीत अपनी विविधता के लिए विश्व प्रसिद्ध माना जाता है जिसके माध्यम से यहाँ के क्षेत्र की सांस्कृतिक चेतना, सामुदायिक जीवन एवं परंपरागत अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन होता है जो कि ग्रामीण जनजीवन की अनुभूतियों, जैसे सुख-दुख, हर्ष-उल्लास, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार, विवाह, श्रम- कार्य, धार्मिक आस्था तथा ऋतु-परिवर्तन इत्यादि को सरल, सहज एवं भावपूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हुए परिलक्षित होता है। उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों जैसे-उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हरियाणा, हिमालयी क्षेत्र इत्यादि में लोक संगीत की विविध शैलियाँ विकसित होती हुई देखने को मिलती हैं, जिनमें बिरहा, कजरी, चैती, आल्हा, सोहर, कुमाऊँनी-गढ़वाली गीत,मांड इत्यादि जैसे लोक गीत दिखाई पड़ते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के लोक वाद्य जैसे सारंगी, ढोलक, हारमोनियम, बांसुरी, नगाड़ा, इकतारा,मंजीरा आदि यहां के लोक संगीत के भाव-सौंदर्य को पुष्ट करते हुए देखने को मिलते हैं।

लोकवाद्य- लोकसंगीत में प्रयुक्त वाद्यों को लोकवाद्य के नाम से जाना जाता है। ये वाद्य सरल रूप, सहज संरचना तथा अल्प जटिलता के कारण किसी भी लोककलाकार के लिए

आसानी से प्रयोग योग्य होते हैं। लोककलाकार के लिए साधारण-सी वस्तु भी वाद्य का कार्य कर सकती है। यदि किसी कारण उन्हें पारंपरिक वाद्य न भी मिलें तो वे थाली बजाकर, या दो लकड़ी के टुकड़ों को आपस में टकराकर भी लय और ताल को बनाए रखने में संकोच महसूस नहीं करते।लोकजीवन के हर पक्ष में वाद्यों की उपस्थिति दिखाई देती है। शंख, घड़ियाल, मंजीरा आदि ग्राम्य परिवेश में अत्यन्त लोकप्रिय वाद्य माने जाते हैं।लोकसंगीत में वाद्यों को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, विवाह जैसे संस्कारों में वाद्यों तथा वादकों की पूजा कर उन्हें नेग देने की परम्परा का प्रचलन देखने को मिलता है।[6]

वाद्य वर्गीकरण- भारतीय वाद्य-संगीत की परंपरा जितनी प्राचीन मानी जाती है,वाद्यों के वर्गीकरण का इतिहास भी उतना ही प्राचीन माना जाता है।प्राचीन ग्रंथों में वर्णित वाद्यों के स्वरूप से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि हजारों वर्ष पहले भी भारतीय वाद्यों की संरचना अत्यंत विकसित, वैज्ञानिक एवं समृद्ध थी। वैदिक काल से ही हमें अनेक वाद्यों के उल्लेख मिलते हैं। सामगान में ताल के संचालन के लिए प्रारंभ से ही दुन्दुभि नामक चर्मवाद्य का उपयोग किया जाता था। तंत्रवाद्यों के कई नाम "हिरण्यकेशी सूत्र" में भी मिलते हैं, जिनके आधार पर तालुक्क वीणा, काण्ड वीणा, पिच्छोरी वीणा, अलाबु वीणा, कपिशीर्ष वीणा आदि का उल्लेख देखा जा सकता है। ऋग्वेद में भी 'वाणस्य सप्तधातुरज्जिनः वाली शततन्त्री वीणा' जैसी बहुरूपी वीणा का उल्लेख मिलता है।[7]

संगीतात्मक ध्वनियों के आधार पर संगीत मकरंद नामक ग्रंथ में वाद्यों को पाँच वर्गों में बाँटकर उन्हें "पंचमहावाद्यानि" कहा गया है। ये ध्वनियाँ—नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज के रूप में बताई गई हैं।वीणा, वंशी जैसे वाद्य वायुज; मृदंग जैसे वाद्य चर्मज; ताल जैसे वाद्य लोहज; और कंठ से उत्पन्न ध्वनियाँ शरीरज वाद्य माने गए हैं। महर्षि भरत और दत्तिल ने वाद्यों की संख्या चार मानी है—

*तत (तंत्री वाद्य),
*अवनद्ध (चर्मवाद्य),
*घन (धातु वाद्य) तथा
*सुषिर (वायु वाद्य)।

प्राचीन काल में विकसित वाद्यों की विविधता को देखते हुए महर्षि भरत द्वारा किया गया यह वर्गीकरण अत्यंत तार्किक, उपयुक्त एवं पर्याप्त प्रतीत होता है।[8]

1. अवनद्ध वाद्य- इस श्रेणी का वाद्य लय प्रधान माना जाता है तथा स्वरोत्पत्ति हेतु इसके मुंह पर चमड़ा मढ़ा हुआ होता है।इसके अन्तर्गत तबला, पखावज, ढोल, नाल, नगाड़ा आदि वाद्य आदि देखने को मिलते हैं।

2. सुषिर वाद्य- इस श्रेणी के वाद्यों में स्वरोत्पत्ति फूंक अथवा वायु द्वारा की जाती है,जैसे- हारमोनियम, शहनाई, बांसुरी,माउथ-अर्गन,क्लारियोनेट इत्यादि।

3. घन वाद्य-इस प्रकार के वाद्यों में स्वर लकड़ी अथवा धातु के आघात से उत्पन्न की जाती है, जैसे कठताल, मंजीरा, खड़ताल, जलतरंग, काष्ठतरंग तथा नलतरंग आदि।

4. तत् वाद्य- इस श्रेणी में वे वाद्य आते हैं, जिनमें स्वरोत्पत्तिर तार, रेशम अथवा तांत के आंदोलन द्वारा किया जाता है, जैसे सारंगी, वायलिन, इसराज, संतूर, सितार, सरोद आदि। इसके भी दो उप-विभाग देखने को मिलते है-1. अंगुली, मिजराव या जवा के आघात से बजाये जाने वाले वाद्य,जैसे- सितार और सरोद तथा 2. गज, छड़ी या स्टिक द्वारा बजाये जाने वाले वाद्य,जैसे- सारंगी, इसराज तथा वायलिन आदि।[9]

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.004

लोकसंगीत में लोक तन्त्रवाद्य- लोकसंगीत में तंत्रवाद्यों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि यह संगीत की सौन्दर्यात्मकताओं एवं भावाभिव्यंजनाओं को प्रभावी रूप से प्रस्तुत करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए परिलक्षित होते हैं। तंत्रवाद्यों की एक प्रमुख विशेषता यह भी मानी जाती है कि इनके माध्यम से लोकगायक अपनी आवाज़ के साथ मेल साधते हुए गीत में स्थायी अथवा आधार-स्वर का निर्माण करते हैं तथा इनकी ध्वनि अत्यंत स्थिर, गूँजयुक्त एवं भावपूर्ण होने के कारण यह लोकगीतों में एक सहज प्रवाह उत्पन्न करते हैं।लोक परंपरा में प्रयुक्त ये तंत्रवाद्य ,जैसे-सारंगी, एकतारा, कमायचा, रावणहत्था आदि अपनी विशिष्ट ध्वन्यात्मक संरचना के कारण लोकसंगीत को प्राकृतिक, सरल एवं मनोहारी स्वरूप प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं।

उत्तर भारत के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के तंत्रवाद्यों का विकास देखने को मिलता है, जो कि उस क्षेत्र के लोकगीतों को विशिष्टता प्रदान करते हुए दृष्टत्य होते हैं,उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं, जैसे- राजस्थान में सारंगी और रावणहत्था जैसे तंत्रवाद्य मंगणियार और लंगा समुदाय की संगीत परंपरा के केंद्र के रूप में जाने जाते हैं जिनकी मधुरता अनूठे नाद के माध्यम से मरुस्थलीय लोकगीतों में एक विशिष्ट गहराई दिखाई देती है जबकि उत्तर प्रदेश तथा बिहार में सारंगी, तंबूरा, इकतारा और आधुनिक बेंजो जैसे वाद्य लोकधुनों में प्रयुक्त होते हुए देखने को मिलते हैं। वहीं पश्चिम बंगाल का दोतारा एवं इकतारा,बाउल एवं फकीरी जैसे लोकगीत की पहचान माने जाते हैं जिनके सुरों में एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिकता झलकती है।इन तंत्रवाद्यों का निर्माण भी स्थानीय रूप से उपलब्ध साधनों द्वारा ही देखने को मिलते हैं, जैसे- लकड़ी, लौकी, जानवरों की खाल तथा आंतों से बने तार इत्यादि, अत: इससे यह स्पष्ट होता है कि लोकसंगीत का सम्बन्ध प्रकृति तथा समाज से कितनी गहनता से जुड़ा हुआ है। इन वाद्यों की सरलता, कारीगरी तथा मधुर ध्वनि लोकजीवन के आनंद, पीड़ा, उत्सव एवं परंपराओं की विशिष्टता को अभिव्यक्त करने में पूर्ण रूप से सक्षम दिखाई देता है।

उत्तर भारतीय लोकसंगीत में प्रयुक्त लोक-तंत्रवाद्य-

एकतारा- यह एक ही स्वर में ध्वनित होने वाले वाद्य के रूप में जाना जाता है जिसके अन्तर्गत केवल एक ही तार का प्रयोग देखने को मिलता है जिसका प्रयोग अधिकतर भक्ति संगीत के साथ देखने को मिलता है तथा यह भिक्षुओं द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला अति लोकप्रिय वाद्य माना जाता है।

दो तारा- इसका स्वरूप एकतारे के समान ही माना जाता है किन्तु इसमें दो तार लगाये जाते है जो षड्ज, पंचम भाव से मिलाये जाते हैं। यह भी भक्ति संगीत के साथ प्रयुक्त हने वाले वाद्य के रूत में जाना जाता है।

चौतारा- चौतारा भक्ति संगीत के लिये उपयुक्त माना जाता है जिसका उपयोग मुख्य रूप से कामड़ जाति द्वारा माना जाता है। यह सम्पूर्ण रूप से पोली रोहिदा लकड़ी से निर्मित माना जाता है। इसका तुम्बा लकड़ी से निर्मित पाया जाता है तथा इसमें बायें से दायीं ओर क्रमानुसार चार तार लगे हुए दिखाई देते हैं।[10]

सुरिन्दा- सुरिन्दा एक कमानी से बजाया जाने वाला लोक तंतुवाद्य है जिसकी कमान पर घुंघरू बंधे रहते हैं। इसमें दो लोहे के तार और एक तांत का तार होता है, जो सामान्यत:

षडज–पंचम में मिले होते हैं। यह रोहिदा की लकड़ी से बनाया जाता है, तथा इसका झुका हुआ तुम्बा झिल्ली से ढका रहता है। इसमें पाँच तरब मिलाई जाती हैं। वादन के समय तार दबाए नहीं जाते, बल्कि उंगलियों के हल्के स्पर्श से बजाए जाते हैं और कमान लय के साथ घुमाई जाती है।

रवाज- रवाज मेवाड़ के चारण वर्ग द्वारा बजाये जाने वाले वाद्य है के रूप में जाना जाता है, जिसमें गज की जगह नख से आघात किया जाता है। इसमें खुटियाँ, लकड़ी का गूंजन भाग और उस पर चढ़ी पतली खाल होती है। चार मुख्य तार और पाँच स्टील के तरब के तार पाये जाते हैं। इसे कई लोग लकड़ी के मिज़राब से भी बजाते हैं। यह रावल जाति का प्रमुख वाद्य है और इसका स्वरूप कमायचा से मिलता-जुलता है।[11]

बानाम- बानाम बिहार की संथाल जनजाति का एक दुर्लभ लोक तंत्रवाद्य माना जाता है, जो मुख्यत: गायन की संगति में प्रयोग होते हुए देखने को मिलता है।कमान से बजाया जाने वाला यह प्राचीन वाद्य जिसे सारंगी का पूर्वज माना जाता है। इसकी स्वरपेटी कटे हुए नारियल के खोल से बनती है, जिस पर खाल मढ़ी होती है। इसमें दो मुख्य तंत्रियाँ देखने को मिलती हैं, एक लोहे की और दूसरी घोड़े के बालों की साथ ही एक तरब की तंत्री भी पायी जाती है।[12]

जंतर- जंतर मेवाड़ क्षेत्र का एक विशिष्ट तंत्रवाद्य माना जाता है, जिसे सवाई भोग समुदाय द्वारा गड़िया तथा वदनौर इलाकों में प्रयोग होते हुए पाया जाता है। इसका आकार काफी हद तक वीणा जैसा दिखाई देता है जिसका प्रयोग मुख्य रूप से गुर्जर जाति के भोपा करते हैं, जो बगरावत कथाओं का गायन करते हैं। राजस्थान में बगरावतों से संबंधित लोककथाएँ और गीत अत्यंत लोकप्रिय माने जाते हैं, जिनमें यह प्रचलित पंक्ति अक्सर सुनने को मिलती है—

"खाल्यो पील्यो खर्चलयो, करो जीव की सार; जीव सरखा पावणा, अवि न बारंबार।"[13]

सारंगी- सारंगी लगभग दो फुट लंबा तथा खोखला तंत्र वाद्य होता है, जिसका निचला भाग जिसे मंथान के नाम से जानते हैं, खाल से मढ़ा होता है तथा इसका ऊपरी भाग मगज कहलाता है। सारंगी में चार मुख्य तार और अनेक तरबों के तार पाए जाते हैं। यह कमानी द्वारा बजाए जाने वाले वाद्य की श्रेणी में आता है।

बिहार में प्राय: सभी लोकगीतों के साथ सारंगी का प्रयोग देखने को मिलता है वहीं दक्षिण भारत में इसके स्थान पर वायलिन और बंगाल में इसराज नामक वाद्य प्रचलित हैं। हिमाचल में इसे धनोटू के नाम से जाना जाता है। राजस्थान क्षेत्र में इसकी कई लोक शैलियाँ देखने को मिलती हैं। बिहार में मियाँ बहादुर खाँ, अता हुसैन और अनवर हुसैन जैसे प्रसिद्ध सारंगी वादक हुए हैं।[14]

रबाना- रबाना जनजातीय क्षेत्र चम्बा का एक तार युक्त स्वर वाद्य माना जाता है जिसका प्रयोग सदियों से गाथाओं तथा पारम्परिक गीतों के साथ दिखाई पड़ता है। इस वाद्य को स्थानीय लकड़ी से बनाया जाता है। बकरे व भेंड़ के पेट की झिल्ली तथा रेशमी धागे अथवा डोरी समान बनाकर इसके छ: तार बनाकर इस वाद्य की छ: खूँटियों में बाँधा जाता है। इस वाद्य का प्रयोग तानपुरे की तरह केवल गान की संगत के लिए किया जाता है।[15]

रावणहत्था- रावणहत्था वाद्य का संबंध लंकाधिपति रावण से जोड़ा जाता है। उदयपुर क्षेत्र में भगनी के भोपा तथा डेंगरजी,ज्वारजी के भोपे कथावाचन में इसका प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं। इसकी बनावट सरल होती है। इसका तूंबा नारियल के खोल से तथा डांड़ बाँस की बनी होती है। आधे नारियल पर खाल मढ़ी जाती है और बाँस पर खुटियाँ लगाई जाती हैं,

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.004

जिन्हें मोरणियाँ कहते हैं। इसमें घोड़े की पूँछ के बाल तथा लोहे-पीतल के तारों से बने मुख्य और तरफ के तार लगाए जाते हैं। टोपसी पर लगी घुड़च और लंगोटी से तार कसे जाते हैं।16

किंगरी- तन्त्रवाद्य का यह प्रकार बांस के करीब एक हाथ लम्बे टुकड़े के एक सिरे पर नारियल की नरेटी अथवा लकड़ी की पोली के खोल में नीचे की ओर गोह का चमड़ा लगाकर बनाया जाता है।जिसमें खूटियों के सहारे तीन तार लगे रहते हैं इसे घोड़े के बालों से बने एक धनुषाकार गज से बजाया जाता है।17

गरासियों का चिकारा- यह वाद्य गरासिया भोपा जाति द्वारा बजाया जाता है। इसकी बनावट रावणहत्था जैसी दिखाई देती है। इसमें नारियल या पोली लकड़ी का तुम्बा, दो मुख्य तार -घोड़े की पूँछ के बाल तथा लोहे के तरब के तार पाए जाते हैं। इसे बाएँ हाथ की उँगलियों और दाएँ हाथ की कमानी (गज) से बजाया जाता है, जिसमें घुँघरू लगे रहते हैं।

कमाँयचा- कमाँयचा राजस्थान की मँगा/ मांगणियार जाति का प्रमुख गज-वाद्य माना जाता है। इसकी बनावट सारंगी से मिलती-जुलती है। गोल तुम्बे पर पतली झिल्ली और तबली पर चमड़ा मढ़ा होता है। इसे नाथ पंथी साधु, लोक गायक और कहीं-कहीं सूफी फकीर बजाते हुये देखने को मिलते हैं। जैसलमेर-बाड़मेर क्षेत्र में इसका विशेष प्रचलन माना जाता है।18

निष्कर्ष – हमारे उत्तर भारतीय लोक संगीत में प्रयुक्त तंत्र वाद्य भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग ही नहीं बल्कि हमारी परंपराओं, सामाजिक मान्यताओं एवं लोकजीवन की संवेदनाओं के जीवंत वाहक के रूप में भी परिलक्षित होते हैं। उत्तर भारत से लेकर राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल और दक्षिण भारत तक विभिन्न समुदायों ने अपनी आवश्यकताओं, जीवन परिस्थितियों तथा सौंदर्य-बोध के अआधार पर ही तन्त्रवाद्यों का विकास किया। सारंगी, रावणहत्ता, सुरिन्दा, जंतर, तंबूरा, इख्तारा जैसे वाद्य आज भी लोकगायन, कथा-वाचन, देव-भक्ति और लोकआनुष्ठानों में प्रयोग होकर संगीत परंपरा को समृद्धता प्रदान कर रहे हैं। इनके माध्यम से लोकगायक अपने कथानक, पीड़ा, प्रेम, शौर्य और भक्ति को सहजता से प्रस्तुत कर पाते हैं। यद्यपि आधुनिक समय में इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों का प्रभाव बढ़ा है, फिर भी तन्त्रवाद्य अपनी प्रामाणिक ध्वनि, विशिष्ट संरचना एवं सांस्कृतिक महत्ता के कारण आज भी लोक-संगीत की आत्मा माने जाते हैं।

सन्दर्भ सूची-

1- सिंह अनुश्री, , 2017, अवध के लोक कलाकारों एवं लोक वाद्यों का योगदान,संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, पृष्ठ संख्या- 03

2- वही शोध-ग्रन्थ,पृ.स.-18

3- झा मोहनानन्द, मिथिला सांस्कृतिक परम्परा में लोकगीत, जानकी प्रकाशन,अशोक राजपथ,चिट्टा,पटना-4,1989, पृ०सं-3

4- वही पुस्तक पृ०-4

5- लोक के विविध रंग, राष्ट्रीय संगोष्ठी, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, लोकस्मरणिका, 2020, पृ. सं. – 363

6- सिवाच,डॉ० सुनीता, 2006,लोकसंगीत में सीमावर्ती क्षेत्रों का योगदान, आर डी पाण्डेय सत्यम पब्लिशिंग हाउस मोहन गार्डन,नई दिल्ली,110059, पृ.सं. – 50

7- श्रीवास्तव स्मृता, 2006,शास्त्रीय संगीत की बंदिशों का सांगीतिक एवं साहित्यिक अध्ययन, डॉ. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश, पृ. सं. – 57

8- वही शोध-ग्रन्थ - पृ. सं.-58

9- श्रीवास्तव गिरीशचन्द्र, 2021,ताल परिचय भाग 2, संगीत सदन प्रकाशन 134, साउथ मलाका इलाहाबाद 211001, , पृ. सं. -19
10- कुमारी डॉ० कौशल, 2009,भारतीय लोक वाद्य, साहित्य रत्नालय, 37/50 गिलास बाजार,कानपुर, -पृ. सं. – 84
11- कुमारी डॉ० कौशल, भारतीय लोक वाद्य, साहित्य रत्नालय,37/50 गिलास बाजार कानपुर, 2009 -पृ. सं. – 84
12- कुमारी डॉक्टर अनामिका, 2015,बिहार के लोक संगीत में वाद्यों की परंपरा एवं प्रयोग, महावीर प्रेस भीलपुरा, वाराणसी, पृ. सं. – 86-
13- कुमारी डॉ० कौशल, 2009, भारतीय लोक वाद्य, साहित्य रत्नालय,37/50 गिलास बाजार कानपुर, पृ. सं. – 64
14- सेन रेखा, 2023,उत्तर भारत के विभिन्न प्रकार के लोक वाद्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पृ. सं.-124
15- गुलाटी पारुल, 2009,उदयपुर के प्रमुख लोक नृत्य एवं लोकगीतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, दयालबाग शिक्षण संस्थान (डीम्ड विश्वविद्यालय) आगरा, पृ. - सं. -180
16- सिंह अनुश्री, 2017, अवध के लोक कलाकारों एवं लोक वाद्यों का योगदान, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, पृ. सं.- 207
17- कुमारी डॉ० कौशल, 2009,भारतीय लोक वाद्य, साहित्य रत्नालय,37/50 गिलास बाजार कानपुर, पृ. सं. – 71
18- सेन रेखा, 2023 उत्तर भारत के विभिन्न प्रकार के लोक वाद्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,पृ. सं.-135

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.005

गीति (लक्षण एवं भेद)

अर्चना कुमारी*, प्रो. के. शशि कुमार**

सारांश

भारतीय संस्कृति की प्राचीनता वेदों से जुड़ी हुई है, एवं भारतीय संगीत की प्राचीनता सामवेद से सम्बंधित है। क्योंकि संगीतात्मक स्वरूप वाला एकमात्र वेद सामवेद है। हमारे भारतीय संगीत के अनुसार प्राचीन वैदिक काल में गीति का गान किया जाता था। गीति एक प्राचीन गायन क्रिया है। इनका उद्भव साम गान से माना जाता है। भरतमुनि के अनुसार गीतियों का अर्न्तभाव गान्धर्व के अर्न्तगत है। ये गीतियाँ नाट्य के अतिरिक्त गान्धर्व में भी गायी जाती रहीं हैं।संगीत रत्नाकर के अनुसार ''वर्ण आदि से अलंकृत तथा पद और लय से अन्वित गानक्रिया गीति कहलाती है।'' नाट्यशास्त्र के अनुसार के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी गीति के लिए ही साम संज्ञा दी गई है। साम, गीत और गीति तीनों शब्दों का मूलार्थ एक ही है अर्थात् तीनों का अर्थ समान है - गान, गीत अथवा गायन योग्य रचना।गीतियाँ मुख्यरूप से दो प्रकार की हैं- स्वराश्रित एवं पदाश्रित। इनको स्वर गीति और पद गीति भी कहते हैं। जो गान प्रयोग में स्वर की विशिष्ट शैली को बताती है, वह और जिन गीति, गीत अथवा गानों का वैशिष्ट्य एवं आधार पद अथवा पदों की आवृत्ति-निवृत्ति है, उनको पदाश्रित गीति कहते हैं। भरत के अनुसार गीतियाँ नाट्य के अतिरिक्त गान्धर्व में भी गाई जाती रही है।

कुंजी शब्द – संगीत, गीति, गान्धर्व, गान्धर्व, संगीत

भूमिका -

भारतीय संस्कृति की प्राचीनता वेदों से जुड़ी हुई है, एवं भारतीय संगीत की प्राचीनता सामवेद से सम्बंधित है। क्योंकि संगीतात्मक स्वरूप वाला एकमात्र वेद सामवेद है। हमारे भारतीय संगीत के अनुसार प्राचीन वैदिक काल में गीति का गान किया जाता था। गीति एक प्राचीन गायन क्रिया है। इनका उद्भव साम गान से माना जाता है।

भरतमुनि के अनुसार गीतियों का अर्न्तभाव गान्धर्व के अर्न्तगत है। ये गीतियाँ नाट्य के अतिरिक्त गान्धर्व में भी गायी जाती रहीं हैं।

संगीत रत्नाकर के अनुसार ''वर्ण आदि से अलंकृत तथा पद और लय से अन्वित गानक्रिया गीति कहलाती है।'' नाट्यशास्त्र के अनुसार के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी गीति के लिए ही साम संज्ञा दी गई है। साम, गीत और गीति तीनों शब्दों का मूलार्थ एक ही है अर्थात् तीनों का अर्थ समान है - गान, गीत अथवा गायन योग्य रचना।

गीतियाँ मुख्यरूप से दो प्रकार की हैं- स्वराश्रित एवं पदाश्रित। इनको स्वर गीति और पद गीति भी कहते हैं। जो गान प्रयोग में स्वर की विशिष्ट शैली को बताती है, वह और जिन

*शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**पूर्व संकाय प्रमुख एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीति, गीत अथवा गानों का वैशिष्ट्य एवं आधार पद अथवा पदों की आवृत्ति-निवृत्ति है, उनको पदाश्रित गीति कहते हैं। भरत के अनुसार गीतियाँ नाट्य के अतिरिक्त गान्धर्व में भी गाई जाती रही है। परम्परा के अनुसार पदाश्रित गीतियों के चार भेद होते हैं-

1. मागधी
2. अर्धमागधी
3. सम्भाविता
4. पृथुला

शारंगदेव ने कपाल और कम्बल गान के तुरन्त बाद गीति की परिभाषा एवं उसके लक्षणों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है-

''सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा।
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी।।15।।
संभाविता च पृथुलेत्येतासां लक्ष्य चक्ष्महे।''

इन चार गीतियों में से पहली दो मागधी और अर्ध-मागधी पदों की आवृत्ति-युक्त गानक्रिया पर आधारित है और संभाविता तथा पृथुला क्रम से गुरु और लघु अक्षरों की प्रधानतायुक्त शब्द रचना वाली गीति से संबद्ध हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार -

''या पदानां निवृत्तिरावृत्तिस्तया विततं
गीतं गान क्रिया यस्यां सा गीतिः।''

अर्थात् जिन गान क्रियाओं में पदों की आवृत्ति निवृति होती है, उनको गीति कहा जाता है। यानि गीति अथवा गान के जिस प्रकार में गीत के पदों की आवृत्ति अथवा निवृत्ति विशिष्ट प्रकार से की जाती है, उसको गीति कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार यति, काल विभाग, वर्ण, अलंकार तथा लय आदि गीति के सामान्य लक्षण है।

गीति की उत्पत्ति एवं विकास -

कुछ विद्वानों का मानना है कि नाट्यशास्त्र में केवल पदाश्रित गीतियों का ही वर्णन किया गया है, परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार नाट्यशास्त्र में पाँच प्रकार की स्वराश्रित गीतियों का भी वर्णन प्राप्त होता है। कल्लिनाथ ने संगीतरत्नाकर की टीका भाग-2 पृ. 511 पर शुद्धा आदि पाँच गीतियों का नाट्य में विनियोग बताते हुए उन्हें भरत के नाम से उद्धत किया है, परन्तु उपलब्ध बृहद्देशी ग्रन्थ में उन्हीं श्लोकों को कश्यप का बताया गया है। भरतभाष्यम् सन्ध के रागाध्याय के श्लोक एक से तीन में शुद्धादि गीतों के समय का भी वर्णन किया है। स्वामी प्रज्ञानानन्द के अनुसार ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में भी गांधर्व या मार्ग संगीत प्रचलित था, परन्तु साथ-साथ लोगों की रूची देशी संगीत की ओर अधिक रही। विभिन्न स्थानों के लोगों ने अपने-अपने संगीत का निर्माण किया, जिसके फलस्वरूप गीतियों की रचना हुई। भरत नै ध्रुवा-गान का वर्णन करने के पश्चात् फिर से चार गीतियों का वर्णन किया है। उन्होंने मागधी प्रथम गीति, अर्धमागधी द्वितीय, सम्भाविता तृतीय एवं पृथुला को चौथी गीति कहा है। मागधी के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि जिसमें तीनों लय, त्रिविध यति, तीनों प्रकार के लघु, गुरु तथा प्लुत वर्णों की समान प्रमाण में योजना और इक्कीस कलाओं की ताल रहे, उसको मागधी गीति समझना चाहिए। वह गीत जिसमें केवल गुरू तथा लघु वर्णों का प्रयोग हो, जिसमें द्रुत तथा मध्य लय हो और मागधी में रहने वाली कलाओं से आधी कलाओं से युक्त ताल प्रमाण रहे, तो यह अर्धमागधी होती है। इनका गायन नाट्य आदि में विशेष रूप से होता था।

पदाश्रित गीतियों के लक्षण -

संगीतरत्नाकर में पदाश्रित गीतियों का चार प्रकार बताया गया है-

1. मागधी
2. अर्धमागधी

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.005

3. संभाविता
4. पृथुला

1. मागधी गीति -

''गीत्वा कलायामाद्यायां विलम्बितलयं पदम्।।16।।
द्वितीयायां मध्यलयं तत्पदान्त रसंयुतम्।
सतृतीयपदे ते च तृतीयस्यां द्रुते लये।।17।।
इति त्रिरावृत्त पदां मागधीं जगदुर्बुधाः।''

अर्थात् मागधी गीति में प्रथम पद की विशेष प्रकार से तीन बार आवृत्ति होती है, जिसमें विलंबित, मध्य और द्रुत-इस क्रम से तीनों लयों का प्रयोग होता है। मागधी के उदाहरण में तीन पद हैं-देवं रूद्रं वंदे। इनमें से पहले पद 'देव' की आवृत्ति हुई है। प्रस्तार में अकेले अकेले स्वर दीर्घ रूप में (मा, गा आदि) अर्थात् गुरु काल में हैं और जहाँ दो-दो स्वर एकसाथ है वहाँ ह्रस्व रूप में (धनि, रिग आदि) यानी लघुकाल में दिए है। इसके अनुसार पहली कला में हर स्वराक्षर का काल 1-1 गुरु का और दूसरी और तीसरी कलाओं में शिरोरेखा जुड़े हर स्वर का काल 1-1 लघु के बराबर है। प्रत्येक कला (ताल भाग) में 4-4 गुरू होने से इस उदाहरण की दक्षिण मार्ग तथा चतुष्कल ताल में समझना होगा।

कल्लिनाथ ने प्रथम कला में चतुर्गुणित विश्रान्तिकाल, दूसरी कला में द्विगुण विश्रान्तिकाल और तीसरी कला में उन दोनों की अपेक्षा 'शीघ्रतम क्रियाविश्रान्ति' कही। यहाँ तृतीय कला की द्रुतलय की अपेक्षा से दूसरी और पहली कला में दुगुनी और चौगुनी विश्वान्ति कही गई है।

उदाहरण-	मा	गा	मा	धा
	दे	वं		
	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	धनि	धनि	सानि	धा
	दे	वं	रू	द्रं
	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	रिग	रिग	मग	रिस
	देवं	रूद्रं	वं	दे
	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ

यहाँ 'देव' के हर अक्षर का काल पहली कला में 2-2 गुरु, दूसरी कला में 1-1 गुरु और तीसरी कला में 1/2-1/2 गुरु है। इस प्रकार तीसरी कला की अपेक्षा दूसरी कला गे दुगनी और पहली कला में चौगुनी विश्रान्ति होने से पहली, दूसरी, तीसरी कलाओं में क्रम से विलाम्बत, मध्य, द्रुत लय हैं।

''मगधदेशोद्भवत्वान्मागधी''। अर्थात् मगध देश में उत्पन्न होने के कारण इस गीति की संज्ञा 'मागधी' है। ऐसा वर्णन मतंग ने वृहदेशी में किया है। (बृह०, प्र०, खण्ड, अनु० 112)।

2. अर्धमागधी, गीति -

वर्तमान बिहार प्रदेश प्राचीनकाल में 'मगध' के अतंर्गत था। मगध की पदाश्रित गान-शैली 'मागधी' और मगध से प्रभावित आस-पास के क्षेत्रों की गायन शैली 'अर्धमागधी' कहलाती थी।

''पूर्वयोः पदयोरर्धे चरमे द्विर्यदोदिते।।18।।
तदा ऽ र्ध मागधीं प्राहुः द्विरावृत्त पदों परे।''

मागधी में पूरे पद की आवृत्ति होती है और अर्धमागधी में पद के अन्तिम आधे अंश की। यही दोनों में अन्तर है। उदाहरण में 'देव' के अन्तिम आधे 'देव' की दूसरी कला में और दूसरी कला के 'रुद्र' के अन्तिम आधे 'द्रं' की तीसरी कला में आवृत्ति हुई है। (सर०) अर्धमागधी के उपर्युक्त दो उदाहरणों में यह अन्तर है कि पहले में अन्तिम पद के अन्तिम आधे की आवृत्ति है और इसरे में पूरे अन्तिम पद की आवृत्ति है।

सिंहभूपाल ने इस अंश को संभाविता गीति से जोड़कर व्याख्या की है। उसके अनुसार जिसमें दो बार आवृत्त होने वाले अन्य पद हों

और गुरू अक्षरों की बहुलता से जो संक्षिप्त पद वाली हो वह संभाविता गीति है। लेकिन ग्रंथकार ने 'द्विरावृत्तपदांपरे' कह कर अर्धमागधी का ही अलग से उदाहरण दिया है जिसकी पहली कला के पूरे पद 'देव' की दूसरी कला में और दूसरी कला के अन्य पद 'रुद्रं' की तीसरी कला में आवृत्ति हुई है। ग्रन्थकार ने संभाविता का अलग से उदाहरण दिया है।

मतंग ने इसे मागधी का भेद कहा है और यह भी स्पष्ट किया कि आवृत्ति में पदभंग होने से अर्थभंग होना, गीति की प्रधानता के कारण, दोष नहीं माना जाता। वेदों के गान में भी ऐसा होना दोष नहीं माना गया। इसलिए सामवेद से उत्पन्न संगीत मैं भी पदों की उक्त पुनरुक्ति या अर्ध-उक्ति दोष नहीं है।

उदाहरणार्थ -

मा	मा	मा	मा
दे		वं	
धा	सा	धा	नी
दे	वं	रू	द्रं
पा	निध	मा	मा
रू	द्रं	दं	दें

3. सम्भाविता गीति -

''संक्षेपितपदा भूरिगुरुः
सम्भाविता मता।।11।।''

अर्थात् संक्षेप किए हुए पदों वाली तथा गुरु बहुत वाली गीति सम्भाविता मानी गई है। सम्भाविता में गुरु अक्षर अधिक होने से पद कम रहते हैं, इसलिए 'संक्षेपितपदा' कही गई है। भरत ने नाट्यशास्त्र में भी इसका वर्णन कुछ इस प्रकार से किया है-

''संम्भाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरससमन्विता।।''

अर्थात् जिस गीति में गुरु अक्षरों की प्रधानता होती है, वह सम्भाविता गीति है। दत्तिल ने अपने ग्रन्थ 'दत्तिलम्' में इसका वर्णन भरत और शारंगदेव के विपरीत किया है-

''वृतौ लघ्वक्षरप्राया गीतिः सम्भाविता स्मृता।''

अर्थात् आवर्तन में लघु अथवा छोटे अक्षरों से अन्य गीति सम्भाविता कही गई है। अर्थात् जिस गीति में लघु अक्षरों का प्रयोग होता है, उसे सम्भाविता गीति कहते हैं। यह वर्णन भरत और शारंदेव के बिल्कुल विपरीत है।

मतंग के अनुसार -

''संक्षिप्ता सम्भाव्यते पदानां यत्र सा सम्भाविता।''

अर्थात समभाव्य पदों में जहाँ संक्षिप्ता है, वहाँ सम्भाविता है। भरत के अन्य वर्णन के अनुसार गुरू अक्षरों से आश्रित सम्भाविता गीति को वृत्ति या वार्तिक मात्र में रखा जाता है और वाद्य-वादन में लघु अक्षरों से युक्त यो पृथुला गीति होती है, उसको दक्षिण मार्ग में रखा जाता है। उदाहरण-

उदाहरण-	धा	मा	मा	रिग
	भ	क्त्या		
	री	गा	सा	सा
	दे	वं		
	नी	धा	सा	नि
	रू		द्रं	
	धा	नी	मा	मा
	वं		दे	

4. पृथुला गीति -

''भूरिलध्वक्षरपदा पृथुला संमता सताम्।।''

अर्थात् जिस गीति में लघु अक्षरों की बहुलता रहती है, विद्वानों के मत में वह पृथुला गीति मानी गई हैं। ह्रस्व अक्षरों का आधिक्य इस गीति का प्रमुख लक्षण है। शारंगदेव ने संभाविता भौर पृथुला गीतियों में केवल पद रचना से सम्बन्धित लक्षण

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.005

दिये हैं। सिंह भूपाल ने गीति कैसी हो? यह भी बताया है। उनके अनुसार पहली कला में चारों पद गाकर, दूसरी कला के बीच के दो पदों को दो-दो बार गाना चाहिए। नाट्यशास्त्र के अनुसार जिसमें अधिकांश पद हूस्व अक्षरों से निर्मित हों, वह पृथुला गीति है। ''पृथुलाख्या च विज्ञेया नित्यं तद वक्षर विवता।'' अथवा ''लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला सम्प्रकीर्तिता।।'' अर्थात् नित्य जहाँ लघु अक्षरों का प्रयोग हो, वहाँ पृथुला गीति है। दत्तिल मुनि के अनुसार-

गुर्वाक्षरैस्तु पृथुला वर्णाढ्या दक्षिणे सदा।।
मार्गेषु ता यथायोगं चतस्रो गीत्यः समृताः।।

दत्तिल के मत के अवलोकन से पता चलता है कि उन्होंने भरत और शारंगदेव आदि के विपरीत अपना मत रखा है। इनके अनुसार गुरु अक्षरों द्वारा उत्पन्न पृथुला गीति होती है जो दक्षिण 'अंग' में सदैव वर्षों के ग्रह वाली मानी गई है। अर्थात् गुरू अक्षर बहुलता अथवा जिस गीति के गान का आधार गुरु अक्षर होते हैं, वह पृथुला गीति है। ऐसा मत अन्य भी कई विद्वानों का हो सकता है, परन्तु, भरत और शारंगदेव आदि के मत ही अधिक मान्य है।

यथा-	मा	गा	री	गा
	सु	र	न	त
	सा	धनि	धा	धा
	ह	र	प	द
	धा	सा	धा	नी
	यु	ग	लं	
	पा	निधप	मा	मा
	प्र	ण	म	त

पदाश्रित गीतियों के तालाश्रित - लक्षण

1. मागधी लक्षणम् -

''यद्वा यथाऽक्षरे युग्मे गुर्वोः प्रथमयोर्यदा।।20।।
एकैकं चित्रमार्गादि प्रयुज्य चगणात्मकम्।
मात्राभिरष्टभिर्युक्तं दक्षिणे धु्रवकाऽऽदिभिः।।21।।
प्रयुज्यते तदा गीतिर्मागधीव्याभिधीयते।''

अर्थात् जब प्रथम ही गुरुओं में से एक-एक को चित्रमार्ग के योग्य (मात्राओं द्वारा) प्रयुक्त करके चार मात्रा वाले गण के रूप में तथा दाक्षिण मार्ग में धु्रव का आदि आठ मात्राओं से युक्त प्रयोग किया जाता है। उसे मागधी गीति कहते हैं।

2.अर्धमागधी लक्षणम् -

''तृतीयं लघु युग्मस्य च्छगणार्धयुतं यदा।।22।।
आद्याभ्यामन्तिमाभ्यां च मात्राभ्यां संप्रयुज्यते।
ततः प्लुतं सार्धगणयुक्तं कृत्वा प्रयुज्यते।।23।।
धुरवकाऽऽदिभिरष्टाभिर्द्विरुक्तान्त्यध्येन च।
तदाऽर्धमागधी ते द्वै तद्वलान्तरेष्वपि।।24।।''

अर्थात् चच्चत्पुट (ऽऽ।ऽ') का तीसरा अवयव लघु जब 6 मात्रा वाले गण के आधे से युक्त होने पर शुरू की दो और अन्तिम दो मात्राओं से सम्यक् रूप से प्रयुक्त किया जाता है, उसके बाद चौथे अवयव प्लुत को (ऽ') छगण और उसके आधे गण से युक्त करके प्रयुक्त किया जाता है तथा इनमें धु्रव का आदि आठ मात्राओं के द्वारा और अन्तिम दो को दो-दो बार कहने पर तब अर्धमागधी गीति होती है। वे दोनो (मागधी और अर्धमागधी) उसी प्रकार अन्य तालों में भी प्रयुक्त की जाती है।

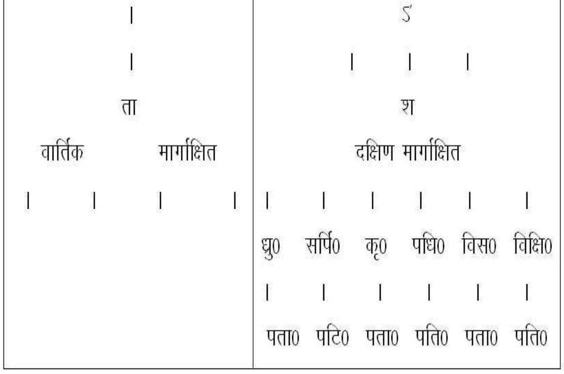

3. संभाविता लक्षणम् -

''संभाविता भूरिगुरूर्दिकले वार्तिके पथि।''

अर्थात् द्विकल (चच्चत्पुट) में वार्तिक मार्ग में बहुल गुरु (।) वाली संभाविता होती है।

4. पृथुला लक्षणम् -

''चतुष्कले भूरिलघुर्दक्षिने पृथुला मता ।।25।।''

अर्थात, चतुष्कल (चच्चत्पुट) में दक्षिण मार्ग में भूरि लघुओं वाली पृथुला मानी गई है।

स्वराश्रित गीतियों के लक्षण-

याष्टिक ने भाषा, विभाषा और अन्तर-भाषा नामक तीन गीतियों का वर्णन अपने ग्रन्थ 'याष्टिक संहिता' में किया है। मतंग मुनि ने बृहद्देशी में याष्टिक संहिता से अनेक उदाहरण उद्धृत किए हैं। उन्होंने ग्राम रागों से भाषा, भाषा रागों से विभाषा, और विभाष। रागों से अन्तर-भाषा रागों की उत्पत्ति मानी है। इन भाषा, विभाषा और अन्तर-भाषा को ही उन्होंने गीति कहा है, और इन्हीं के आधार पर अपने रागों का वर्गीकरण तीन वर्गों में किया है। दुर्गामत के अनुसार पाँच गीतियाँ थी, जिनके नाम शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी वेसरा और साधारणी थे। संगीत रत्नाकर के अनुसार भी स्वराश्रित गीतियाँ पाँच प्रकार की है। प्राचीन शास्त्रकार शार्दूल केवल एक ही गीति मानते हैं। पं0 अहोवल के अनुसार - ''जो राग गीतियों के लक्षणों से युक्त हैं, उन्ही को शास्त्र सम्मत कहा गया है। गीतियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, वेसरा, और साधारणी।''

मतंग ने शार्दूल के नाम से एक गीति भाषा का वर्णन करते हुए कुल सात गीतियों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है-

''इदानीं सम्प्रवक्ष्यामि सप्तगीति मनोहरा:।
प्रथमा शुद्धा गीति स्याद द्वितीया भिन्नका भवेत।।
तृतीया गौडिका चौव रागगीति चतुर्थिका।
साधारणरणीतु विज्ञेया गीति: ज्ञे: पञ्चमी तथा।।
भाषा गीतिस्तु षष्ठी स्याद विभाषा चौव सप्तमी ।
सप्तगीतियो मया प्रोक्ता इदानीं भेद उच्यते।।''

अर्थात् मतंग के अनुसार शुद्धा भिन्ना, गौड़ी, रागगीति, साधारणी, भाषा और विभाषा ये सात गीतियाँ है। शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, वेसरा, साधारणी, भाषा तथा विभाषा में से प्रथम पाँच में ग्राम राग और शेष में देशी रागों का वर्णन मिलता है। शास्त्रों में स्वराश्रिता गीतियों की चर्चा रागों की स्वर संरचना तथा विभिन्न स्वर प्रयोगों की दृष्टि से की गई है। संगीत रत्नाकर के अनुसार वर्ण तथा लय से युक्त गान क्रिया गीति है। जैसा की पहले ही वर्णन किया जा चुका है, कि मुख्यरूप से गीतियों के दो भेद है- स्वराश्रित एवं पदाश्रित ।

पदाश्रित गीतियों के लक्षणों का वर्णन हम कर चुके हैं, अब हम स्वराश्रित गीतियों के लक्षणों का वर्णन करेंगे।

1. शुद्धा गीति -

संगीत रत्नाकर के अनुसार शुद्धा गीति वक्रता से रहित और ललित अथवा मनोहर स्वरों से युक्त होती है। शुद्धा गीति में सीधी, कोमल व मधुर ध्वनियाँ प्रयुक्त की जाती है। ये. अहोबल के अनुसार- ''शुद्धा नामक गीति वह है, जिसमें स्वर वक्र होकर लगते हैं। इसमें मूर्च्छना तथा गमक आदि मोहक कणों का प्रयोग नहीं किया जाता। इस गीति का प्रयोग जिन रागों में किया जाता था, उनको साम राग कहते थे। प्रचालित रागों में यमन तथा कल्याण में यह परिप्लावित होती है।

2. भिन्ना गीति -

भिन्ना गीति में वक्र गति से, परन्तु मधुर गमकों के साथ स्वर लगाए जाते हैं। शुद्धा गीति के विपरीत इसका प्रयोग वक्र, सूक्ष्म एवं मधुर

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.005

गमकों के साथ किया जाता है। पं0 अहोबल के अनुसार -

''भिन्ना वक्रैः स्वरैः सूक्ष्मैर्मधुरैर्गम कैर्युता।''

अर्थात् भिन्ना सूक्ष्म व मधुर गमकों से युक्त होती है और इसमें स्वरों का वक्र प्रयोग होता है। सिंहभूपाल द्वारा उद्धृत मतंग मत के आधार पर भिन्ना गीति में भिन्न का अर्थ 'विकृत' है। शुद्धा गीति के सीधे व सरल स्वरों की अपेक्षा वक्र और सूक्ष्म स्वरों के प्रयोग को विकार मानकर भिन्न गीति का लक्षण दिया गया है। अतः जिसमें लालित्य पूर्वी गमकों का प्रयोग हो, वह भिन्ना गीति है। भिन्ना गीति में स्वरों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव करना पड़ता है। भिन्ना गीति अपनी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। अधुना प्रसिद्ध गौड़ सारंग आदि रागों में यह परिलक्षित होती है।

3. गौडी गीति-

तीन स्थानों में गाढ़ गमको के द्वारा 'ओहाटी' से ललित स्वरों के द्वारा तीनों स्थानों में अविछिन्न रूप से रहने वाली अथवा प्रयुक्त होने वाली गीति को विद्वान गौड़ी कहते है। गौड़ी गीति में ओहाटी का विशेष स्थान है, जिसमें हृदय पर ठोड़ी को टिका कर कम्पित गमक से युक्त, द्रुत गति, किन्तु मृदु रीति से मन्द्र स्वरों का उच्चारण किया जाता है। गौड़ी गीति में नियमित रूप से कम्पन व गमक के साथ तीनों सप्तकों में स्वर लिए जाते हैं। पं0 अहोवल के अनुसार आरोहण-अवरोहण दोनों के द्वारा तीनों स्थानों में जो सुशोभित होती है, वह गौड़ी है। कल्लिनाथ ने कहा है, कि इसमें 'ही' अथवा 'हो' के अनुकरण की प्रतीति होती है तथा गौड़ प्रदेश के वासियों को प्रिय होने के कारण इस गीति की संज्ञा गौड़ी है। साधारण अर्थ में वह गायन शैली जिसमें तीनों स्थानों में गम्भीर गमकों का प्रयोग होता हो, उसे गौड़ी गीति कहते हैं। जिन रागों में मन्द्र स्थानों में आंदोलित गमकों का प्रयोग होता है, उनमें इस गीति का रूप दृष्टिगत होता है, जैसे कान्हड़ा तथा मल्लार आदि।

4. वेसरा गीति -

वेसरा गीति में आन्दोलन के साथ स्वरों को द्रुत लय में गाया जाता है। आरोही- अवरोही, स्थायी और संचारी इन चार वर्णों में अत्यन्त रंजकता से वेगवान अर्थात् द्रुत गति में प्रयुक्त स्वरों के द्वारा राग गीति का निर्माण होता है। बुद्धिमान व्यक्ति इसको वैसरा नाम से भी पुकारते हैं। इसकी वेसरा संज्ञा सार्थक है, क्योंकि इसमें स्वरों का वेग से प्रयोग किया जाता है। 'वेगस्वरा' का ही अपभ्रंश रूप 'वेसरा' है। मतंग में इसको राग गीति कहा है। कल्लिनाथ के अनुसार विशिष्ट प्रकार के स्वर प्रयोग से यह राग की आश्रयभूत गीति है, इसलिए इसको राग नीति कहा गया है।

5. साधारणी गीति-

साधारणी गीति में अपनी कोई विशेषता न होकर ऊपर की चारों गीतियों का मिश्रण रहता है। संगीतात्नाकर के अनुसार- ''चतुर्थीतिगतं लक्ष्माश्रिता साधरणीमता''।। अर्थात चारों गीतियों के मिश्रण से साधारणी गीति का निर्माण होता है। कल्लिनाथ ने शुद्धकैशिक ग्राम की व्याख्या में भरत के कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। उनमें पूर्व रंग में शुद्धा, प्रस्तावना में भिन्ना, मुख और प्रतिमुख सन्धि में वेसरा, गर्भ सन्धि में गौड़ी तथा अवमर्श और निर्वहरण सन्धियों में साधारणी गीति का प्रयोग कहा गया है। साधारणी गीति में स्वरों का ललित तथा सूक्ष्म गमकों सहित प्रयोग होता है। जब एक गीति में भिन्न-भिन्न गीतियों का मिश्रण हो, तो वही साधारणी गीति है। ख्याल गायन शैली को साधारणी गीति का विन्यास मात्र माना जाता है। इसमें सभी गायन शैलियों के अनुपम विन्यास का प्रयोग मिलता है।

6.भाषा गीति -

भाषा गीति में काकू का विशेष योग रहता था और इनमें मधुर, परन्तु स्पष्ट रूप से ध्वनियाँ प्रयुक्त की जाती हैं।

''शलक्षणै: काकुरक्तै: सुयोजितै: कम्पितै: कौम-लैर्दीप्तैर्मालिवी काकुनान्वितै:।
लालतै: सुकुमारैशच प्रयोगैश्च: सुसंयतै: भाषागीति: समाख्याता।।

अर्थात, सूक्ष्म, मृदु, सुनियोजित, रंजककाकुओं, दीप, कम्पित एवं ललित स्वर समूहों से युक्त, सुसंयत तथा सुकुमार प्रयोगों से निर्मित गीति 'भाषा गीति' कही जाती है। इस गीति में अन्य विशेषताओं से युक्त सुसंयत दीप्ति युक्त काकुओं के प्रयोग की प्रधानता है, जिनका उल्लेख अन्य पाँच जीतों अथवा गीतियों में नहीं है।

7. विभाषा गीति -

विभाषा में जिन ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है, वे सुन्दर, कोमल व शान्त तथा विभिन्न प्रकार की गमकों से सुसज्जित होती हैं। मतंग मुनि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है -

> *"लालतैबहुभिदप्ति: कम्पितै-रौ रसै: समै:।*
> *तारातितारैर्भसृणर्मध्ये मध्यमदीपितै:।।*
> *गमकै: श्रोत्रसुखदैललितैस्तु यदृच्छया।*
> *विभाषा गीति संयोज्या।''*

इस गीति के लक्षणों में अन्य गीतियों से विभिन्नता तारातितार स्वरों के प्रयोग एवं इच्छानुसार गमकों की रसानुकूल योजना में दिखाई देती है। रसानुकूल योजना इस गीति की प्रमुख विशेषता है। मतंगाचार्य के भाषा-विभाषा गीतों में रस एवं भाव की प्रधानता है। इस प्रकार मतंग ने पाँच की अपेक्षा सात गीतियाँ मानकर उनका वर्णन किया है। शारंगदेव ने गीतियों के सामान्य लक्षणों के पश्चात् उनके तालाश्रित लक्षणों का भी वर्णन किया है।

इस प्रकार इन गीतियों की संख्या समय के साथ-साथ विभिन्न शास्त्रकारों के मतानुसार व विभिन्न व्याक्तियों के गायन के अनुसार बदलती गई। इस वर्णन को देखते हुए हम अनुमान लगा सकते हैं कि इन गीतियों के मूल तत्त्व आज की गायन शैलियों में भी भिन्न-भिन्न प्रमाण में दिखाई पड़ते हैं। ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी तथा टप्पा आदि शैलियों के स्वर प्रयोगों में तथा विभिन्न रागों की स्वर संरचना में इन गीतियों के तत्व स्पष्टत: देखे जा सकते हैं। अनेक परिवर्तनों के पश्चात् भी ख्याल के विकास में गीतियों के प्राचीन तत्वों का योगदान दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों के अनुसार शुद्धा गीति में ध्रुपद, भिन्ना में टप्पा, गौड़ी में ठुमरी, वेसरा में धमार और साधारणी गीति में ख्याल गायन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। अत: कहना अनुचित न होगा कि प्रत्यक्ष रूप से गीतियों का वर्तमान समय में लोप हो चुका है, परन्तु, अप्रत्यक्ष रूप से ये आज भी हमारे संगीत में गायन-वादन की विभिन्न शैलियों में विद्यमान हैं।

सदर्भ ग्रन्थ सूची -

संगीतरनाकर (प्रथम अध्याय)

1. भारतीय संगीत का इतिहास- डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे (एम.ए. संस्कृत-हिन्दी), पी. एच.डी., एल. एल. बी., वाद्यविशारद), प्रकाशन-चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
2. भारतीय संगीत का इतिहास- डॉ० ठाकुर जयदेव सिंह सम्पादिका (प्रेमलता शर्मा) विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
3. संगीत रत्नावली- डॉ० अशोक कुमार 'यमन' (पी. एच. डी.), प्रकाशन - अभिषेक पब्लिकेशन चण्डीगढ़, नई दिल्ली
4. संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त- सुभाष रानी चौधरी, प्रकाशन- कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली-110002

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.006

साम संगीत

डॉ० के० ए० चंचल*, बागीश पाठक**

सारांश

चारो वेदों में सामवेद का सांगीतिक दृष्टि से एक विशिष्ट स्थान है। सामवेद ही वह ग्रन्थ है जिसके रूप में भारतीय संगीत-सरित् के अनादि स्रोतों का दृश्य स्वरूप हमारे समक्ष प्रथम बार दृष्टिगत होता है। विद्वतजनों ने साम के अनेक अर्थ बताए हैं जैसे- सामयति इति सामा अर्थात् साम इसलिए साम है क्योंकि वह मानव का दैवी शक्तियों से संवाद सम्पन्न कराता है। जैमिनिय सूत्र के अनुसार, गीतिषु सामाख्या अर्थात् गीति अथवा गीत को ही साम कहा जाता है। श्रीमद्भागवत गीता में वेदानां सामवेदोस्मि कहकर साम के महत्व को बताया गया है। सत्तार्थक विद् धातु से विद्यते इति वेद: निष्पन्न होता है। अर्थात् जिसकी सत्ता है, जो वर्तमान है वह वेद है।

की-वर्ड - साम, संगीत, वेद, गान

प्रणव या ओंकार को सब वेदों का सार माना गया है। इस प्रणव का पर्याय सामवेद में उद्‌गीथ है। सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य उपनिषद में साम की निरुक्ति 'सा+अम' द्वारा बताया गया है। उसमें वर्णित है कि आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सभी स्तर पर सा और अम के संवाद से ही विश्व का संगीत चलायमान है। ऋक् और साम, शब्द और छन्द, वाक् और प्राण, बिन्दु और नाद, केन्द्र और परिधि एक दूसरे के पूरक हैं। इन्हीं दोनों का पारस्परिक संवाद सामत्व है। सम्पूर्ण सष्टि संगीतशास्त्र में पद और गेय तत्त्व के लिये क्रमश: मातु और धातु संज्ञाओं का प्रयोग प्राप्त होता है। यह दोनों संज्ञाएँ वाग्गेयकार की परिभाषा में निहित हैं। मातु अर्थात् साहित्य या काव्यपक्ष तथा धातु अर्थात् संगीतात्मक- स्वर, लय, ताल आदि। साम केवल ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का गान है, अन्य वेदों के मन्त्रों का नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों का स्वर निबन्धन ही साम है। इसीलिये कहा गया है- या ऋक् तत् साम अर्थात् - जो ऋक् है, वही साम है। साम ने कहीं अन्यत्र से साहित्य लेकर उसका स्वरों में ग्रंथन नहीं किया है अपितु उसने ऋग्वेद की ऋचाओं को लेकर ही उन्हें गान में परिवर्तित किया है। ऋग्वेद की ऋचाएँ सामवेद की योनि अथवा आधार कहलाती हैं। आधुनिक गायकों की भाषा में हम उसे कहते हैं कि- सामवेद ने बोल (शब्द) ऋग्वेद से लिया है और उनकी स्वरों में बन्दिश (निबन्धन) अपने ढंग से की है। संगीतशास्त्र के शब्दों में हम कह सकते हैं कि सामवेद ने मातु (बोल) ऋग्वेद से लिया है

* शोध निर्देशक, सह-आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

और धातु (स्वर) स्वयं दिया है। अत: साम की विशेषता मन्त्रों या पदों में नहीं है, उसकी विशेषता गान या स्वर में है।

वेदों में साम संगीत का पर्यायवाची है। साम ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का गान है, अन्य वेदों के मन्त्रों का नहीं। ऋचि अध्यूढं साम अर्थात् साम ऋक् पर अधिष्ठित है। ऋग्वेद के मन्त्रों का शब्द निबन्धन ही साम है। इसीलिए कहा है- 'या ऋक् तत् साम' अर्थात् जो ऋक् है वही साम हैं। साम ने ऋग्वेद की ऋचाओं को लेकर उन्हें गान में परिवर्तित किया है। ऋग्वेद की ऋचाएँ सामवेद का आधार हैं। साम का मूल स्वर में निहित है। साम के लिए प्राय: तृच संज्ञा का प्रयोग किया गया है। तीन ऋचाओं के समुच्चय को तृच कहते हैं। इस तृच के आधार पर ही साम का गायन होता था।

सामवेद के दो भाग हैं पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। एक आरण्यक संहिता भी है जिनमें गेय मन्त्रों का संग्रह मात्र हैं। पूर्वार्चिक के छः प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक के दो अर्ध है। उन अर्धों की दस दशतियाँ हैं। पूर्वार्चिक में कुल 585 ऋचाएँ हैं। उत्तरार्चिक के नव प्रपाठक हैं। उनमें से प्रथम पाँच के दो-दो अर्ध हैं। शेष चार प्रपाठकों में से प्रत्येक के तीन अर्ध है। उत्तरार्चिक में कुल 1225 ऋचाएँ हैं।

सामवेद की 12-13 शाखाएँ थीं। परन्तु उनमें से वर्तमान समय में केवल तीन शाखाएँ ही मिलती हैं। इन तीन शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं- (1) राणायनीय शाखा (2) कौथुमीय शाखा और (3) जैमिनीय शाखा।

सामवेद के द्विविध ग्रन्थ हैं। आर्चिक ग्रन्थ तथा गान ग्रन्थ। आर्चिक ग्रन्थ साम के साहित्य मात्रा का संकेत करते हैं, जबकि गान ग्रन्थ साम के स्वरमय के द्योतक हैं। आर्चिक ग्रन्थों की तुलना आधुनिक परिभाषा में संगीत के ऐसे गीत ग्रन्थों से की जा सकती है जिनमें केवल स्वरविरहित चीजों का संकलन होता है।, गान ग्रन्थों की तुलना स्वरलिपि सहित चीजों के साथ की जा सकती है। ये गान ग्रन्थ चतुर्विध बतलाए गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं। यथा- 1) ग्रामगेयगान 2) आरण्यक गान 3) ऊहगान 4) ऊह्यगान। इनमें से प्रथम दो ग्रामगेयगान तथा आरण्यक गान को योनिगान कहा है तथा बाद के दो ऊहगान तथा ऊह्यगान को विकृति गान कहा है। इन गानों में जो पूर्वार्चिक की ऋचाओं के आधार पर जो साम बने उन्हें ग्रामगान, ग्रामगेयगान, प्रकृतिगान अथवा गेयगान कहा गया। जो आरण्यक संहिता की ऋचाओं के आधार पर साम बने उन्हें अरण्यगेय अथवा अरण्येगेयगान कहते हैं तथा जो उत्तरार्चिक की ऋचाओं के आधार पर साम बने ऊहगान कहते हैं। ग्रामगेयगान का गान बस्तियों में किया जाता था। अरण्यगेयगान का गान ग्राम से अलग अरण्य या वन में किया जाता था। ये रहस्यगान या रहस्यगेयगान भी कहलाते थे। क्योंकि इनमें दैवीय शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने का रहस्य था। ऊह या ऊह्यगान यज्ञों में गाने के लिए थे।

साम के पंचविध भाग निम्नवत् हैं-

1. प्रस्ताव -

यह प्रारम्भिक भाग है साम का, जिसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज गाते हैं। यह भाग हुम् से प्रारम्भ होता है, जो कि हिंकार का स्वरूप है। साम के प्रारम्भ में सभी ऋत्विज एक साथ हिंकार का गान करते हैं। ताण्डव ब्राह्मण के शब्दों में- एष वै साम्नां रसो यद्धिकारो यद्धिकृत्य प्रस्तौति रसेनैवेत्ता अभ्युद्य प्रस्तौति अर्थात् हिंकार का व्यवस्थित तथा स्वरमेल गायन प्रस्ताव नामक खण्ड को गति एवं खोज प्रदान करता है। प्रस्ताव के अक्षरों

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.006

की संज्ञा भिन्न-भिन्न सामों में भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। जैसे योक्ताश्व आदि दश सामों में प्रस्ताव द्वयक्षर हुआ करता है, सप्तदश सामों में प्रस्ताव चतुरक्षर सोम, गायत्री, कौंच आदि हुआ करता है।

2. उद्गीथ -

इसके प्रारम्भ में ओम् गाया जाता है जिसे साम का प्रधान ऋत्विज उद्गाता गाता है। यह विभाग साम का अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सर्वशामोंकारेणोद्गीयादानम् अर्थात् सभी स्तोत्रों में उद्गीथ विभाग का गान प्रणव अथवा ओंकार से किया जाना आवश्यक है, चाहे साम की अक्षरवृद्धि उसमें क्यों न हो।

3. प्रतिहार -

प्रतिहार अर्थात् दो विभाग को जोड़नेवाला। इस विभाग का गायक प्रतिहर्ता कहलाता है जिसके कभी-कभी दो उपविभाग भी किये जाते हैं।

4. उपद्रव -

इसका गान उद्गाता अर्थात् मुख्य सामगायक करता है जो प्रतिहार के दो विभागों में से यह अन्यतम है। मुख्य प्रतिहार का गान प्रतिहर्ता के द्वारा किये जाने पर उसी का खण्डशः गान मुख्य उद्गाता पुनः करता है। यही खण्ड उपद्रव कहलाता है।

5. निधन -

निधनं नाम पंचभिः सप्तभिर्वा भागैरूपेतस्य साम्नोऽन्तिमों भागः (सायण, सामवेद भाष्य, पृ. 54) अर्थात् साम पंचभक्तिक हो या सप्तभक्तिक हो निधन उसका अन्तिम विभाग हुआ करता है। प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता तीनों ऋत्विज एक साथ मिलकर इस साम के अन्तिम खण्ड को गाते हैं।

निधनानि तावत् द्विविधानि-अन्तर्निधनानि...... बहिर्निधनान्यपि सूक्त एवोक्तानि (सायण, ताण्डय०, 10/10/1) अर्थात् इसमें किये जाने वाले शब्दालापों के अनुसार निधन द्विविध बताया गया है। (1) अन्तर्निधन, (2) अहिर्निधन।

सामवेद के स्वर -

सामवेद के संहिता पाठ में पाँच प्रकार के स्वरों का वर्णन मिलता है। उदात, अनुदात, स्वरित, प्रचय और सन्नतर। प्रचय और सन्नतर एक प्रकार से स्वरित के ही अंग है। नारदीय शिक्षा में साम के स्वरों का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है-

प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽय चतुर्थकः।
मन्द्र क्रुष्टों हप्तिस्वार एतान कुर्वन्ति सामग्राः।।
(नारदीय शिक्षा 1.1.12, मैसूर संस्करण)

अर्थात् प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, क्रुष्ठ और अतिस्वार आदि स्वरों के माध्यम से साम का गान किया जाता है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन चार स्वरों के नाम संख्या वाचक है और मंद्र, क्रुष्ट और अतिस्वार इन तीनों स्वरों के नाम वर्णनात्मक शब्द है। इन दो प्रकार के स्वरों से साम ग्राम के विकास का संकेत मिलता है। वैदिक काल के प्रारम्भ में स्वरों की संज्ञा यम थी।

बर्नेल द्वारा सम्पादित साम विद्यान ब्राह्मण पर सामण से स्पष्ट कहा है- क्रुष्टादय एव यमा उच्चन्ते। अर्थात क्रुष्ट आदि स्वर ही यम कहलाते है। इन यम अथवा स्वरों के एक विशिष्ट समूह को ही सामग्राम कहा गया है। सामग्राम का स्वरूप इस प्रकार हैः- क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र एवं अतिस्वार। यहाँ यह भी महत्वपूर्ण है कि सामग्राम अवरोही क्रम का था। नारदीय शिक्षा के अनुसार सामग्राम का स्वरूप इस प्रकार हैः- म गरे स ध नि प

वैदिक काल में ही स्वरों की षड्ज, ऋषभ तथा गान्धार आदि संज्ञाएँ प्रचार में आ गई थी। प्रातिशाख्यों में तो इनका प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। आदि में सामवेद के यमों के नाम क्रुष्ठ, प्रथम तथा द्वितीय इत्यादि ही थे। आगे चलकर वैदिक विद्वानों ने दो प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग किया। सामग क्रुष्ठ आदि संज्ञाओं का प्रयोग न करके षड्ज आदि का प्रयोग करने लगे और षड्ज आदि को लौकिक और क्रुष्ठ आदि प्राचीन वैदिक काल के स्वर माने जाने लगे। नारदीय शिक्षा के अनुसार- सामगों का प्रथम स्वर वेणु अथवा वंशी का मध्यम स्वर है। जो उनका द्वितीय स्वर है वह वेणु का गंधार स्वर है, जो उनका तृतीय स्वर है वह वेणु का ऋषभ स्वर है, जो चतुर्थ स्वर है, वह वेणु का षड्ज स्वर है। उनका पंचम का निषाद व सातवां स्वर वेणु का पंचम स्वर है। नारदीय शिक्षा के अनुसार सामग्राम का स्वरूप इस प्रकार है:- मगरेसधनिप।

यद्यपि संगीत का मुख्य सम्बन्ध सामवेद से है तथापि ऋग्वेद में भी संगीत विषयक सामग्री वर्तमान है। ऋग्वेद में स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक भेद पाये जाते हैं। वस्तुत: उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर नहीं है अपितु स्वरों के विशेष उच्चारण विधि हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने इन्हें अच् अर्थात् स्वरों का वर्ण-धर्म कहा है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विषय में कहा गया है कि उच्चौरुदात्त:, नीचौरनुदात्त:, समाहार: स्वरित:। अर्थात् जो स्वर ऊँचा उपलब्ध होता है उसकी उदात्त संज्ञा होती है। यहाँ ऊँचा का अर्थ यह नहीं है कि स्वर सुनने में ऊँचा लगे, इसका अर्थ है- स्थानाकृत उच्चत्व। तालु आदि समान स्थान में ऊर्ध्व भाग से जो स्वर निष्पन्न होता है उसकी उदात्त संज्ञा होती है। इसी प्रकार नीचे के भागों से उच्चरित स्वरों को अनुदात्त तथा उदात्त और अनुदात्त का जिस स्वर में समाहार होता है, वह स्वरित कहलाता है। कुछ विद्वान् उदात्त को तार, अनुदात्त को मन्द्र तथा स्वरित को मध्य स्थानक कहते हैं। गान्धर्ववेद के षड्ज आदि सातों स्वरों को याज्ञवल्क्य मुनि ने उदात्तादि से निम्नलिखित रूप में योजित किया है-

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया: षड्जमध्यमपञ्चमा:।।

अर्थात् निषाद और गान्धार उच्च या उदात्त हैं, ऋषभ और धैवत नीच या अनुदात्त हैं और शेष अर्थात् षड्ज, मध्यम और पञ्चम को स्वरित समझना चाहिये।

एक भिन्न परम्परा का प्रदर्शन संगीतराज में दिखायी पड़ता है, वहाँ पर चतु:श्रुतिक स्वरों- षड्ज, मध्यम और पञ्चम को उदात्त; त्रिश्रुतिक स्वरों- ऋषभ और धैवत को स्वरित तथा द्विश्रुतिक स्वरों- गान्धार और निषाद को अनुदात्त कहा गया है।

साम विकार - ये 6 प्रकार के होते है। जो कि निम्नवत् हैं-

1. विकार - अक्षर के परिवर्तन पर आधारित रहता है, जैसे साम की आधारभूत अथवा योनिभूत ऋक् में अग्न के स्थान पर ओग्नायि रूप किया जाता है।

2. विश्लेषण - यह किसी पद अथवा अक्षर का पृथक्करण होता है। मूल ऋक् में वीतये पद है, जिसका विश्लेषण वोयि तोया यि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

3. विकर्षण - ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ तथा दीर्घ के स्थान पर प्लुत का उच्चारण विकर्षण कहलाता है, जैसे मूल ऋक् के ये इस स्वर के स्थान पर या यि इस प्रकार दीर्घ कर्षणयुक्त उच्चारण इसके अन्तर्गत है।

4. अभ्यास - किसी पद के बारम्बार उच्चारण के लिये यह संज्ञा है, जैसे तोयायि।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.006

तोयायि। प्रतीत होता है कि यह द्विवार उच्चारण विभिन्न स्वरों के साथ किया जाता रहा हो।

5. विराम - गानसौकर्य के लिये किसी पद के बीच में विराम करना अथवा ठहर जाना इस विकार का कारण होता है, जैसे गृणानो हव्यदातये के स्थान पर गृणानोह तथा व्यदातये इस प्रकार विरामपूर्वक गायन किया जाता है। यहां गृणानोह इस स्थान पर वास्तविक पदान्त न होते हुए गान-सौकर्य के लिये पद के मध्य में ही विराम किया गया है। सम्भवत: गान के समय पर वास की सुविधा के लिए इस शब्दच्छेद से उत्पन्न विराम की योजना हुई हो।

5. स्तोभ - ऋक् के अतिरिक्त अवान्तर वर्गों अथवा अक्षरों का प्रयोग स्तोभ कहलाता है, जो कि गानालाप की सुविधा के लिए किया जाता है-जैसे हाउ तथा औहोवा इत्यादि पद। सायण के अनुसार स्तोभ की व्याख्या निम्नानुसार है- अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षणवर्णस्तोभ:। उनके अनुसार प्रकृ-तार्थ से असम्बद्ध तथा केवल कालक्षेप के लिये जिस शब्दराशि का प्रयोग किया जाता है, वही स्तोभ है- ष्प्रकृतार्थानन्वितं कालक्षेपमात्र हेतुं शब्दरा शिम् । पुष्पसूत्र के अनुसार साम के अन्तर्गत निम्न द्विविध पदों का प्रयोग होता है- (1) आर्चिक अर्थात् ऋक् सम्बन्धी पद तथा (2) स्तोभिक अर्थात् ऋग्व्यतिरिक्त पद। स्तोभ वर्षों का सामगान में विशेष महत्व है।

स्तोभ का विशेषरूपेण विवेचन प्राप्त है। स्तोभानुसंहार नामक परिशिष्ट ग्रन्थ में स्तोभ तीन प्रकार का बतलाया गया है- (1) वर्णस्तोभ, जैसे इकारादि, (2) पदस्तोभ, जैसे हाउ इत्यादि तथा (3) वाक्यस्तोभ।

वस्तुत: स्तोभ आलाप-प्रकार है, जो प्राय: इसी रूप में जगत की सभी संगीत प्रणालियों में पाये जाते हैं।

निष्कर्ष -

भारतीय परम्परा में अनादि काल से ही यह विश्वास है कि वेद अपौरुषेय है। इसकी रचना किसी मनुष्य के द्वारा नहीं हुई है। यह सनातन है, शाश्वत है।

संदर्भ-

1. कश्यप, आर. एल. (2003). सामवेद और उसका संगीत: मूल तत्व। बेंगलुरु: साक्षी ट्रस्ट।
2. थेरो, एल. एस. (2022). सामवेद का एक अध्ययन। जर्नल ऑफ लैंग्वेज स्टडीज़, 6(1), 1–15. https://doi.org/10.4038/jls.v6i1.1
3. त्यागी, वाई. (2021). वैदिक कालीन 'साम' संगीत: एक अवलोकन। लीडरशिप, एजुकेशन, पर्सनैलिटी: एन इंटरडिसिप्लिनरी जर्नल.
4. सातवलेकर, एस. डी. (सम्पा.). (2010). सामवेद संहिता। परडी: स्वाध्याय मंडल।
5. बापटशास्त्री, के. एम. (2015). सामवेद (अनुवाद एवं व्याख्या)। पुणे: गजानन बुक डिपो।
6. शारदा पीठम् (सम्पा.). (2018). सामवेद उह-उह्य गानम् (खंड 1–2)। श्रृंगेरी: शारदा ग्रंथालय।
7. विडेस, आर. (1995). प्राचीन भारतीय संगीत के राग: गुप्तकाल से 1250 ई. तक की परंपरा। ऑक्सफोर्ड: क्लैरेंडन प्रेस।
8. रोवेल, एल. (1992). प्राचीन भारत में संगीत और संगीत-चिंतन। शिकागो: यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
9. पॉप्ले, एच. ए. (1921). भारत का संगीत। लंदन: वाई.एम.सी.ए. पब्लिशिंग हाउस।
10. वेदव्यास (अनु.). (2000). सामवेद। दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।

मृण्मय लोकवाद्यों की चरणबद्ध निर्माण प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन

प्रो. पुष्पम नारायण*, डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज**

आभार

लेखक भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली की योजना कोड-0877 के अंतर्गत वृहद् अनुसंधान परियोजना हेतु प्रदत्त वित्तीय सहायता प्रदान करने लिए आभारी हैं। यह शोधपत्र इसी परियोजना की एक शैक्षणिक गतिविधि है। लेखक आँकड़ों के संग्रहण में सहायता के लिए अनुसंधान सहायक के भी आभारी हैं।

सारांश

भारतीय लोकसंगीत में मृदा-निर्मित लोकवाद्यों का विशेष महत्त्व रहा है। लोकवाद्य भारतीय संगीत की समृद्धि तथा सांस्कृतिक विरासत के प्रतीक माने जाते हैं। इनकी धार्मिक तथा सामाजिक पहचान भी किसी से छिपी नहीं है। यह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक भारतीय के जीवन और दिनचर्या से अनिवार्यत: जुड़ा हुआ है। दिन के प्रारंभ के समय मंदिरों में होने वाली पूजा-अर्चना या आरती के समय आने वाले वाद्ययंत्रों की ध्वनि में, आते-जाते सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजनों के अनुष्ठान, उत्सव, आयोजन से जुड़े हुए अवसरों पर प्रयुक्त लोकसंगीत की ध्वनियों से आने वाली ध्वनियों से निकली तरंगें हमारे अवचेतन तथा अचेतन मन के मनोविज्ञान तथा मस्तिष्क को तरंगायित करते हुए अनजाने में ही हमें विकारमुक्त कर देने की क्षमता रखती हैं। इन आयोजनों में शामिल होने वाले श्रोताओं तथा प्रत्यक्षदर्शियों को ये लोकवाद्य अपनी सुमधुर ध्वनि उसे उल्लसित करते हुए भावनात्मक संतुष्टि प्रदान करते हैं।

उत्तरभारतीय ग्रामीण तथा जनजातीय क्षेत्रों के लोकसंगीत में प्रयुक्त मटकी तथा दक्षिण भारतीय संगीत में प्रयुक्त घड़े की आकृति का लोकवाद्य घटम ऐसे ही लोकवाद्य हैं। इन लोकवाद्यों का निर्माण स्थानीय सुलभता से उपलब्ध सामग्रियों जैसे बाँस, लकड़ी, चमड़ा, धातु, मिट्टी आदि से किया जाता है जिसके कारण इनकी लागत भी कम होती है और ये पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से उपयोगी भी होते हैं। निर्माण सामग्री में मिट्टी के उपयोग से मनचाहे आकार तथा आकृति के वाद्ययंत्र बनाए जा सकते हैं। इतने सुविधाजनक होने के बावजूद इन लोकवाद्यों के उपयोग तथा प्रचलन में समय के साथ कमी आती जा रही हैं। इस कमी के परोक्ष कारणों में इसके संरक्षण संबंधी कई चुनौतियों का होना एक बड़ा कारण है, जिनके विश्लेषणात्मक अध्ययन को इस शोधपत्र के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तावना- *मिट्टी का मनुष्य, पादपों तथा जीवों के अस्तित्व से उतना ही प्राचीन संबंध रहा है जितना इस*

* संकायाध्यक्ष,ललित कला, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,दरभंगा, बिहार

** सहायक प्राचार्य हिंदी, मारवाड़ी महाविद्यालय, दरभंगा, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.007

ब्रह्माण्ड से पंचतत्त्वों का। शायद यही कारण है कि भारतीय संगीतकला के शास्त्रीय, लोक तथा जनजातीय तीनों ही पक्षों के लोकसंगीत से संबंधित लोकवाद्यों का मिट्टी से जुड़ाव पुरातन काल से चला आ रहा है। सिंधुघाटी की सभ्यता की प्रारंभिक पुरातात्त्विक खुदाई से लेकर वर्त्तमान में हो रही आर्कियोलॉजिकल साइटों तक मृण्मय लोकवाद्यों के अवशेषों की प्राप्ति आदि इन लोकवाद्यों की उपयोगिता तथा महत्त्व स्वत: सिद्ध करती है। टेराकोटा, पोट्री या मृण्मय पात्रों से निर्मित लोकवाद्य भारतीय संगीत के अनिवार्य उपकरण रहे हैं। जिनपर किया जाने वाले अध्ययन इनके निर्माण, उपयोग तथा वादन की पारिस्थितिकी, वैज्ञानिकता, ध्वनि विज्ञान, चिकित्सा, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक उपयोगिता की परतों को धीरे-धीरे खोल रहे हैं। वेदों में ध्वनियों को कॉस्मिक ऊर्जा तथा ईश्वरीय तेज से जोड़कर देखा गया है। यही ऊर्जा तथा तेज भारतीय वाद्ययंत्रों के निर्माण, उपयोग तथा वादन के माध्यम से भारतीय संगीत परंपरा द्वारा लोककल्याण से मानव कल्याण करती रही है।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार संगीत वाद्यों को चार प्रकारों तत, सुषिर, अवनद्ध, और घन में वर्गीकृत किया गया है, इनमें से प्रत्येक प्रकार के वाद्य में से किसी न किसी में मिट्टी का उपयोग येन-केन-प्रकारेण मिलता ही मिलता है। इस ग्रंथ के प्राचीन साहित्यिक संदर्भ दर्शाते हैं कि मृण्मय लोकवाद्यों का उपयोग केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं है; बल्कि ये भारतीय सामाजिक संरचना और धार्मिक अनुष्ठानों के घटक के रूप में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते आए हैं। टिमकी मध्यप्रदेश के जनजातीय समुदायों में प्रचलित मिट्टी के छोटे आकार के ढोलनुमा पात्र में चर्म की गढ़ाई से बनाया गया लोकवाद्य है जो कमर में बाँधकर अथवा भूमि पर रखकर ताल या थाप देते हुए बजाया जाता है।

माँदर भारत की अधिकांश जनजातियों विशेष रूप से उड़ीसा में सामुदायिक लोकनृत्य तथा लोकगीतों के दौरान प्रयुक्त किया जाने वाला तालवाद्य है जो चिकनी मिट्टी तथा चमड़े से बनाया जाता है। इसी प्रकार मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश के बुंदेलखंड-क्षेत्र में मिट्टी का रमतूला, बाँसुरी, ढोलक, तबला आदि सुरीले लोकवाद्यों का प्रचलन है। देश की लोक सांस्कृतिक विविधताओं के अनुसार अलग-अलग क्षेत्रों में होने वाले आयोजनों में मिट्टी से निर्मित घंटी, शंख, ढोल आदि लोकवाद्यों का ताल, थाप, सुषिर, गूँज, कंपन आदि से निर्मित कंपन या तरंगों से उत्पन्न होने वाली ध्वनि से निर्मित संगीत की मधुरता के लिए प्रयोग किया जाता है। इनकी कसावट में अधिकता या शिथिलता, नमी या शुष्कता, गर्म या ठंडक, छेदों को बंद या खुला, अंगुली या हथेली की चोट को कम या अधिक करते इनकी ध्वनियों को नियंत्रित करते हुए कम या ज्यादा, भारी या पतला किया जाता है।

इनमें कई लोकवाद्य ऐसे होते हैं जो एकल या सामूहिक तौर पर अथवा सामुदायिक आयोजनों के अवसर पर अन्य वाद्ययंत्रों के साथ संगत देते हुए संगीत की मधुरता में वृद्धि कर देते हैं, कई ऐसे हैं तो अकेले प्रयुक्त होकर सुरीली लोकधुनों को निर्मित करते हैं तो कई ऐसे हैं जो भावनात्मक तीव्रता, रोमांच तथा प्रभावशीलता में वृद्धि या कमी के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। इन लोकवाद्यों की पर्यावरण के प्रति अनुकूलनता इनकी एक अन्यतम विशेषता होती है। इस प्रकार मृण्मय लोकवाद्य स्थानीय या क्षेत्रीय पहचान तथा सांस्कृतिक महत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन खेद का विषय है कि समय के साथ इनका स्थान इलेक्ट्रॉनिक या अन्य सामग्रियों से बने वाद्य लेते जा रहे हैं। यह लोकवाद्यों के सामने एक बड़े संकट के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसके समाधान के अभाव में धीरे-धीरे इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

बीज शब्द- मृण्मय-लोकवाद्य, लोकसंगीत, माँदर, टिमकी, घुमोट, घटम।

उपलब्ध सामग्री- हिमाचल प्रदेश का जनजातीय लोक संगीत(सूरत ठाकुर), भारतीय लोककला: छत्तीसगढ़ के संदर्भ में (नीलिमा गुप्ता), लोक संगीत: संरक्षण, संवर्धन एवं संभावनाएँ(वीणा श्रीवास्तव), मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में प्रचलित 'वाद्य'(ओस सत्संगी), कला एवं सांस्कृतिक कार्य विभाग, हरियाणा सरकार, द सिरेमिक स्कूल, नॉक सेंस।

प्रविधि- तथ्याख्यानपरक विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि।

परिणाम एवं विमर्श- अनुष्ठान, मनोरंजन, आयोजन तथा नृत्यादि के अवसरों पर लोकसंगीत का प्रयोग निर्विवाद रूप से भारतीय संगीत की पहचान रहा है। वैदिक तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों की मानें तो भारत में लोकवाद्य न केवल सामुहिक रूप से लोकसंगीत के बल्कि आध्यात्मिक तथा चिकित्सकीय अनुप्रयोगों के लिए भी प्रयुक्त किए जाते रहे हैं। ये अनुप्रयोग लोकवाद्यों की प्रकृति तथा संरचना पर निर्भर करते हैं। सर्वविदित है कि लोकवाद्यों के वादन के विधानानुसार इन्हें कभी गोदी में, कभी पेट के सहारे, कभी होंठों पर, कभी मुँह से सटाकर, कभी हाथों से ताल या थाप देकर, कभी बाँस या लकड़ी से तो कभी तंतु से उत्पन्न वायु के आयतन को नियंत्रित कर तथवा तान छेडकर उत्पन्न कंपनों से निसृत ध्वनि को नियंत्रित करते हुए बजाया जाता है। प्राचीनकाल से ही इनका प्रयोग भारतीय संगीत में प्रचलित रहा है। संभवत: ''विश्व का कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जहां लोकवाद्यों का प्रचलन न हो। जिस प्रकार लोकगीत पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा से निरन्तर चलते रहते हैं, उसी प्रकार लोकवाद्य भी पीढ़ी दर पीढ़ी सुनने तथा यादगार के माध्यम से निरन्तर विद्यमान रहे हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि लोकवाद्यों का प्रचलन उतना ही प्राचीन है जितनी मानव जाति।''1 पुरातत्त्व खुदाई में कच्छ में जलोढ़ मिट्टी से निर्मित 'भोरिंडो' जैसे लोकवाद्यों का मिलना इनकी व्यापकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है यह सुषिर लोकवाद्य की श्रेणी का वाद्य है जो मिट्टी की खोखली की कंदुकनुमा आकृति का वाद्य होता है जिसमें समद्विबाहु त्रिकोणीय छिद्र बने होते हैं। इससे निकलने वाली ध्वनि सुरीली बाँसुरी के समान होती है, प्राचीनकाल में इसका प्रयोग चरवाहा समुदाय के युवाओं द्वारा गऊएँ चराने के क्रम में बजाया जाता था।

लोकवाद्यों के निर्माण की प्रक्रिया को आध्यात्मिकता तथा दर्शन की दृष्टि से देखें तो हम पाएँगे कि इनके निर्माण में मृदा तत्त्व को जल तत्त्व से मिश्रित करके सूर्य की ऊर्जा के आकश तत्त्व को लेकर छायादार वायु की सहायता से सुखाने के बाद भट्टी के अग्नि तत्त्व में पकाया जाता है तो यह उसी पार्थिवता को ग्रहण करती है जिसे आध्यात्मिक साधना या कुंडलिनी शक्ति अथवा आष्टांग योग द्वारा साधु, संत, महात्मा, योगी सदियों से जानने का प्रयास करते आए हैं। शायद यही कारण है कि भारतीय ज्ञान परंपरा में कलाओं (विशेष रूप से संगीत कला को) ईश्वर की आराधना से जोड़ा गया है। घुमोट तथा म्हादलेम की भाँति मध्यप्रदेश में टिमकी, जनजातियों में माँदर तथा समूचे भारतवर्ष में ढोलक के रूप में प्रयुक्त लोकवाद्य इसी श्रेणी के वाद्ययंत्र हैं। जिन्हें थोड़े बहुत प्रकारांतर से लकड़ी, बाँस, धातु या मिट्टी से निर्मित पात्र पर पूरी कसावट के साथ चढ़ाए हुए चमड़े से विशेष विधि से निर्मित किया जाता है। ''मॉदर का खोल (मिट्टी का कुंडा) कुम्हार मिट्टी को पकाकर बनाता है। इस पर बकरे का चमड़ा मढ़ा जाता है। ढोल की अपेक्षा मॉदर के स्वर अधिक मादक तथा मधुर होते हैं। सैला, करमा तथा रीलो नृत्य में यह आवश्यक वाद्य है। बाइसन

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.007

हार्न (सींग मुकुट) माड़िया के नृत्य भी मॉदर की ताल के साथ ही चलते हैं।''[2]

''चमड़ा, लकड़ी, धातु और मिटटी के बर्तन जैसी चीज़ो सहित कई विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन प्रक्रिया में उपयोग के कारण वाद्य यंत्रों को बनाने में महान कौशल की आवश्यकता होती है और संगीत और ध्वनिक सिद्धांतों की भी।''[3] यदि इन सैद्धांतिक आधारों पर लोकवाद्यों के निर्माण की प्रक्रिया को एक चरणबद्ध रूप में समझने का प्रयास किया जाए तो इसे सात चरणों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम चरण का प्रारंभ मिट्टी के चयन, शोधन तथा किण्वन की प्रक्रिया से प्रारंभ होता है। इस चरण के दो भाग होते हैं। प्रथम भाग में पारिस्थितिकी की दृष्टि से उचित स्थान की खोज करते हुए चिह्नित किए गए चिकनी मिट्टी के तालाब या पोखर से उत्तम गुणवत्ता वाली मिट्टी खुदाई करके लाकर उस मिट्टी को धूप में सुखाते हुए उसकी नमी को दूर किया जाता है। पूरी तरह से सूख जाने पर मिट्टी को लकड़ी-पत्थर आदि के उपकरणों से कूट-पीसकर उसे महीन बना दिया जाता है। अब इस मिश्रण को कपड़े तथा धातु की छलनी से छानते हैं जिससे इसमें शेष रह गए कंकट, जड़ें तथा अन्य रेतीले अपशिष्ट दूर हो जाएँ। छानने के बाद इसमें धीमे-धीमे पानी मिलाकर इस मिट्टी का घोल तैयार किया जाता है। यह घोल लगभग तीन दिवसों तक किण्वन के लिए रीता रख दिया जाता है, इससे मिट्टी में नरमी था लचीलापन आ जाता है। प्रथम चरण के द्वितीय भाग में किसी स्वस्थ पशु की मृत्यु पर उसके मृतचर्म को विशेष विधि की सहायता से साफ करते हुए पतली झिल्लीनुमा परत के रूप में बदलकर सुखाया जाता है जिससे उसे तैयार किए गए मृण्मय पात्र पर कसा, गढ़ा या चढ़ाया जा सके।

प्रथम चरण में तैयार की गई लचीली मिट्टी लगभग तीन दिनों में मिट्टी द्वितीय चरण की प्रक्रिया के लिए तैयार हो जाती है, जिसमें इस घुली हुई मिट्टी से महीन गाढ़ी लुगदी(पेस्ट) निकालकर उसे पुनः छाँव में सुखाते हैं। जब लुगदी आवश्यकता के हिसाब से गाढ़ी हो जाती है तो उसमें वाद्ययंत्र की माँग या प्रकृति के अनुसार पूर्व-निर्धारित मात्रा में नदी की रेत, ताँबा-पीतल जैसी धातुएँ या लकड़ी का बुरादा मिश्रित किया जाता है, यदि अन्यथा ऐसी कोई माँग न की गई हो केवल गाढ़ी मिट्टी को ही चाक पर आकार देने के लिए रख दिया जाता है। तृतीय चरण में निर्माण की विधि के आधार पर चाक पर अथवा हाथों की सहायता से कुम्हार या शिल्पकार इस मिट्टी को निश्चित आकार तथा आकृति देकर लोकवाद्य का मुख्य ढाँचा तैयार करता है जिसकी भीतरी परतों या दीवारों की मोटाई तथा घनत्व का वितरण वांछित ध्वनि के अनुसार तय किया जाता है। क्योंकि ''स्पष्ट ध्वनि पैदा करने की कुंजी एक समान मोटाई और हल्के घुमाव वाली दीवारें हैं, और यह सुनिश्चित करना है कि छेद इतने आकार के हों कि वे आपकी हथेली से पूरी तरह से कवर हो सकें।''4 बाहरी परत पर स्थानीय लोक सांस्कृतिक के प्रचलित प्रतीकों जैसे फूल, फल, पत्ती आदि का अंकन करते हुए नक्काशी से लोकवाद्य को आकर्षक बनाया जाता है।

चतुर्थ चरण के अंतर्गत हस्तनिर्मित अथवा चाक पर बने हुए कच्चे माल को दरारों से बचाने के लिए एक बार फिर छाया में धीरे-धीरे सुखाया जाता है। सूख जाने पर आवश्यकतानुसार लकड़ी के लटठे अथवा पीटनी से ठोकते हुए अथवा थाप देकर इसे निश्चित आकार देते हैं। इस विधि का प्रयोग राजस्थान के बाढ़मेर तथा

जैसलमेर में भक्ति संगीत में संगत देने वाले भरनी के साथ-साथ हरियाणा के घड़वा नामक लोकवाद्य निर्माण में देखा जा सकता है, ''यह एक साधारण मिट्टी का घड़ा है और लोक गायन के साथ ताल प्रदान करने के लिए एक संगत के रूप में प्रयोग किया जाता है। खुले मुँह को रबर से ढका जाता है और एक छोटी सी छड़ी से बजाया जाता है। रागनी गायक अक्सर इसका उपयोग नागर और ढोलक के साथ संगीतमय ताल के पूरक के लिए करते हैं।''[5]

आड़ा-तिरछा होने पर इसकी नमी इसे सही आकार देने में सहायक होती है। आवश्यक सुधार के अंतर्गत इस मृण्मय पात्र की दीवार के बीच हवा के सूक्ष्म बुलबुलों को हटाने तथा परत को सघन करना भी शामिल होता है। पंचम चरण में सुधार किया गए कच्चे पात्रों को भट्टी में पकाकर पक्का किया जाता है। इसके लिए पकाते समय पात्र के आकार, आकृति, मोटाई आदि के अनुसार भट्टी का ताप तथा आकार निश्चित किया जाता है जिससे पात्र अपनी नैसर्गिक ध्वनि उत्पन्न कर सके तथा टिकाऊ हो। इसके लिए पारंपरिक ज्ञान होना अत्यावश्यक है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवहारिक रूप से हस्तांतरित होने वाली प्रक्रिया है। पकावन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने पर भट्टी की आँच को ठण्डा होने के लिए छोड़ दिया जाता है। पकावन की इस प्रक्रिया से ही वाद्ययंत्र की पिच निर्धारित होती है। इस चरण को निर्माण प्रक्रिया की सर्वाधिक भेद्य अवस्था माना जाता है क्योंकि कच्ची मिट्टी के अस्थायीपन या भंगुरता की मूल प्रकृति के कारण वाद्यों की सर्वाधिक टूट-फूट इसी प्रक्रिया में होती है।

जो वाद्य टूट-फूट और विकृति से सुरक्षित बचकर उपयोग के लिए उपयुक्त होते हैं उन्हें भट्टी से निकालकर आकार तथा आकृति की उपयोगिता की जाँच की जाती है। संतुष्ट हो जाने पर छठें चरण में इन पात्रों पर उनकी प्रकृति के अनुकूल आकार, मोटाई तथा आकृति की झिल्ली चढ़ाने का कार्य किया जाता है। इसके लिए गाय, बकरी आदि मृत पशुओं से प्राप्त चर्म का प्रयोग किया जाता है। चर्म को वाद्ययंत्र के लिए उपयोगी बनाना एक अलग प्रक्रिया है जिसे विशेष रूप से दक्ष और प्रशिक्षित चर्मविशेषज्ञ द्वारा तैयार किया जाता है। इस चर्म को धातु, रस्सी या चर्मपट्टिकाओं से कसा जाता है। यह कसावट जितनी मजबूत होगी लोकवाद्य की ध्वनि उतनी ही अधिक आकर्षक तथा मनोहर होगी। सप्तम और अंतिम चरण में चमड़े अथवा धातु के साथ कसकर, गढ़े गए वाद्ययंत्र को अंतिम रूप देते हुए सांस्कृतिक, धार्मिक, तकनीकी मान्यताओं की विशिष्टता के अनुसार उसमें प्राकृतिक रंगों का रंग-रोगन करते हुए लोकवाद्य को अंतिम रूप प्रदान किया जाता है। कच्ची मिट्टी से अपने विशिष्ट आकार को ग्रहण कर चुके इस वाद्ययंत्र को निर्माता, शिल्पकार, कलाकार तथा श्रोताओं की उपस्थिति में बजाकर देखा जाता है। यदि लोक वाद्य के किसी भाग में कोई कमी-पेशी रह गई है तो उसके समाधान की प्रचलित पद्धतियों के अनुसार उनका सुधार कर लिया जाता है।

प्रकारांतर के साथ भारत के विविधि क्षेत्रों में लोकवाद्यों के निर्माण के लिए लगभग यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। घटम इस प्रक्रिया से निर्मित सफलतम लोकवाद्य है जिसकी उपयोगिता तथा मधुर संगीत के कारण इसे दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। आज दक्षिण भारत के सर्वाधिक सामुदायिक आयोजनों में घटम का प्रयोग संगीत के अनिवार्य अंग के रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है। ''लोक-वाद्यों के इतिहास और क्रमिक विकास पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो एक तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.007

होता है कि संगीत मानव समाज में प्रारम्भ से ही उच्च स्थान पर रहा है, जिसके साथ वाद्य भी प्रमुख रूप में रहे हैं क्योंकि लोक-वाद्यों का किसी क्षेत्र विशेष तथा वहाँ के निवासियों की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन से निकट का सम्बन्ध रहता है। इन लोक-वाद्यों का प्रयोग व महत्व शास्त्रीय संगीत के वाद्यों से कहीं अधिक रहता है तथा लोक गीतों में इनके महत्व को देखते हुए ही इन्हें 'लोकवाद्य' कहा जाता है।''[6]

लोकवाद्यों में प्रयुक्त मिट्टी में धातु के टुकड़ों का मिश्रण उन्हें भंगुर होने से बचाता है और उनके अनुनादीय गुणों में भी वृद्धि हो जाती है। मिट्टी के लोकवाद्यों में कंपन से उत्पन्न होने वाली ध्वनि संगीत उत्पन्न करती है। पंजाब तथा राजस्थान के स्थानीय लोकनृत्यों में मिट्टी के प्रयोग से बने लोकवाद्यों का प्रयोग बहुतायात मिलता है। सामान्य रूप से इनका निर्माण तथा प्रयोग या तो लोककलाकार स्वयं करते हैं या विशेष प्रकार के कारीगरों द्वारा विशिष्ट सांगीतिक उपयोगों के लिए किया जाता है, न कि आय के मुख्य स्रोत के रूप में। इन वाद्यों में कुछ मुँह से, कुछ हाथ से, कुछ हवा से बजाने वाले होते हैं। इसके निर्माण के लिए कच्ची मिट्टी का चयन, उसका मिश्रण तथा पकाने की विशेष तकनीक होती है जिसके लिए विशेष पारंपरिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। यह ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी एक निर्माता द्वारा व्यवहारिक से भावी पीढ़ी को दी जाती है। मृण्मय लोकवाद्यों के निर्माण की प्रक्रिया आध्यात्मिक दार्शनिकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता को भी स्वयं में समेटे हुए है। जिनको सही तरीके से एक विशेष प्रक्रिया द्वारा निर्मित करने पर इन वाद्ययंत्रों से निकलने वाली अनुनादीय ध्वनि श्रोताओं को विशेष प्रकार से लाभ पहुँचाने में सक्षम है। जो इनकी मिट्टी की परतों की मोटाई, घनत्व, तापमान, नमी, सतह की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकृति की होती है।

ध्वनि विज्ञान के यंग-मॉड्यूल द्वारा इन वाद्यों की आंतरिक डैंपिंग तथा टिंबर के संतुलन के महत्त्व को रेखांकित किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप दक्षिण भारत में प्रचलित वाद्ययंत्र 'घटम' के निर्माण के समय यदि उसकी मिट्टी के साथ पीतल अथवा ताँबा का बुरादा मिश्रित कर दिया जाए तो उसमें स्थायित्व के गुणों में वृद्धि हो जाती है जिससे उसमें धात्विक ध्वनि स्पष्टत: उभरने लगती है। लोकवाद्यों के निर्माण की यह प्रक्रिया ध्वनि-अभियांत्रिकी से कम नहीं। जिसके लिए मिट्टी के चयन की प्रक्रिया को आज की मृदा विज्ञान की एडाफोलॉजी तथा पेडोलॉजी के सिद्धांतों में शामिल किया जाता है। प्राकृतिक रूप से काली, लाल अथवा पीली मिट्टी अलग-अलग प्रकृति एवं घनत्व की होती हैं जिनसे अलग-अलग अथवा मिश्रित रूप से वाद्यों का निर्माण सदियों होता आ रहा है। दक्षिण भारत में मनामदुरै में ऐसे कई केन्द्र हैं जहाँ मिट्टी को विशेष प्रकार के सिंचाई तालाबों से एकत्र करके संगीत के वाद्यों के निर्माण में प्रयोग किया जाता है। मिट्टी के लोकवाद्यों के निर्माण की प्रक्रिया सरल होने पर भी श्रमसाध्यता तथा समय की अधिकता के कारण जटिल रूप ले लेती है। जिसका प्रारंभ मिट्टी का चयन, शोधन, किण्वन तथा मिश्रण से होता हुआ निर्माण, सुखावन, पकावन तथा रंग-रोगन से गुजरता हुआ अपनी अंतिम अवस्था तक पहुँचता है। इस प्रक्रिया का प्रयोग टिमकी नामक लोकवाद्य के निर्माण में किया जाता है जो ''मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में प्रमुख रूप से लोकसंगीत में प्रयोग किया जाता है। इसका खोल कटोरानुमा मिट्टी का होता है।''[7]

''अवनद्ध संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है- मढ़ा हुआ, लपेटा हुआ या चारों

तरफ से कसा हुआ। वे वाद्य यंत्र जो अंदर से खोखले होते हैं, जिनके मुख पर चमड़ा मढ़ा होता है तथा जिन पर हाथ से या डंडी से आघात करके ध्वनि निकाली जाती है, 'अवनद्ध वाद्य' कहलाते हैं। अवनद्ध वाद्य मूलतरू मिट्टी, लकड़ी या धातु के बने होते हैं। प्राचीन काल में मिट्टी या मृदा से बनाए जाने के कारण इन्हें साधारणतरू 'मृदंग' ही कहते थे।''8 इस प्रकार के लोकवाद्यों को प्राय: अवनद्ध वाद्यों की श्रेणी में रखा जाता है। घुमोट नामक लोकवाद्य पिछली एक सहस्राब्दी से भी अधिक समय से गोवा का प्रसिद्ध अवनद्ध लोकवाद्य के रूप में मान्यता प्राप्त है जो मिट्टी के पात्र के दोनों सिरों पर चर्म चढ़ाकर निर्मित किया जाता है। वर्त्तमान समय में इसका प्रयोग धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पर्वोत्सवों या आयोजनों के अवसर यथा गणेशोत्सव, चर्च के रोसे आदि में लोकसंगीत के लिए किया जाता है। इस लोकवाद्य के पात्र में पिछले हिस्से में एक छिद्र होता है जिसे खोलकर या बंद करते हुए कंपन से उत्पन्न ध्वनि को नियंत्रित किया जाता है, दाहिने हाथ से थाप या ताल दी जाती है। इसके प्राचीन प्रयोग को देखते हुए गोवा में घुमोट को 'हेरिटेज इन्स्ट्रूमेंट' या 'विरासत वाद्य' का दर्जा दिया गया है जो लोकसंगीत तथा लोकवाद्यों के निर्माता शिल्पकारों, वादकों तथा उपयोगकर्ताओं के प्रोत्साहन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है।

इस संबंध में आस्था सिंह लिखती हैं कि '' गोवा का हेरिटेज वाद्ययंत्र (Heritage instrument of Goa) होने की उपाधि से सम्मानित घुमोट (Ghumot) गोवा की लोक संस्कृति, मंदिर और चर्च संगीत का एक अभिन्न अंग है। इसे तबला और मृदंगम का चचेरा भाई कहा जा सकता है, क्योंकि इन संगीत वाद्ययंत्रों की तरह, इस पारंपरिक और स्वदेशी गोअन वाद्य की भी सतह जानवरों की खाल से बनी होती है।''9 घुमोट की संगत के लिए म्हादलेम नामक एक अन्य लोकवाद्य का भी प्रयोग किया जाता है जो मिट्टी से निर्मित बेलनाकार आकृति का होता है। इसकी भी दोनों ओर चर्मझिल्ली मढ़ी होती है। सामान्य रूप से इसे जागोर के लोक प्रदर्शनों में प्रयुक्त किया जाता रहा है। यह आचार्य भरत के अनुसार अवनद्ध वाद्य की श्रेणी में आने वाला क्षेत्रीय वाद्य है। जिसके उपयोग के क्रम में इसकी झिल्ली में उत्पन्न होने वाले कंपनों से उत्पन्न ध्वनि इसके संगीत का निर्माण करती है।

उपसंहार- भारतीय संगीत में प्रयुक्त मृण्मय लोकवाद्यों घटम, टिकमी, माँदर, घुमोट, म्हादलेम आदि को देखकर कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत के शास्त्रीय एवं लोक दोनों पक्षों में मिट्टी से निर्मित वाद्यों का विशेष महत्त्व रहा है। कुछ वाद्ययंत्रों का प्रयोग केवल शास्त्रीय संगीत में किया जाता है तो घटम जैसे वाद्ययंत्र शास्त्रीय तथा लोकसंगीत दोनों में ही प्रयुक्त किए जाते हैं। टिमकी और माँदर जैसे लोकवाद्य लोक और जनजातीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले ऐसे वाद्य हैं जिनका प्रयोग लोकसंगीत के माधुर्य में वृद्धि हेतु संगत वाद्य या एकल वाद्य के रूप में इंस्ट्रूमेंटल म्यूजिक के लिए किया जाता रहा है। इस प्रकार इन सभी रूपों में मिट्टी से निर्मित लोकवाद्यों का संगीत की विरासत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय जीवन का अंग कहे जाने वाले संगीत के रूप में समाज तथा संस्कृति से संयुक्त होकर आध्यात्मिक आनंद तथा चिकित्सकीय समाधान प्रदान करने वाली ऊर्जस्वित कपंनों की मधुर ध्वनि उत्पन्न करने वाले इन लोकवाद्यों के प्रयोग तथा प्रचलन में आने वाली कमी चिंता का विषय है। निर्माण तथा उपयोग में सुलभ होने पर भी इनके प्रयोग में आने वाली कमी के चलते यदि हमें इनकी विलुप्ति का खतरा नहीं उठाना है, तो इनके संरक्षण की ओर अभी

से ध्यान देना होगा, अन्यथा अन्य विरासतों की तरह लोकवाद्यों का अस्तित्व भी केवल काग़ज में दर्ज संदर्भ बनकर रह जायेगा।

संदर्भ-

1. ठाकुर, सूरत. 2015. हिमाचल प्रदेश का जनजातीय लोक संगीत, शिवांक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-17
2. गुप्ता, नीलिमा. भारतीय लोककला (छत्तीसगढ़ के संदर्भ में). स्वाति पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ.-172
3. भारत के वाद्य यंत्र. भारतीय संस्कृति: खोजिए, जानिए, लिप्त हो जाइए, जुड़िए. (n.d.). Available via https://indianculture.gov.in/hi/musical-instruments Accessed on January 16, 2026
3. संगीत वाद्ययंत्र आप मिट्टी से बना सकते हैं. द सिरेमिक स्कूल. (n.d.). https://hi.ceramic.school/8-musical-instruments-you-can-create-with-clay/ Accessed on January 18, 2026
4. संगीत के उपकरण. कला एवं सांस्कृतिक कार्य विभाग. हरियाणा सरकार. (n.d.). Available via https://artandculturalaffairshry.gov.in/hi/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%97%E0%A5%80%E0%A4%A4-%E0%A4%95%E0%A5%87-%E0%A4%89%E0%A4%AA%E0%A4%95%E0%A4%B0%E0%A4%A3/# Accessed on January 19, 2026
5. वर्मा, अर्चना, विभिन्न देशों के लोकवाद्य(एक विवेचनात्मक अध्ययन), श्रीवास्तव, वीणा(संपा.). भारतीय लोक संगीत (संरक्षण, संवर्धन एवं संभावनाएँ). राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2012. पृ.-335
6. सत्संगी, ओस. 2022. मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र राजाबरारी में प्रचलित 'वाद्य'. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ क्रिएटिव रिसर्च थॉट्स. वॉल्यूम-10, इश्यू-9, पृ.-410
7. भारतीय संगीत में वाद्य वर्गीकरण. (n.d.). Available via https://sathee.iitk.ac.in/ncert-books/class-11/sangeet/hindustan-sangeet-gaayan-evm-waadan/chapter-08-bhartiye-sangeet-me-vaddhay-vargikaran/ Accessed on January 23, 2026
8. सिंह, आस्था. 2022. गोवा का सबसे पुराना वाद्ययंत्र 'घुमोट' राज्य के पारंपरिक संगीत और विरासत का मुख्य हिस्सा है. नॉक सेंस. जून 23. Available via https://www.knocksense.com/hindi/goa-hindi/44-percent-voting-goa Accessed on January 25, 2026

भारतीय ज्ञान परम्परा में राम

डॉ॰ बिन्दु चौहान*, कंचन कुमारी**

शोध सारांश

भारतीय ज्ञान परम्परा हमारे देश की ऐसी समृद्ध परम्परा है जो सदियों से भारतीय जनमानस के चिंतन-मनन, आचार-व्यवहार कर्मों में रची बसी है। इस व्यापक ज्ञान परम्परा में 'राम' एक ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र नहीं है बल्कि मानवीय मूल्यों के समग्र गुणों को समन्वित करते हुए 'मर्यादा पुरूषोत्त' के रूप में प्रतिष्ठित है। प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय ज्ञान परम्परा में राम और उनकी अवधारणा समय के साथ है कैसे बदली है? और वह कैसे संस्कृत साहित्य के वैदिक काल से लेकर हिंदी साहित्य के आधुनिक काल तक भारतीय जनमानस के लिए प्रेरणा स्रोत बना हुए हैं? इस बात का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

बीज शब्द: भारतीय ज्ञान परम्परा, राम, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्य, मानवीय मूल्य।

शोध प्रविधि:

शोध प्रविधि-शोध आलेख में वैदिक साहित्य तथा रामायण से संबंधित विभिन्न गं्रथों का गहन पूर्वक अध्ययन करते हुए विवरणात्मक, तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का सार्थक प्रयोग किया गया है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में राम 'मर्यादा पुरूषोत्तम' के रूप में प्रतिष्ठित है। लेकिन समय के साथ है राम की अवधारणा में परिवर्तन जरूर हुआ है। यह परिवर्तन कैसे हुआ? तो हम पाते हैं कि यह परिवर्तन आंतरिक परिवर्तन नहीं है बल्कि सिर्फ बाह्य रूप का परिवर्तन है। भारतीय ज्ञान परम्परा विश्व की प्राचीनतम परम्पराओं में से एक है जो केवल ग्रंथों तक सीमित न होकर जीवन पद्धति, नैतिक मूल्य, सामाजिक सहभाव और सांस्कृतिक चेतना का समन्वित स्वरूप प्रकट करता है। इस परम्परा के केन्द्र में 'राम' एक ऐसे आदर्श पुरूष के रूप में प्रतिष्ठित है, जिनका जीवन धर्म, कर्तव्य, करूणा, मर्यादा और लोक कल्याण का समग्र प्रतिमान है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में 'राम' सर्वाधिक जीवंत और स्थाई अभिव्यक्तियों में से एक हैं। राम कथा केवल धार्मिक आख्यान या पौराणिक इतिहास नहीं बल्कि भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना, आदर्श मानव की अवधारणा, लोक परम्परा और आध्यात्मिक जीवन का मूलाधार है। भारतीय ज्ञान परंपरा के अंतर्गत वैदिक साहित्य में अगर राम काव्य की बात करें तो यहाँ राम काव्य के अनेक पात्रों के बारे में जानकारी तो मिलती है मगर संपूर्ण कथावस्तु का अभाव है। ऋग्वेद में 'इक्ष्वाकु' का एक बार उल्लेख हुआ है (10,60,4) लेकिन उस सूक्त में इक्षवाकु नाम मात्र दिया गया है। अथर्ववेद में भी एक बार इक्ष्वाकु का नाम आया है।

*असिस्टेंट प्रोफेसर (सीनियर ग्रेड), सी॰एम॰ कॉलेज, दरभंगा, बिहार

**शोधार्थी, हिन्दी विभाग, ललित नारायण विश्वविद्यालय, दरभंगा

फादर कामिल बुल्के अपने शोध प्रबंध 'राम कथा का विकास' में लिखा है कि ''ऋग्वेद में राम का एक बार उल्लेख हुआ है उसका नाम अन्य प्रतापी यजमानों के साथ प्रयुक्त होने के कारण प्रतीत होता है कि वह कोई राजा हुआ होगा।''[1] हालांकि काव्य में पद्य साहित्य का उद्भव सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है जहाँ उषा, विष्णु, इंद्र, वरूण आदि देवताओं की स्तुति देखने को मिलती है और यही स्वरूप आगे चलकर महाकाव्य का रूप ले लेता है। परंतु इन सूक्तों में राम से संबंधित कोई स्तुतिपरक सूक्त नहीं मिलते। सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि ने ही राम के उदात्त चरित्र को लेकर 'रामायण' महाकाव्य की रचना की। राम कथा का वास्तविक स्त्रोत अत्यंत बहुविध बहु स्तरीय भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं में निहित है। राम कथा एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सहस्त्राब्दियों से चली आ रही सांस्कृतिक परंपरा है जो विभिन्न स्वरूप में अभिव्यक्त होती आ रही है।

फादर कामिल बुल्के के अनुसार ''वैदिक रचनाओं में रामायण के एकाध पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं, लेकिन न तो इनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई सूचना दी गई है और न इनके विषय में रामायण की कथावस्तु का किंचित भी निर्देश किया गया है। अतः वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा रामकथा सम्बन्धी गाथाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थी, इसका निर्देश समस्त विस्तृत वैदिक साहित्य में कहीं नहीं पाया जाता। अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम 'रामायण' के पात्रों के नामों से मिलते हैं, इससे इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये नाम प्राचीन काल में भी प्रचलित थे।''[2]

महर्षि वाल्मीकि प्रणीत 'रामायण' देश की सच्ची बहुमूल्य राष्ट्रीय निधि माना गया है। पुराणों में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'रामायण' एक-एक अक्षर महावातक का नाश करने वाला है। यह समस्त काव्यों का बीज है-

पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनानतम।
यत्र रामचरित्रं स्यात् तदहं तत्र शक्तिमान।।''[3]
(बृहद्धर्मपुराण 1130/55)

श्री वेदव्यास आदि सभी कवियों ने इसी का अध्ययन पुराण, महाभारत आदि का निर्माण किया। 'स्कन्दपुराण का रामायण महात्म तो इस ग्रंथ के आरम्भ में दिया ही हुआ है।' यह भी प्रसिद्ध है कि व्यासजी ने युधिष्ठिर के अनुरोध से एक व्याख्या वाल्मीकि रामायण पर लिखी थी और उसकी एक हस्तलिखित प्रति अब भी प्राप्त है। इसका नाम 'रामायणतात्पर्यदीपिका' है। इसका उल्लेख दीन बहादुर रामशास्त्री ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन रामायण' (Studies in Ramayan) के तृतीय खण्ड में किया है। यह पुस्तक 1944 ई॰ में बडौदा से प्रकाशित है।''4

द्रोणपर्व के 143/66-67 श्लोकों में महर्षि वाल्मीकि के युद्धकाण्ड के 81/28 को नामोल्लेखपूर्वक श्लोक का हवाला दिया गया है।

यह श्लोक इस प्रकार है-

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्या स्वियश्चेति यद् ब्रवीर्षि प्लवंगूम।
पीडाकरमित्राणां यत्स्यात् कर्तमेव तत्।।5
-महा उद्योग पर्व 143/67-68

राम काव्य का विकास अत्यंत प्राचीन काल से ही अनेकों दिशाओं में हुआ वेदों में 'इक्ष्वाकु' परंपरा तथा वाल्मीकि रामायण में 'आदर्श पुरूष' की अवधारणा राम काव्य का प्रारंभिक रूप माना जाता है जो भारतीय ज्ञान परंपरा का मानक पाठ बन गया। महर्षि वाल्मीकि केवल आदि कवि नहीं बल्कि इस राम काव्य परंपरा के प्रथम महाकाव्याकर के रूप में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने राम के चरित्र को एक आदर्श रूप प्रदान किया।

इसके बाद बौद्ध ग्रंथों और जैन रामायणों में राम कथा के भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। यह विविधता भारतीय चिंतन की उदारता और ज्ञान परंपरा की बहुलता का संकेत है। जहाँ एक ही कथा को विभिन्न दार्शनिक पद्धतियाँ अपने-अपने मूल्य के साथ पुन: परिभाषित करती हैं।

मध्यकालीन भारत में रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानंद के माध्यम से भक्ति की लहर उठी। हिंदी साहित्य के राम काव्य परम्परा का पहला कवि रामानंद को माना जा सकता है। इनके बाद विष्णु दास, तुलसीदास, अग्रदास, प्राणचंद चौहान आदि कवियों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया है। भक्ति काल में सगुण और निर्गुण दोनों धाराओं के कवियों ने राम को काव्य का आधार बनाया। अंतर बस इतना है कि तुलसी के राम मर्यादा पुरूषोत्तम राम हैं तथा विष्णु के अवतार एवं दशरथ के पुत्र हैं। जबकि कबीर के राम निर्गुण और निराकर ब्रह्म हैं जो घट-घट में बसते हैं तभी तो कबीर कहते हैं कि-

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूंढे वन माहिं।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया खोजत नाहिं।।

भक्तिकाल में राम कथा को अनेक लोक भाषा में अद्वितीय विस्तार मिला तुलसीदास के रामचरितमानस ने न केवल भक्ति आंदोलन को नई दिशा दी बल्कि भारतीय समाज को नैतिकता, भक्ति, सामाजिक समानता और सांस्कृतिक एकता का नया आधार प्रदान किया। तुलसीदास के महत्व को स्वीकार करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि ''गोस्वामी के प्रादुर्भाव को हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिंदी काव्य की शक्ति का पूर्व प्रसार उनकी रचनाओं में पहले दिखाई पड़ा।[6]

बंगाल, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत और उत्तर भारत की अनेक भाषाओं में रचित रामायण, कृतवासी रामायण कंब रामायण, भानु भक्त रामायण, एकनाथी रामायण आदि ने राम कथा को क्षेत्रीय संस्कृति और लोक चेतना से जोड़ते हुए इसे जनमानस का अभिन्न अंग बना दिया। लोक साहित्य और मौखिक परंपराओं में राम कथा का महत्व और अधिक विस्तृत रूप में देखने को मिलता है। रामलीला, कथा वाचन, लोकगीत भजन-कीर्तन जैसे माध्यमों के द्वारा यह राम कथा लोक से एकाकार हो गई।

आधुनिक काल के कवियों ने राम को वर्तमान परिदृश्य से जोड़कर अपनी कविता में स्थान दिया है। महाप्राण निराला रचित 'राम की शक्ति पूजा' एक कालजयी रचना है। निराला के राम मानवीय 'राम' हैं यहाँ वो विष्णु के अवतार नहीं हैं। यहाँ राम व्याकुल दिखाई देते हैं, घबराते भी हैं और परिस्थितियों से डरते भी हैं। यहाँ तक की विलाप भी करते हैं और उन परिस्थितियों का सामना करने के लिए समग्र ऊर्जा के साथ शक्ति की आराधना भी करते हैं।
वर्तमान समय में वैश्वीकरण बाजारीकरण और अर्थ केन्द्रित वातावरण में मनुष्य की संवेदनाएँ शून्य होती जा रही हैं। ऐसे विकट समय में राम के चरित्र की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है।

निष्कर्ष:

भारतीय ज्ञान परम्परा विश्व की प्राचीनतम परम्पराओं में से एक है। जहाँ राम सदियों से आदर्श पुरूष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वर्तमान भारत, विश्व के उन्न्त और विकसित देशों की श्रेणी में खड़ा है परन्तु कहीं ना कहीं भारतीय ज्ञान की प्राचीन परम्परा का ह्रास भी तेजी से दिख रहा है। ऐसे समय में मानवीयमूल्य को पुन: प्रतिस्थापित करने के लिए राम का चरित्र समाज

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.008

के लिए पथ प्रदर्शक का काम कर करता रहा है। राम अपनी बदली हुई अवधारणाओं के साथ भी अंधकार में प्रकाश बिखेर रहे हैं।

संदर्भ:

1. फादर कामिल बुल्के, 'राम कथा', हिन्दी परिषद, इलाहाबाद, दूसरा संस्करण-2024, पृ. 31
2. वही
3. वाल्मीकि रामायण, संस्करण-66वां, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 3
4. वही
5. वही
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण-2013, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 84
7. आचार्य बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृति साहित्य का इतिहास', शारदा निकेतन प्रकाशन, वाराणसी, दशम संस्करण-2001, पृ. 19
8. गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचरितमानस' गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 3
9. डॉ. कपिल देव द्विवेदी, 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सप्तम संस्करण-2018, पृ. 181
10. गोविंद चंद्र पांडे, 'वैदिक संस्कृति', लोक भारती प्रकाशन, पृ. 7

https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.009

भारतीय ज्ञान परंपरा में संस्कार गीत

डॉ. ललन कुमार

भारतीय समाज की सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराएँ सदियों से गहराई से संगीत, गीत और मौखिक परंपरा से संबंधित हैं। "संस्कार गीत",जो जीवन के विभिन्न संस्कारों, धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक घटनाओं के साथ गाए जाने वाले गीत हैं,भारतीय ज्ञान परंपरा में केवल सांगीतिक घटक नहीं हैं, बल्कि ये सामाजिक आचरण, धर्म, संस्कृति, नैतिक शिक्षा और मानसिक स्थितियों के प्रतिनिधि भी रहे हैं।

संस्कार गीत उन गीतों को संदर्भित करते हैं जो किसी विशेष संस्कार -जैसे जन्मोत्सव, नामकरण, मुखप्रक्षालन, उपनयन, विवाह, पुत्राय विभोजन, अंतिम संस्कार आदि के समय गाए जाते हैं।

ये गीत अनुष्ठानिक, नीतिगत, भावनात्मक और सामुदायिक दोनों प्रकार के होते हैं। कई संस्कार गीत धार्मिक साहित्य, लोककथाओं, पारिवारिक यादों और स्थानीय परंपराओं से बनाए जाते हैं। उनका स्वरूप छंद, लय, राग, बोल और अभिनय, क्षेत्रीय भाषा और सांस्कृतिक संवेदनाओं से प्रभावित होता है।

संस्कार गीत की एक खास विशेषता यह है कि वे सामूहिक स्मृति का निर्माण करते हैं, यानी समाज के सदस्यों के बीच साझा अनुभवों और आदर्शों को गीतों के द्वारा अगले पीढ़ी तक पहुँचाते हैं। दूसरे शब्दों में, संस्कार गीत ज्ञान परंपरा के "जीवित ग्रंथ" होते हैं, जो लिखित उपदेशों के साथ-साथ अनुभूतियों, भावनाओं और अमूर्त नैतिक सिद्धांतों को भी दर्शाते हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप की वैदिक-सांस्कृतिक परंपरा से लेकर मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन और लोक-परंपराओं तक, संस्कार गीतों का इतिहास गहरा और भिन्नताओं से भरा रहा है। वैदिक युग में मन्त्र, सूक्त और छंदों का महत्वपूर्ण स्थान था। ये धार्मिक कर्मकाण्डों और सामाजिक-धार्मिक निर्देशों का मौखिक रूप थे। समय के साथ, ये मन्त्र और छंद अधिक सामूहिक और लोक-संबंधित गीतों में बदलते गए। मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन ने संस्कार गीतों को नया आयाम दिया। भक्ति-संगीत और भजन-कीर्तन ने व्यक्तिगत अनुभव और भावनाओं को सामूहिक संस्कारों में शामिल किया। इसी तरह लोक-परंपराओं ने विशेष अवसरों और कार्यों से संबंधित गीतों का विकास किया।

इस ऐतिहासिक विकास में दो विचार महत्वपूर्ण रहे: एक धर्म और समाज का अनुष्ठानिक पहलू जो नियमों, कर्मकाण्डों और मन्त्रों के माध्यम से व्यवस्थित था और दूसरा, लोक-जीवन का सहज संगीत अनुभव जो भावनाओं और कहानियों के जरिये ज्ञान का

पूर्व शोध छात्र, वि.वि.संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि. वि.वि.,दरभंगा

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.009

आदान-प्रदान करता था। संस्कार गीत इन दोनों विचारों का संगम हैं। वे नियम और अनुशासन का रूप भी लेते हैं और भावनात्मक, सामुदायिक अनुभव का साधन भी बनते हैं।

संस्कार गीतों के प्रकार

संस्कार गीतों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है। यह संस्कार के प्रकार, क्षेत्रीय विविधता, सामाजिक श्रेणी, भाषा-शैली और उद्देश्य के अनुसार किया जा सकता है।

1. जन्म और प्रारंभिक जीवन से संबंधित गीत: इनमें जन्म गीत, देवताओं की स्तुति, नामकरण गीत, बाल्योपचार गीत आदि शामिल होते हैं। उदाहरण के तौर पर, ग्रामीण क्षेत्रों में नवजात के स्वागत में परंपरागत गीत गाए जाते हैं, जो परिवार के लिए खुशी, शांति और समृद्धि की प्रार्थना करते हैं।

2. बाल्य और शिक्षा से संबंधित गाने: उपनयन (स्नान, यज्ञोपवीत), गुरु से जुड़ी गाने जो विद्या की पूजा और गुरु-शिष्य परंपरा को समर्पित होते हैं। इन गानों में नैतिकता, आचार-विचार और सामाजिक व्यवहार पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

3.विवाह और पारिवारिक जीवन से संबंधी गीत: विवाह-गीत भारतीय संस्कार गीतों का एक सबसे विशाल और रचनात्मक क्षेत्र है। श्रृंगार, मंगलाचरण, विदाई, वर-वधू के मिलन और पारिवारिक उपदेश इन गीतों में सम्मिलित होते हैं। क्षेत्रीय भिन्नताओं के अनुसार विवाह के गीतों में कथाएँ, शिक्षण, लोक-कहानियाँ और नाटकीयता का समावेश पाया जाता है।

4.कृषि, श्रम और सामुदायिक अनुष्ठान गीत: फसल उत्सव, बुवाई, कटाई, वर्षा के लिए प्रार्थना जैसे सामूहिक कार्यों से संबंधित गीत। ये गीत समुदाय के जीवन और अर्थव्यवस्था से संबंधित हैं और सामूहिकता की भावना को मजबूत करते हैं।

5.मृत्यु और शोक से संबंधित गीत: अंतिम संस्कार में गाए जाने वाले शोक गीत, स्तुति, और मृतक के अच्छे कार्यों का स्मरण। ये गीत जीवन और मृत्यु के दार्शिनक पहलुओं पर विचार पेश करते हैं तथा शोक को सामूहिक पहचान प्रदान करते हैं।

6. धार्मिक एवं त्योहार से जुड़े गीत: अलग-अलग धार्मिक परंपराओं और उत्सवों (जैसे दीपावली, होली, नवरात्रि, जन्माष्टमी) पर गाए जाने वाले गाने, जिनमें नैतिकता और धार्मिक शिक्षा का समावेश होता है।

रचना, छंद तथा संगीत की विधा

संस्कार गीतों की साहित्यिक और सांगीतिक रचना प्राय: स्थानीय छंद, ताल एवं राग पर निर्भर होती है। कई स्थानों पर संस्कार गीत साधारण बोल और दोहराव को अपनाते हैं ताकि उन्हें आसानी से याद किया जा सके और सामूहिकता से गाया जा सके। छंद-रचना में अनुप्रास, अलंकार, गीतात्मक पुनरुक्ति और लोक-रचनात्मकता का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

संगीत की दृष्टि से ये गीत क्षेत्रीय लोक-संगीत, शास्त्रीय रागों का मिश्रण, और भक्ति-संगीत की गहन भावनाओं के विविध स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ विवाह-गीत शुद्ध लोकधुनों पर आधारित होते हैं, जबकि कुछ उपनयन या धार्मिक संस्कारों के गीत समृद्ध शास्त्रीय रागों का सहारा लेते हैं। इसी तरह ताल-रचना सरल और चटख तालों से लेकर जटिल तालों में बदलती है,हालांकि सामान्यत: संस्कार गीतों की मुख्य आवश्यकता सामूहिकता और भागीदारी के कारण सरलता ही रही है।

भाषा, शैली और लोककला

संस्कार गीतों की भाषा सिर्फ संस्कृत या पुरानी भाषाओं तक सीमित नहीं रही, बल्कि स्थानीय बोलियाँ और जन-भाषा ने इन्हें अधिक आकर्षक बनाया। लोकभाषाएँ, क्षेत्रीय मुहावरों और तत्वों ने गीतों में स्थानीय रंग भरा। कई बार संस्कार गीतों में किस्से, हास्य-विनोद, और शिक्षा एक साथ मिश्रित होते हैं,जिससे ये दोनों शिक्षाप्रद और मनोरंजक बन जाते हैं। लोक-शिल्प (जैसे नृत्य, हस्तकला, वाद्ययंत्र) का उपयोग भी संस्कार गीतों को दृश्यात्मकता प्रदान करता है। विशेषकर ग्रामीण उत्सवों में गीतों के साथ नृत्य (जैसे झूमर, घूमर, बिरहा), वाद्य-यंत्र (ढोल, ढमेरा, सारतिया, मृदंग आदि) का प्रयोग होता है, जो सामुदायिक सहभागिता को प्रगाढ़ बनाता है।

सामाजिक और शैक्षिक भूमिका

संस्कार गीतों का सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य सामाजिक मूल्यों और आचरणों का हस्तांतरण करना है। वे बच्चों और युवाओं को जीवन के आदर्शों, जिम्मेदारियों और संस्कृति के नियमों से अवगत कराते हैं। उदाहरण के लिए विवाह-गीतों में विवाह के पारिवारिक दायित्वों, पति-पत्नी के आदर्श संबंधों और सामाजिक मर्यादाओं की चर्चा होती है-ये गीत एक प्रकार के अनौपचारिक पाठ्यक्रम के रूप में कार्य करते हैं। शैक्षणिक दृष्टिकोण से, संस्कार गीत मौखिक स्मृति और अनुशासन विकसित करते हैं। इनमें नीतिवचन, संस्कृत श्लोक या कहावतों का समावेश किया जाता है जो व्यवहारिक शिक्षा का हिस्सा बनते हैं। इसके अलावा, ये गीत सामाजिक सहानुभूति, सहकार, सामुदायिक एकता और सहयोग की भावना को बढ़ावा देते हैं।

मनोवैज्ञानिक और सामुदायिक असर

संस्कार गीत व्यक्तिगत और सामुदायिक मनोविज्ञान पर गहरा प्रभाव डालते हैं। ये जीवन के उतार-चढ़ाव के समय लोगों को सांत्वना प्रदान करते हैं। जन्म की खुशी, विवाह का उत्साह या शोक के क्षण,इनमें गीत एक भावनात्मक अनुशासन का निर्माण करते हैं। गीतों के ज़रिए लोग साझा पहचान और सामुदायिक जुड़ाव का अनुभव करते हैं, जिससे सामाजिक एकता को मजबूती मिलती है। इसके अलावा, संस्कार गीतों की प्रक्रिया,साझा गायन, आपसी सहयोग और सामूहिक अनुष्ठान समुदाय में मानसिक शांति और बंधन को भी बढ़ावा देती है। विशेष रूप से जब कोई व्यक्ति उदास या अस्थिर हो, तब सामूहिक गीत-संगीत उसे मानसिक स्थिरता प्रदान करने में सहयोग करते हैं।

लिंग, वर्ग और जाति के संदर्भ

संस्कार गीतों में लिंग, वर्ग और जाति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। विभिन्न समुदायों और जातीय समूहों के गीत उनकी सामाजिक संरचना, आर्थिक परिस्थितियों और लिंग आधारित भूमिकाओं को दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ गीत महिलाओं द्वारा गाए जाते हैं, जिनमें महिला अनुभव, मातृत्व और घरेलू ज्ञान शामिल होते हैं; वहीं कुछ गीत पुरुषों की अनुष्ठानों और सार्वजनिक भूमिकाओं पर केंद्रित होते हैं। वर्गीय संदर्भ में, शहरी और ग्रामीण संस्कार गीतों के स्वरूप में भिन्नताएँ उभरती हैं। शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के साथ कुछ पारंपरिक गीत समाप्त हो गए हैं, लेकिन वे ग्रामीण जीवन में अभी भी सक्रिय हैं। जातिगत विभाजन ने भी गीतों के अधिकार और प्रकाशन के स्वरूप को प्रभावित किया है। अक्सर कुछ गीत विशेष जातियों के अधिकार और पदानुक्रम को दर्शाते हैं।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.009

आधुनिकता के प्रभाव और परिवर्तनों

आधुनिकता, शहरीकरण, सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन और इंटरनेट ने संस्कार गीतों पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। एक तरफ इन माध्यमों ने लोकगीतों को विशाल दर्शक वर्ग प्रदान किया,जिससे कई गीतों का पुनरुत्थान हुआ; दूसरी तरफ व्यावसायीकरण और लोकप्रिय संस्कृति ने गीतों के पारंपरिक रूप में बदलाव किए।

विवाह गीतों में अब रिकॉर्डेड संगीत, डिज़ाइनर समारोह और पेशेवर गायकों का चलन बढ़ गया है। कई पारंपरिक गीतों को संकलित करके किताबों और संग्रहों में सुरक्षित किया जा रहा है,लेकिन मौखिक परंपरा का सरल रस कहीं खो गया है। इसके साथ ही, युवा पीढ़ी के संगीत के चयन और जीवनशैली के कारण कई पारंपरिक संस्कार गीत अपनी महत्ता खो रहे हैं या फिर उनके स्वरूप में बदलाव आ रहा है।

संस्कार गीतों को सुरक्षित रखने के लिए सिर्फ संग्रहण और रिकॉर्डिंग की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उनके सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ, प्रदर्शन के तरीके, वाद्य यंत्र और भाषा को भी बचाना होगा। लोक-गान के अनुसंधानकर्ता, नृवंशविज्ञानी और संगीतज्ञ इन गीतों को संग्रह, इंटरव्यू, एथ्नोग्राफ़ी और रिकॉर्डिंग के जरिए दर्ज कर सकते हैं। नीतिगत स्तर पर लोक-संस्कृति का संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय समुदायों के साथ भागीदारी जरूरी है। केवल संग्रहालयीकरण या प्रदर्शन-आधारित संरक्षण ही पर्याप्त नहीं है। संस्कार गीतों की प्रासंगिकता तब तक बनी रहती है जब तक समुदाय उन्हें अपने जीवन में गाते व अनुभव करते हैं। इसीलिए शैक्षिक पाठ्यक्रम, सामुदायिक कार्यशालाएँ और स्थानीय समारोहों के माध्यम से युवा पीढ़ी में इन्हें पुन: स्थापित करने के प्रयास आवश्यक हैं।

संस्कार गीतों के सामने अनेक चुनौतियाँ मौजूद हैं- भाषा का क्षीणता, सामाजिक विभाजन, व्यावसायिकता, और युवा पीढ़ी का असम्बद्ध होना। हालांकि, संभावनाएँ भी उतनी ही मजबूती से उपस्थित हैं: डिजिटल संग्रह, ऑडियो-वीडियो रिकार्डिंग, लोक कलाओं के लिए शैक्षिक कार्यक्रम, और सांस्कृतिक पर्यटन। इंटरनेट और सामाजिक मीडिया के जरिए पारंपरिक गीतों को वैश्विक दर्शकों तक पहुँचाने के अवसर उपलब्ध हैं,लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रस्तुति परंपरा की आत्मा को क्षति न पहुँचाए।

संस्कार गीत और ज्ञान की परंपरा

भारतीय ज्ञान प्रणाली का एक प्रमुख पहलू उसकी मौखिकता और अनुष्ठानिकता रही है। संस्कार गीत मौखिक ज्ञान के रूप में धार्मिक ग्रंथों, नैतिक कथाओं और व्यवहारिक ज्ञान को संवर्धित करते हैं। उपनयन के गीत ज्ञान-प्राप्ति के आदर्शों को प्रकट करते हैं; विवाह-गीत सामाजिक अनुबंधों और पारिवारिक कर्तव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं; मृत्यु-संबंधी गीत जीवन की नश्वरता और धर्मनिर्मित अर्थों पर विचार कराते हैं। इस प्रकार संस्कार गीत पारंपरिक ज्ञान के वाहक ही नहीं, बल्कि हर पीढ़ी के लिए अर्थनिर्माण और संस्कृति के संरक्षण के साधन भी हैं। संस्कार गीतों का अध्ययन हमें भारतीय समाज की समय-सापेक्षता, बहुभाषिकता और बहु-सांस्कृतिकता की समझ प्रदान करता है। ये हमें बताते हैं कि कैसे सामुदायिक स्मृति और व्यक्तिगत अनुभव मिलकर ज्ञान का एक जीवंत ताना –बाना बनाते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. भारतीय लोक-साहित्य. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. वात्स्यायन, कपिला. भारतीय लोककला परंपरा. नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली.
3. शर्मा, रामविलास. लोकसंस्कृति और लोकभाषा. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
4. मिश्र, विद्यानिवास. भारतीय संगीत और समाज. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
5. त्रिपाठी, रामकुमार. संस्कार और लोकजीवन. हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल.
6. पाण्डेय, शिवकुमार. लोकगीतों में भारतीय संस्कार. साहित्य भवन, इलाहाबाद.
7. Prasad, L. (2010). Folk traditions of India. National Book Trust.
8. Sharma, R. S. (2005). Material culture and social formations in ancient India. Macmillan.
9. Singer, M. (1972). When a great tradition modernizes: An anthropological approach to Indian civilization. Praeger.
10. Thapar, R. (2002). Cultural pasts: Essays in early Indian history. Oxford University Press.

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.010

कला की शिक्षा एवं शिक्षा में कला का आधुनिकीकरण

नीतीश रंजन*

कला ही एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य, जाति, धर्म, संप्रदाय, देश इत्यादि में भिन्नता होते हुए भी उसे एक सूत्र में बांधकर रखता है और सभी में एकरूपता स्थापित कर एकाग्रता का परिचय देता है।चाहे वो देशभक्ति से ओत–प्रोत गीत हो, प्रेरणात्मक गीत,संस्कार गीत या कोई अन्य प्रकार के गीत हो सभी में संगीत साधारणतया व्याप्त है।

कला मनुष्य के विचारों, भावों आदि को भी व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है। यह व्यक्ति के सभ्यता एवं व्यवहार में पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित होती रहती है। किसी भी संस्कृति की विशेषता लोगों के भाषा,धर्म,समाज एवं कला से जानी जाती हैं।कला के बिना मानव का जीवन निरस है। कला ही एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य प्राणी में कुछ नया करने की इच्छा को प्रबल कर उसे नित प्रोत्साहित करते रहता है जिससे मनुष्य को एक कलात्मक ढंग प्रदान होता है और इससे मनुष्य का रंजन भी बड़े आसानी से हो जाता है। एकाग्रता का विकास होते ही मनुष्य कोई भी कार्य बड़े सहज तरीके से कर लेता है और शैक्षणिक, आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करता है।कला की शिक्षा सांस्कृतिक विरासत और विविधता को समझने तथा उसकी निरन्तरता को बनाए रखने का उपयुक्त साधन है। शिक्षा में कला की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। बच्चों को नियमित पढ़ाई के साथ साथ कला के पाठ्यक्रम से भी अवगत कराते रहना चाहिए जिससे बच्चे का सर्वांगीण विकास होता रहे।संगीत, नृत्य, रंगमंच, ललित कला, फिल्म निर्माण, और अन्य विभिन्न रूपों में कला बच्चों को जीवन जीने,कौशल सीखने और विकसित करने में मददगार साबित हुई है। यह बच्चों में जड़ता और नीरसता को दूर कर एक उत्साह भरने और कल्पनाशीलता को बढ़ाता है,जीवन कौशल सिखाता है, आत्मविश्वास और प्रेरणा बढ़ाता है, सांस्कृतिक जुड़ाव,कौशल विकास एवं रचनात्मकता का विकास करता है।

मुख्य शब्द : *कला,शिक्षा,धर्म,मनुष्य,आधुनिकता*

कला

"कला क्या हैं? कला मनुष्य की सृजनात्मक आत्मा की वास्तविकता की पुकार के लिए एक प्रतिक्रिया है।"- रबीन्द्रनाथ टैगोर

एक शिक्षार्थी के प्रखर व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में साहित्य संगीत और कला भी आवश्यक है। — रबीन्द्रनाथ टैगोर

कला मनुष्य के जीवन में उसके अंदर के

* शोध छात्र : संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित कला संकाय, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय दरभंगा, बिहार–846004; मो. 8130871619; E-mail: nitish19caranjan@gmail.com

भाव चाहे वह सुख के हो या दुख के उसे व्यक्त करने व आनंद प्राप्ति करने का एक सर्वोत्तम माध्यम है जिससे मनुष्य का बौद्धिक व चारित्रिक विकास होता है। मनुष्य में कार्यों को करने का एक अलग ढंग व प्रस्तुति को प्रदान करता है।

एक कथन भी याद आती है कि किसी ने बड़ा खूब कहा है कि अगर किसी देश की स्थिति जाननी है तो उस देश की कला व संस्कृति को जान ले क्योंकि कला एवं संस्कृति ही वह सुंदरतम धरोहर है जो किसी भी देश व समाज के प्रगति का आधार है।

बौद्धिक स्तर पर देखे तो कला एकाग्रता, ध्यान केंद्रन, अभिव्यंजना आदि का विकास करने में सहायक है जिससे प्राय: सभी व्यक्ति किसी न किसी माध्यम से ढूंढ रहे हैं और उसे पाने के लालसा रखते हैं। परंतु अन्य माध्यम कहीं न कहीं शुष्क साबित होता है और एक कला ही है जो सभी क्रियाओं को सुलभता प्रदान कराता है जिससे व्यक्ति बौद्धिक व आध्यात्मिक स्तर पर भी उच्चतम स्थिति में अवस्थित हो पता है। कलाओं का संबंध पौराणिक काल के काव्य एवं महाकाव्य से भी है जिसमें पुराण, रामायण, महाभारत,वेद आदि में भी इसका वर्णन, माध्यम व प्रकार वर्णित है।

उस काल में किस तरह से विद्यार्थी गुरु के शरण में रहकर अपनी शिक्षा का प्रारंभ वेद मंत्रों का सुस्वर उच्चारण से ही करते थे।चौपाई,गीत,रचना,काव्य भी बड़े कलात्मक ढंग से रचकर प्रस्तुत किया करते थे जिसे कभी ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं पड़ती थी केवल वाचन मात्र से ही दिमाग में स्वरों के माध्यम से वेद मंत्रों को पिरो लिया जाता था जो चिर काल तक मस्तिष्क में याद रहता था। उसी प्रकार आज के समय में भी कला की शिक्षा में समावेश व कला की शिक्षा भी अन्य विषयों की शिक्षा की तरह एक महत्वपूर्ण अंग है और इसमें निरंतरता बनाने की जरूरत है।

कला की शिक्षा

कला शिक्षा अधिगम का एक प्राथमिक रास्ता है, सौन्दर्य परक अनुभव के लिए शिक्षण के अर्थ के खोज की एक यात्रा है। कला मानवीय कल्पना, कौशल और आविष्कार द्वारा सृजित विचारों की एक अभिव्यक्ति है। एक कहावत है "संगीत क्या है पसंदीदा आवाजों की अनुभूति।" उसी प्रकार यह अन्य कला रूपों पर लागू होता है। गति मनोभाव व्यक्त करता है, आवाज अनुकूलन स्वयं को रास्ता दिखाता है, मस्तिष्क की आन्तरिक सतहों को प्रकट करता है। मूर्तिकला स्वयं को प्रतिबिम्बित करता है यही कला शिक्षा है। हमारे लिए कला-शिक्षा की जरूरत क्यों है? कला शिक्षा अधिगम का एक क्षेत्र है जो इन पर आधारित है-

- दृश्य, स्पर्शनीय कला
- निष्पादन कला
- दृश्य, स्पर्शनीय कला – एक कलाकार कागज, कैनवास, मिट्टी, धातु, पेन्ट आदि उपयोग करता है जिन्हें साँचे में ढाला या कुछ भौतिक या कला वस्तुओं को सृजित करने में रूपान्तरित किया जा सकता है।
- चित्रकला
- पेन्टिंग
- मूर्तिकला
- रूपरेखा (गहने, मृदभाण्ड, बुनाई, वस्त्र आदि में और कुछ व्यावहारिक क्षेत्रों के लिए रूपरेखा बनाना जैसे, व्यावसायिक लेखाचित्रों और गृह सज्जा)
- समकालीन विषय समाहित करता है फोटोग्राफी, विडियो, फिल्म, रूपरेखा, कम्प्यूटर कला आदि।[1]

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.010

- निष्पादन कला – कलाकार माध्यम के रूप में अपने शरीर,चेहरा और उपस्थिति को प्रयोग में लाता है। यह कुछ ऐसा है जिसे निष्पादित,देखा और सुना जाता है। सामान्यत विभिन्न प्रकार की निष्पादन कलायें स्वीकृत और समझी जाती है:- संगीत, नृत्य, नाटक, कठपुतली, जादू ये सभी निष्पादन कलायें हैं। एक शिक्षक को यह समझना होगा की निष्पादन के लिए हमेशा बहुत अधिक औपचारिक अधिगम की जरूरत नहीं होती। भारत बहुत अधिक विविध संस्कृतियों की भूमि है। धनी और सम्पूर्ण अंगीकृत भारत के पास मानव जीवन के लिए हमेशा एक समग्र उपागम रहा और जिसने एक सुखद वातावरण सृजित किया जिसमें बच्चा दिन-प्रतिदिन के जीवन में बहुत सी कलात्मक गतिविधियों में भाग लेता है जोकि शिक्षा एवं स्व-विकास पर केन्द्रित हैं। बच्चे का जन्म, गुरूकुल जाना, विवाह, पवित्र उत्सवों का क्रम, त्योहारों, उत्सवों का वपन एवं समापन यहाँ तक कि मृत्यु के तत्व भी हमारी संस्कृति में बहुत से कला रूपों में मौजूद है। कला हमेशा चेतन एवं उपचेतन मस्तिष्क में उपस्थित रहती है।[2]

नई शिक्षा नीति (एनईपी 2020) जिसे हम “राष्ट्रीय शिक्षा नीति” भी कहते है। इस नीति में कला और शिक्षा में कुछ वांछनीय बदलाव किए गए है। अभी तक कला, संगीत, क्राफ्ट, स्पोर्ट्स, योग आदि को सहायक पाठ्यक्रम (Co-Curricular) एक्टिविटी के तौर पर पढ़ते आए हैं। अब यह मुख्य पाठ्यक्रम का हिस्सा होंगे इन्हे एक्स्ट्रा करिकुलर एक्टिविटी भर नहीं कहा जायेगा।[3]

कला अब रोजगारपरक और व्यावसायिक भी होगी। नई शिक्षा नीति 2020 में शिक्षा व कला के माध्यम से अन्य विषयों को रूचिकर बनाने की एक विशेष पहल शामिल की है जिसमें कला को अन्य सभी विषयों के साथ समेकित किया जा सकता है अर्थात विभिन्न विषयों के सीखने-सिखाने में कला संयोजन। भाषा, सामाजिक अध्ययन, विज्ञान और गणित जैसे विषयों को कला के साथ जोड़कर उस विषय की जटिलता व उसकी अवधारणा को बेहद सरल व सुगम बनाया जा सकता है। कलाओं द्वारा विषयों को रुचिकर बनाकर एक ऐसा माहौल तैयार किया जाता है जिसमें न सिर्फ उनका शरीर बल्कि हृदय और मस्तिष्क भी एक साथ काम करते है।[4]

मनुष्य के अंदर व्यक्तिगत विकास, भाषा, गणित, पर्यावरण के संज्ञानात्मक तथ्यों का विकास होता है तथा बच्चों को ज्ञान के सृजन के लिए प्रेरित भी किया जा सकता है।

कला शिक्षा सांस्कृतिक विरासत और विविधता को समझने तथा उसकी निरन्तरता को बनाए रखने का उपयुक्त साधन है।कला शिक्षा के माध्यम से शिक्षार्थीगण अनेक प्रकार के कलाओं से अवगत होंगे तथा उन्हें सीखेंगे। इससे वे न सिर्फ उन कलाओं का प्रयोग करेंगे बल्कि कला की उन विरासतों को आगे भी प्रसारित करेंगें। इससे कलाओं का पीढ़ी दर पीढ़ी निरंतर विकास होता रहेगा और वे कलाएं बची रहेंगी जिनका निरन्तर लोप होता जा रहा है। साथ ही, कलाएं जहाँ एक तरफ भावनात्मक दृढता प्रदान करती हैं वहीं राष्ट्रीय एकता की भावना का भी विकास करती हैं।

प्रारम्भिक स्तर की पाठ्यचर्या में कला समेकित शिक्षा की आवश्यकता को हम निम्न बिन्दुओं से देख सकते हैं -

- सीखने को आनंदमयी और आकर्षक बनाना।

- सूक्ष्म अवलोकन और बाधा रहित अन्वेषण के माध्यम से पर्यावरण की जागरूकता और संवेदनशीलता को प्रोत्साहित करना।
- स्वतंत्र अभिव्यक्ति, सम्प्रेषण और सृजनात्मक भागीदारी को प्रेरित करना।
- समावेशी वातावरण में रहना सीखना।
- आस-पास की दुनिया में गणित और विज्ञान की अवधारणाओं की खोज करना।
- अन्त: विषयी सम्बन्धों के बारे में जागरूक होना।
- अवलोकन, जिज्ञासा, अन्वेषण, रचनात्मक और स्वतंत्र अभिव्यक्ति को बढावा देना।
- शरीर, उसकी गतियों और संबंध का पता लगाना और समझना।
- सृजन, भावपूर्ण सम्प्रेषण और आलोचनात्मक चिंतन व कौशलों का विकास करना।
- अधिगम और ज्ञान के प्रति जिज्ञासु अभिवृति को बढ़ावा देना।
- अपनी भावनाओं को समझना और नियंत्रित करना।
- समृद्ध विरासत और सांस्कृतिक विविधता के प्रति संवेदनशील बनाना और जागरूकता उत्पन्न करना।[5]

कला की शिक्षा विद्यार्थी के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

विद्यालय/विश्वविद्यालय में जिस तरह विज्ञान व अन्य विषयों की प्रायोगिक शिक्षा हेतु प्रयोगशालाएं होती हैं इस तरह विद्यालय/विश्वविद्यालय में भी कलाओं की शिक्षा हेतु विभिन्न कला सामग्रियां आवश्यक रूप से होनी चाहिए केवल दिखावे के लिए नहीं परंतु उसके पठन-पाठन के लिए भी शिक्षक, गुरु व विशेषज्ञ होने चाहिए जिससे बच्चा कला को बिल्कुल सीने-ब-सीने जड़ से (प्रारंभिक स्तर) से सीखे।

आज गांव में अनेक नौजवान युवक है जो ऐसे मेधावी है कि जिन्हें कला व शिक्षा में राष्ट्रीय सम्मान मिल सकता है परंतु लोक,समाज,लज्जा व संकुचित विचार होने के कारण रूढ़िवादी समाज के जाल में अपने आप को स्वयं फांस बैठे हैं। गांव के बच्चों में बहुत प्रतिभा है परंतु संसाधनों की कमी के कारण बच्चा अभाव पूर्ण होने की वजह से वंचित रह जाता है परंतु सोशल मीडिया के करण आज आधुनिक युग के युवा अपनी रुचि और प्रतिभा विभिन्न क्षेत्रों में भी दिखा रहे हैं और अपने जीवन में अनेक चुनौतियों का सामना कर अपनी एक अलग पहचान बना रहे हैं।

शिक्षा

शिक्षा मनुष्य के जीवन के विकास का क्रम प्रदर्शित करता है। वस्तुत: प्राचीन काल में जब मनुष्य उतना विकसित नहीं था, तब भी शिक्षा थी, लेकिन तब शिक्षा के क्षेत्र का वो विस्तार नहीं था जो आज है। उस समय शिक्षा बहुत कम लोगों के पास थी और कुछ लोग ही समाज और राष्ट्र के नियंत्रण में अपने शिक्षा के माध्यम से अपना योगदान देते थे। लेकिन विकास के साथ ही मनुष्य के आंतरिक और बाहरी गुणों में जब तेजी से परिवर्तन होने लगा, समाज का परिवेश बदलने लगा तो शिक्षा के क्षेत्र में भी विस्तार होने लगा। जब शिक्षा व्यवहारिक तौर पर व्यवहार में आई तो पुस्तकों से निकलकर मनुष्य के जीवन में प्रवेश करने लगी। मनुष्य का जीवन शिक्षा के बिना अधूरा है और शिक्षा मनुष्य के बिना अस्तित्वहीन हैं। वस्तुत: मनुष्य के बाहरी-भीतरी विचारों, संस्कारों और उसकी चेतना के विस्तार और परिष्कार का ही नाम शिक्षा है।

जब शिक्षा ऋषि मुनियों के आश्रमों से निकलकर राजमहलों के चकाचौंध से आम जन–मानस के बीच पहुँची तो समाज के सभी वर्गों के

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.010

लोगों ने शिक्षा के महत्व को समझा और समाज के सभी वर्गो में इसका प्रचार प्रसार हुआ। इस प्रकिया में बहुत समय लगा। मनुष्य की विकास यात्रा जितनी तेजी से बढ़ रही है उतनी ही तेजी से शिक्षा का विस्तार भी बढ़ता जा रहा है। इसलिए आज से 50 वर्ष पूर्व शिक्षा की जो परिभाषा दी गई थी या तो वह बदल गयी है या पूरी तरह गलत हो गई है।शिक्षा की सही पहचान तभी हो सकती है जब मनुष्य के जीवन की पूरी पहचान हो जाए।मनुष्य के जन्म के पश्चात् से ही उसमें विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। बचपन में अगर वच्चे को सही वातावरण, मार्गदर्शन एवं बड़ों का अनुप्रेरक मार्गदर्शन मिलने लगता है तो उसका विकास सही दिशा में होने लगता है। बचपन में बच्चे कई दिशाओं में एक साथ आगे बढ़ना चाहते हैं। बच्चों में जो ऊर्जा होती है उसे हम किसी एक दिशा में केन्द्रित नहीं कर सकते हैं, उस उर्जा का बहाव कई दिशाओं में एक साथ होता है। कई बच्चों में पढ़ाई के साथ साथ कला में जैसे – संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला, हस्तकला, खेल इत्यादि में भी उनकी गहरी रुचि होती है। हम देखते है कि कई बच्चे शुरू में पढ़ते भी हैं, कला में भी अच्छा करते है अच्छा गाते, बजाते, नृत्य भी कर लेते है और अच्छा खेलते भी हैं, लेकिन धीरे धोरे या तो वे पढ़ाई से विमुख हो जाते हैं या खेल व कला से और केवल एक ही दिशा में बढ़ने लगते है जिससे उनका केवल एक ही दिशा में विकास होने लगता है जो उसके सर्वांगीण विकास में बाधक साबित होता है। इसके पीछे का कारण कभी शिक्षक की भूल से, कभी अभिभावक की भूल से और फिर कभी मित्रों के उपहास एवं उपेक्षा के कारण उनकी ऊर्जा शक्ति का बहाव कई दिशाओं से हटाकर केवल अभिभावक की मर्जी और उनके अरमानों की पूर्ति तक टिक जाती है जिसमें बच्चों का कोई रूचि नहीं होता परन्तु बच्चों को जबरदस्ती लोक समाज के बराबरी में रहने और भेड़ चाल चलने पर मजबूर किया जाता है। जिससे बच्चा अंदर ही अंदर कुंठित होता रहता है। मनोविज्ञान मानता है की प्रत्येक मनुष्य में बहुत कुछ करने की असीम शक्ति छिपी होती है। अगर मनुष्य को सदैव सकारात्मक कार्यों के प्रति प्रोत्साहन मिलता रहे तो मनुष्य कुछ भी कर सकता है। कोई भी बच्चा जन्म से ही विद्वान व कलाकार नहीं होता उसका परिवेश और सही मार्गदर्शन ही उसे बनाता है।

शिक्षा के संबंध में जो मौलिक भ्रम लोगों में व्याप्त है कि शिक्षा का अर्थ है पढ़ा–लिखा होना।

जो लोग पढ़ें-लिखे हैं उनके विषय में आम धारणा है कि उनके आंतरिक गुणों का पूर्ण विकास हुआ ही होगा, लेकिन यह आवश्यक नहीं है। जो पढ़े-लिखे लोग केवल बाहर की पढ़ाई से संतुष्ट हो गए, उन्होंने थोड़े से अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और जिनके अंदर कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जिनके अंदर शिक्षा व ज्ञान का प्रकाश नहीं फैला, जिनकी जड़ता, कुंठायें नहीं बदली जिनमें शिक्षा की क्रांति घटित नहीं हुई उन्हें शिक्षित मानना बहुत बड़ी मूर्खता है। अगर शिक्षा का मूल उद्देश्य अक्षर ज्ञान है तो वैसे लोग जिन्हें कोई भी अक्षर ज्ञान नहीं है और भिन्न-भिन्न कलाओं में निपुण हैं जैसे संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला, हस्तकला, खेल इत्यादि में निपुण हैं वैसे लोगों को हम क्या कहेंगे, अगर अक्षर ज्ञान रखने वाले को शिक्षित कहें तो जितने भी लोग विश्वविद्यालयों से डिग्रिया लेते है केवल उन्हें ही शिक्षित मानना पड़ेगा, तो फिर कला में निपुण विभूतियों को हम क्या कहेंगे। इसलिए शिक्षित का अर्थ यह नहीं है कि जो विश्वविद्यालयों से पढ़ा हों,शिक्षित का अर्थ है आंतरिक गुणों का विकास उसमें कितना हुआ

कुंठाएं समाप्त हुई या नहीं,चेतना का विकास पूर्ण रूप से हुआ या नहीं।

2020 तक की जो शिक्षा पद्धति थी वे पूरी की पूरी पुस्तकों पर आधारित थी। शिक्षा का पूरा दायरा सिमटकर पुस्तकों में समाहित था और हमें ये पता भी है कि सिर्फ पुस्तकें शिक्षा की निर्जीव माध्यम है। यही कारण है कि एक निर्जीव माध्यम सजीव केन्द्र पर कारगर नहीं हो पाती। जिस शिक्षा में शिक्षा देने का माध्यम जितना सजीव होता है वह शिक्षा उतनी ही कारगर होती है। इसीलिए 2020 में नई शिक्षा नीति (एनईपी) जिसका पूरा नाम "राष्ट्रीय शिक्षा नीति" है। का केंद्रीय कैबिनेट ने 29 जुलाई 2020 को एनईपी 2020 को मंजूरी दी, जो पहले की 1986 की नीति की जगह लाई गई। यह एक महत्वपूर्ण सुधार है, जिसे भारत में शिक्षा प्रणाली को और अधिक समावेशी, कौशल आधारित और छात्र केंद्रित बनाने के लिए शुरू किया गया है। भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) ने पारंपरिक 10+2 सिस्टम (जिसमें कक्षा 10 के बाद के दो वर्ष शामिल थे) को बदलकर 5+3+3+4 कर दिया।

जिसमें 5 साल का फाउंडेशनल स्टेज (मूलभूत स्तर) जिसका उम्र: 3 से 8 साल।

इस स्तर में प्री-स्कूल और प्राथमिक स्कूल शामिल हैं, जो खेल आधारित और गतिविधियों से सीखने महत्त्व दिया जाता है। भाषा विकास की शुरुआत होती है।

3 साल का प्रिपरेटरी स्टेज (तैयारी स्तर) उम्र: 8 से 11 साल।

भाषा और गणित की बुनियादी समझ, खेल और गतिविधियों के माध्यम से सीखना, कक्षा में बातचीत और खोज के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना।

3 साल का मिडिल स्टेज (मध्य स्तर) उम्र: 11 से 14 साल

विज्ञान, गणित, कला, सामाजिक विज्ञान और मानविकी में अनुभवात्मक (अनुभव पर आधारित) शिक्षा दी जाती है।

4 साल का सेकेंडरी स्टेज (माध्यमिक स्तर) उम्र: 14 से 18 साल

विषयों की गहरी समझ पर जोर, इसे दो चरण में बांटा गया है – (कक्षा 9-10) और (कक्षा 11-12)[6]

शिक्षा में कला

हर काम में नवोन्मेषी, रचनात्मकता की ज़रूरत होती है। पढ़ने,लिखने में भी रचनात्मक सोच की जरूरत होती है। तभी बच्चे लंबे समय तक किसी भी विषय को याद रख सकते है और वह विषय फिर उनके लिए आसान भी हो जाता है। हमारा समाज कला, रचनात्मकता,आविष्कार एवं अनेक गुणों से भरा है।समाज में नित नए–नए अविष्कार व कुछ नयापन देखने को मिल ही जाता है जो बाकी जनसंख्या को प्रभावित करती है और व्यक्ति को विशेष से विशिष्ट बनाती है। जब मनुष्य की शिक्षा प्रणाली में रचनात्मक बदलाव आता है तो मनुष्य के सोचने,समझने व कार्य का निष्पादन करने में एक अलग ही ऊर्जा मिलती है। कला और उसमें रचनात्मकता हमारी संस्कृति को समृद्ध बनाती है लेकिन हमारा यह बदनसीबी है कि कला,खेल को हम पढ़ाई के आगे तुच्छ कार्य मानते हैं। परंतु लोगों में जागरूकता का अभाव के कारण इसे नहीं जानते कि इस विषय में भी पढ़ाई व डिग्रियां ली जा सकती है। जागरूकता ना होने के कारण कोई बिरला ही होगा जो कला एवं खेल को अपने जीवन में अपनाएगा।

अगर हम देखे तो शिक्षा सिर्फ एकतरफा ज्ञान प्रदान करने की क्रिया नहीं है यह मनुष्य

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.010

को उसके जीवन में आने वाली हरेक समस्या का और घटने वाली घटनाओं की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण व ज्ञान प्रदान करने की क्रिया है जिससे व्यक्ति के अंदर कौशल विकास हो और कुछ नया करने को प्रेरित हो।परंतु जबतक शिक्षा से रचनात्मक विकास न हो तो वह शिक्षा को सरल की बजाय कठिन बना देती है फिर वह तथ्य सिर्फ किताबें के पन्नों में ही रह जाते हैं और अगर शिक्षा में कला के पंख लग जाए अर्थात कलात्मक ढंग से सीखने और सीखाने की प्रक्रिया अपनाए तो अध्येता के अंदर जिज्ञासा उत्पन्न कर देती है।

शिक्षा में कला छात्र जीवन में एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। छात्र मुख्य रूप से विज्ञान, गणित आदि विषयों को बड़े जिज्ञासा से पढ़ता है और ज्ञान अर्जित करता है परंतु जबतक उस विषय के क्रियात्मक पक्ष को वो न करके देख ले तब तक उसे उसके विषय वस्तु का सही बोध नहीं हो पाता है। यदि शिक्षक उसे उसके पाठ्य पुस्तक को क्रियात्मक, कलात्मक व सृजनात्मक ढंग से न पढ़ाए तो उसके कौशल का विकास,संचार, निर्णय लेने की क्षमता

रचनात्मकता,,नवाचार की गति बहुत धीमी हो जाती है। जो छात्र कला में रुचि रखते या अभ्यास करते है तो कला उसे व्यक्तिगत और शैक्षणिक दोनों ही रूपों में सर्वांगीण विकास प्रदान करता है। कला व्यक्ति के अकेलापन को दूर करता है,एकाग्रता की शक्ति को बढ़ाता है,जीवन जीने की शैली और अनुशासन जीवन को प्रदान करता हैं,आत्मशक्ति बढ़ाकर आत्मविश्वास और प्रेरणा प्रदान करता है।बच्चों को छोटी उम्र से ही विभिन्न कलाओं से उसका परिचय कराते रहना चाहिए जिससे बच्चें को अपने आस-पास की दुनिया का अवलोकन करने और उसकी विशालता को समझने की जरूरत है। ऐसा करने का एक बेहतरीन तरीका है दृश्य कलाओं का अभ्यास करना और वीडियोग्राफी, फ़ोटोग्राफ़ी और ग्राफिक डिज़ाइन जैसे विभिन्न माध्यमों को सीखना।

शिक्षा में कला के उपयोग से शिक्षक, छात्र एवं शिक्षा से जुड़े सभी विद्वानों को बहुत लाभ मिलता है जैसे की कार्य करने का नया-नया तरीका, प्रक्रिया ,कल्पनाशीलता और उच्चतर स्तर तक ले जाने व सोचने,समझने की शक्ति का विकास होता है। आज हम एक ही विषय को विभिन्न वीडियो के माध्यम से देखकर सरल से सरल प्रक्रिया को जान ले पा रहे हैं और उसे अपने जीवन में अपना रहे हैं। आज इंटरनेट, सोशल मीडिया के माध्यम से हम बेहतर से बेहतर तकनीक का इस्तेमाल कम समय और कम खर्चे में कैसे करें उसका ज्ञान प्राप्त कर ले पा रहे हैं और शिक्षा को गतिविधि आधारित बनाकर उसे कला के साथ जोड़कर नए-नए प्रयोग कर सकते हैं। जैसे पाठ–सामग्री को गाने के माध्यम से, नाटक के माध्यम से इत्यादि तरीके से जोड़कर पढ़ा सकते हैं। शिक्षा में कला के उपयोग से छात्रों में रंगमंच के द्वारा रचनात्मक लेखन का विकास, भाषा ज्ञान, भाषा पर पकड़, उच्चारण व व्यकारणीय ज्ञान स्वाभाविक रूप से बढ़ने लगता है और नाट्यकला को सीखने से यह बच्चे में बड़े आसानी से मनोरंजक तरीके से बढ़ना शुरू हो जाता है जिससे व्यक्तित्व विकास होता है इसलिए आज युवा इस ओर आकर्षित हो रहे हैं।

निष्कर्ष:—

शिक्षा मनुष्य की जड़ता,अंधविश्वास,उसकी कुंठा और मन को झकझोर दे,प्रश्न पैदा करे वही शिक्षा मनुष्य के जीवन में कारगर हो सकती है।जिस शिक्षा में प्रश्न नहीं होंगे उस शिक्षा में आगे समझने की प्रेरणा नहीं होगी शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रभाव अंतर्मन पर

पड़े जो केवल कला के माध्यम से ही मुमकिन है। इसीलिए मनुष्य को अपने जीवन में कोई भी एक कला जरूर अपनाना और सीखना चाहिए जिससे क्रियात्मक,कलात्मक व सृजनात्मक ढंग से निर्णय लेने की क्षमता,रचनात्मकता,,नवाचार एवं उसके कौशल का विकास हो सके और धीरे-धीरे संकीर्णता से बाहर निकल पठन-पाठन में भी बेहतर प्रदर्शन कर सके। कला की शिक्षा युवा छात्रों को सही दिशा दिखाती है,बुद्धि एवं निर्णय शक्ति का अधिक विकास करती हैं और उन्हें यह समझने में मदद करती है कि दुनिया को वो अपनी आँखों से कैसे देखें,समझे और पारखी नज़र विकसित करें।

संदर्भ :—

1. प्रारम्भिक शिक्षा में डिप्लोमा (डी.एल.एड)
2. प्रारम्भिक शिक्षा में डिप्लोमा (डी.एल.एड)
3. aajtak.in, education, नई शिक्षा नीति: पढ़ाई, परीक्षा, रिपोर्ट कार्ड सब में होंगे ये बड़े बदलाव, दिनांक 30 जुलाई 2020, अपडेट 7: 19 ए.एम आईएसटी
4. कला समेकित शिक्षा अवधारणा प्रतिलिपि, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा।
5. राज्य शिक्षा शोध एवं प्रशिक्षण परिषद् (एस. सी.ई.आर.टी.), महेन्द्र, पटना, बिहार
6. internet के माध्यम से

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.011

पखावज चक्करदार रचनाओं की गणितीय विशेषता व सौंदर्य

प्रो० प्रवीण उद्धव*, प्रशांत कुमार**

सारांश

पखवाज वाद्य का नाम सुनते ही मन पटल पर वीर रस, जोरदारी और गंभीर ध्वनि उत्सर्जन का विचार मन में अकारण ही आ जाता है। किंतु धीर गंभीर ध्वनि होने के बाद भी इस वाद्य के नाद में गहराई और गोलाई अन्य किसी भी अवनद्ध वाद्य से इसे भिन्न और श्रेष्ठ बनती है। यह पखावज की विशेषता ही है जहां ध्वनि की बहुल्यता होने के बाद भी वह कर्ण प्रिय भी लगता है। ध्वनि उत्सर्जन का सीधा संबंध इसकी बनावट, आकृति, भाषा और आकार प्रकार से है। इस वाद्य से इतर किसी भी अवनद्ध वाद्य पर यदि जोरदार आघात किया जाए तो वह शोर का रूप ले लेता है। बड़े मुख आकार होने के कारण स्वाभाविक रूप से इसके नाद में अन्य वाद्यों की अपेक्षा ज्यादा नाद के साथ साथ गोलाई प्राप्त होती है। पखावज पर प्राचीन काल से अब तक हुए शोध और चिंतन के आधार पर विद्वानों ने इसकी नादात्मकता के आधार पर ही इस पर बजाए जाने वाले वादन प्रकार और बंदिशें को गढ़ा है। हर वाद्य की अपनी नादात्मक विशेषता होती है और उसके अनुरूप ही उसकी प्रस्तुति, बंदिशे और वादन शैली होती है।

पखावज की हर एक परंपरा में अलग-अलग विद्वानों ने इस नदात्मक गंगा में डुबकी लगाई है और इसकी वादन शैली, बंदिशें और प्रस्तुतीकरण की शैली से इस वाद्य को विभूषित किया है। प्रोफेसर प्रवीण उद्धव जी का कहना है की वाद्य के प्रति समर्पण, प्रेम, साधना और प्रार्थना का भाव रखा जाए तो वाद्य, कलाकार को उसके और वाद्य के बीच एक सामंजस्य बिठाने एवं उसके अनुरूप ढलने में मार्ग भी दिखाता है। यह कथन काल्पनिक लग सकता है की एक निर्जीव चीज कैसे किसी का मार्ग प्रशस्त कर सकती है किंतु उस निर्जीव वाद्य से उत्पन्न होने वाला नाद उस ब्रह्म का प्रतीक है और ब्रह्म के प्रति समर्पण प्रेम, प्रार्थना और निरंतर साधना से वह नाद ब्रह्म, साधक को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करते हैं। ऐसा कई कलाकारों का न केवल मत है बल्कि विश्वास भी है। पखवाज वाद्य कई सांगीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तन से होकर गुजरा है इसकी यात्रा बहुत लंबी है। जहां एक ओर इसकी प्राचीनता विभिन्न प्राचीन ग्रंथो में अंकित है वहीं कई दंत कथाओं में इसका वर्णन प्राप्त होता है।

कूट शब्द *– पखावज, धा का मान, पल्ला, बंदिश, भाषा, वाद्य, तबला, चक्र, ध्वनि, चक्रदार, सौन्दर्य, गतिमानता*

आज प्रयोगवाद के समय में भी या वाद्य   और नाद के कारण विशेष कर प्रयोग किया जा
विचारशील लोगों के बीच भाषा समृद्ध परंपरा   रहा है। इसमें अन्य वाद्यों की अपेक्षा नाद का

शोध निर्देशक, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

**शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

विस्तारण और प्राचीनतम भाषाशैली का भंडार है। किसी भी वाद्य पर बजने वाले वादन प्रकार, उसकी प्रकृति के अनुसार प्रयोग किए जाते हैं। वाद्य का व्यक्तित्व और प्रकृति, वादन शैली और वादन प्रकार पर निर्भर करता है और इनमें संतुलन और सामंजस्य होने पर ही वाद्य का एक स्थान और एक अंग बनता है। पखवाज वाद्य नाद के विशेष स्पंदन को अपने अंदर समाहित करता है और वादन के उपरांत इसका स्पंदन एक विशेष आकृति के रूप में सुनाई पड़ता है। पखावज की नाद विशेषता के अनुसार इस वाद्य पर बजने वाले कई वादन प्रकार हैं जैसे परण, स्तुति परन, रेला चक्रदार रचनाएं आदि।

उक्त सभी रचनाएं इस वाद्य की विशेषता है किंतु परन संतति का वाद्य होने के कारण चक्रदार रचनाएं इस वाद्य का प्राण माना जाता है। विस्तारशीला रचनाओं का संबंध खाली भरी से होता है किंतु विभिन्न नादो का समन्वय, नाद गुटों का प्रयोग, विभिन्न आयामों से भाषा का विस्तारण अविस्तारशील रचनाओं में विशेष कर दर्शनीय होता है। इसमें भाषा विभिन्न गति, चाल-ढाल और नदों के विभिन्न समन्वय को प्रस्तुत करती है जिसमें खाली भरी का एक अनूठा स्वरूप देखने को मिलता है जिसका प्रस्तुतीकरण विस्तारशील रचनाओं से सर्वथा भिन्न है। पखावज पर बजने वाले चक्रदार रचनाएं मूलत: परन प्रकृति की होती है। परन की भाषा वीर रस प्रधान, गतिमयता, भाषा में विभिन्न शब्द संगतियों से युक्त होती है । परन प्रकृति को अपनी परिपूर्णता में प्रस्तुत या व्यक्त होने के लिए चक्रदार रचना सर्वोपयुक्त वादन प्रकार है। चक्रदार रचनाओं का संबंध भाषा के विस्तारण से है। अमूमन यह देखा गया है की किसी भी अच्छी वस्तु का आस्वादन मनुष्य बार-बार करना चाहता है।

इसी प्रकार से परन में निर्मित भाषा, शब्द संगतियों, और नाद गुटों का श्रवण करने के लिए चक्रदार रचनाओं का प्रयोग किया गया होगा । बुद्ध ने भी अपने वचनों को तीन बार दोहराया है, यह दोहराने की प्रक्रिया निरर्थक नहीं है इसमें सार है। चक्करदार रचनाओं की प्रकृति मात्र एक वादन प्रकार नहीं बल्कि इस रचना की विचारधारा मनुष्य की मूल प्रकृति से जुड़ा हुआ है। पखावज वाद्य में चक्रदार रचनाओं का वृहद् स्वरूप देखने को मिलता है चक्रदार रचनाएं तिहाई का ही वृहद् स्वरूप है जिसमें तिहाई एक महत्वपूर्ण भाग होता है भाषा के विस्तारण को एक पूर्णता तक ले जाने के लिए तिहाई का प्रयोग किया जाता है परन यह असंख्य भाव से चलायमान और गतिशील रचना होती है जिसमे भाषा का विस्तारण अनियमित काल तक किया जा सकता है किंतु उसको एक पूर्णता देने के लिए और उसकी भाषा जहां से वह शुरू हुई है उसकी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंत में तिहाई से उसको विराम दिया जाता है और पुन: उसे दोहराया जाता है। प्रोफेसर प्रवीण उद्धव जी के अनुसार यदि चक्रदार रचनाओं में तिहाई ना हो तो वह अपूर्ण प्रतीत होंगे भाषा के लोट- पलोट, शब्द संगति का आनंद तो प्राप्त होगा किंतु वह अधूरी प्रतीत होगी।

चक्करदार रचनाओं का गणितीय पक्ष

भारतीय ताल - वाद्य की समृद्ध परंपरा में पखावज वाद्य की विशेषता अमूल्य है। पखावज वाद्य केवल गति, ध्वनि और नाद की कारण अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं, बल्कि अत्यंत सौंदर्यपूर्ण गणितीय बोध का प्रतीक भी है। विशेषकर चक्करदार रचनाएँ- जिन्हें निरन्तरता के साथ मात्र तीन बार दोहराया नहीं जाता है अपितु उसकी प्रत्येक चक्र एक होते हुए भी अभिव्यक्ति भिन्न होती है। इस रचना का समापन सम पर सटीक और सौंदर्य पक्षों को ध्यान में रख कर

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.011

किया जाता है - भारतीय ताल विद्या गणितीय कौशल की सुंदर और महत्वपूर्ण प्रणाली मानी जाती हैं। इन रचनाओं में कलात्मक रूप से लय, समय, गणना, संरचना और पुनरावृत्ति का अद्‌भुत समावेश देखने को मिलता है। पखावज वादन में गणितीय सजगता के विचार को पुष्ट करने के लिए चक्रदार रचनाओं का निर्माण, अभ्यास और प्रस्तुतिकारण एक उच्च स्तर की साधन और वादन प्रकार है।

पखावज की रचनाओं में विशेष कर चक्रदार रचनाओं में गणितीय प्रयोग किए जाते रहे हैं। किंतु वर्तमान में उनकी संकल्पना पुरानी वादन शैली से भिन्न है। पहले गणित का प्रयोग भी भाषा की सुंदरता को बढ़ाने के लिए एवं भाषाई दृष्टि से आकार प्रदान करने, साहित्यिक और सांगीतिक तत्वों को बढ़ाने के लिए किया जाता था। गणितीय दृष्टि से वह बंदिशों में छंद के विशेष समायोजनों से लयकारी को दर्शाया करते थे। पल्लो का भी निर्धारण, विस्तारण और दम को सम मात्रिक ही रखा जाता था। पखावज वादन करने में प्रवीणता रखने वाले बुजुर्गों को भाषा की इतनी सूझ थी कि वह 100 (सौ) मात्रा से भी अधिक पल्ले की चक्करदार रचनाओं को प्रस्तुत किया करते थे। जिसमें वह विभिन्न प्रकार की गणितीय प्रयोग, छंदों, जातियों, शब्द संगति, शब्द संवाद, प्रकृति की विभिन्न ध्वनियों को समाहित कर एवं प्रकृति में व्याप्त विभिन्न गतियां को प्रस्तुत करते थे।

ध्वनियों को वादन अनुकूल रूपांतरित करने की क्षमता भाषा वैज्ञानिकों में ही हो सकती है। जहां चक्रदार रचनाएं भाषा की दृष्टि से बड़ा ही समृद्ध होती हैं वहीं गणितीय दृष्टि से भी यह बड़ी महत्वपूर्ण है। पल्ला और दम दो महत्वपूर्ण पहलू होते हैं जिसमें पल्ले में तिहाई निहित होती है। पल्ले और दम का महत्व इस प्रकार है कि एक ही भाषा में यदि दम को बदल दिया जाए तो प्रत्येक पल्ले का स्वरूप तलाकृति के कारण बिल्कुल भिन्न हो जाता है एवं यदि पल्ले को बदल दिया जाए और दम को सामान रखा जाए तो भी उसकी आकृति परिवर्तित हो जाती है। पल्ले और दम के परिवर्तन से एक ही भाषा के कई प्रकार, कई स्वरूप विभिन्न आकृतियां बन जाती हैं और विभिन्न तालों में आकर्षक रूप से बजाई जा सकती है। यह गणितीय विश्लेषण ही है जिसके कारण हम किसी भी घराने की रचना को, किसी भी भाषा को और किसी भी वादन प्रकार को गणितीय आधार पर किसी ताल और लयकारी में बांध सकते हैं और इसका आस्वादन गणितीय आधार पर बड़े ही सरलता से किया जा सकता है। चक्रदार रचनाओं में गणितीय पक्ष से हम उस सूत्र तक पहुंच सकते हैं जहां कोई भी ताल या किसी भी ताल के किसी भी मात्र से चक्रदार बनाई जा सकती है। 'गणित' ताल विद्या का वह महत्वपूर्ण पक्ष है जिसके आधार पर हम रचनाओं के प्रत्येक भाग को समझ कर बजा सकते हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में जब संगीत और शिक्षा का स्वरूप बदल रहा है उसमें किसी भी मुश्किल बात को गणित के माध्यम से बड़ी ही सरलता से विद्यार्थियों को समझाया जा सकता है। गणित का प्रयोग हमेशा से ही मनुष्य की समस्या को हल करने में प्रयोग किया गया है, विज्ञान में गणित के बिना मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। गणितीय सूत्रों से सटीक एवं उपयोगी परिणाम प्राप्त किए जाते हैं संगीत में इनका प्रयोग कलाकार सदा से करते हैं। शिक्षण में विभिन्न अवधारणा समझने और उन्हें विद्यार्थियों को समझाने के लिए सहायक सिद्ध होता है।

चक्रदार रचनाएं वह होती है जो तीन बार समान रूप से बजाई जाती है और प्रत्येक चक्र का अन्त तिहाई के अलग अलग प्रारूप में निहित होते है। और उनका उद्देश्य एक ही बिंदु पर

अर्थात् सम पर आना होता है। कुछ विद्वान इस संरचना का गणितीय आधार दो भागों में बांटते हैं:

तीन आवृत्तिय रचना - चक्रदार रचना के प्रमुख नियम होते हैं जिसमें सबसे महत्वपूर्ण नियम है यह रचना तीन आवर्तनीय रचना होती है तथा प्रत्येक चक्कर का अवधि समान होती है।

सम संधान – चक्रदार रचनाओं के आकर्षण का केंद्र है उनके चक्र और उनका सम पर आगमन । सम स्थान पर रचना के उद्देश्य की पूर्ति होती है। उत्तर भारतीय संगीत का सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण, संवेदनशील और पूर्णता प्रदान करने वाला स्थान 'सम' होता है। सम पर रचना किस वेग से, किस गति से, किस स्वरूप में आएगी यह चक्रदार के पल्ले और उनकी तिहाईयों पर निर्भर करता है। चक्रदार रचनाओं में प्रत्येक पल्ले के मध्य दम से भी सम पर आने का स्वरूप निर्भर है।

चक्रदार रचनाओं में गणित के कई सूत्र प्रचलित हैं। अलग-अलग विद्वान विभिन्न सूत्रों द्वारा चक्रदार रचनाओं को विश्लेषित करते हैं। इनके गणितीय समीकरण का धेय तो एक ही होता है किंतु सूत्र और पद्धति अलग-अलग होती है। कई विद्वान चक्रदार के प्रत्येक पल्ले और तिहाई को अलग मानते है तथा 'धा' और दम को अलग रखते है। इस प्रकार चक्रदार में पल्ला तिहाई और दम ऐसे तीन भाग मानते हैं। पंडित सुरेश तलवरकर जी का कहना है की कुछ विद्वान तीन ताल के चक्रदार रचना में 10 के चक्र को 11 का पल्ला मानते हैं। यदि इस कथन को देखा जाए तो 11 के पल्ले को यदि तीन बार बजाया जाए तो वह 11 X 3 = 33 होता है और तीन ताल के दो आवर्तन में 32 मात्राएं होती हैं इस इस पद्धति में 'धा' को पल्ले में ही रखा गया है और 33 वीं मात्रा को सम माना गया है। किंतु यह पद्धति उतनी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यदि 11 के पल्ले को तीन बार बजाने से यह बेदम चक्रदार कहलाएगी किंतु पंडित सुरेश तलवरकर जी के

अनुसार बेदम चक्रदार में भी पांव (1/4) का दाम होता है। इस हिसाब से यदि तीनताल के दो आवर्तन में बेदम चक्रदार का गणितीय विश्लेषण करें तो प्रत्येक पल्ला 10.30 मात्रा का होगा और पांव - पाव मात्रा का दम से कुल मात्राएं 32 होती हैं इसका गणितीय विश्लेषण इस प्रकार होगा: 10 1/2 (पल्ला) + 1/4 (दम) +10 1/2 (पल्ला)+1/4 (दम) +10 1/2= 32

चक्रदार रचना में सबसे पहले यह निर्धारित करना होता है की चक्रदार रचना किस ताल में बजानी है या बंधनी है, इसके पश्चात कितने आवर्तन में चक्रदार की रचना को प्रस्तुत करना है, इसके उपरांत ही पल्ला और दम निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार चक्रदार रचनाओं के चार मुख्य भाग माने गए है:-

1. ताल का निर्धारण
2. आवर्तन का निर्धारण
3. पल्ला
4. दम ।

चक्करदार रचनाओं का संबंध तीन चक्र से है। तीनों चक्करों के कुल बोलों की संख्या ताल के आवर्तन तथा उनकी गणित से मेल खानी चाहिए। यदि तीन ताल के दो आवर्तन में कुल 32 मात्राएं होती हैं तो इन 32 मात्राओं में चक्रदार रचना को बांधने के लिए सर्वप्रथम पल्ले का निर्धारण करना चाहिए। इनको करने के लिए सबसे पहले यह ध्यान रखना चाहिए की दम यदि बहुत बड़ा होता है तो उसे चक्करदार के मध्य दूरी अधिक होने से सौंदर्य भंग होता है। पंडित सुरेश तलवलकर जी अपने वादन में दम बड़े ही कलात्मक और रोचक ढंग से भरते हैं जिससे चक्रदार रचनाएं कई गुना प्रभावशाली हो जाती है पंडित जी के वादन में चक्रदार रचनाओं का विशेष महत्व है, क्लिष्ट दम को भी कलात्मक

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.011

और सांगीतिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं जिससे वह रचनाएं कलापूर्ण हो जाती हैं। ताल में जहां भाषा की प्रधानता है वहीं लय ताल की गहनता और गुढ़ता भी निहित है। इस प्रकार दम का निर्धारण सांगीतिक सूझबूझ और सौंदर्य दृष्टि के अनुसार ही होनी चाहिए। उदाहरण के लिए कुछ चक्रदार रचनाएं तथा उनके गणितीय स्वरूप:-

त्रिताल

चक्रदार

तागेतिना किटतकतातिर किटतककतिरकिट तकतातिरकिट
x
धाऽऽऽ तिरकिटतकता तिरकिटधाऽ ऽऽतिरकिट
2
तकतातिरकिट धाऽऽऽ ताऽऽऽ नऽतागे
0
तिनाकिटतक तातिरकिटतक तिरकिटतकता तिरकटधाऽ
3
ऽऽतिरकिट तकतातिरकिट धाऽऽऽ तिरकिटतकता
x
तिरकिटधाऽ ऽऽताऽ ऽऽनऽ तागेतिना
2
किटतकतातिर किटतकतिरकिट तकतातिरकिट धााऽऽऽ
0
तिरकिटतकता तिरकिटधाऽ ऽऽतिरकिट तकतातिरकिट
3
धा
x

गणितीय विश्लेषण –

पहले चक्र में 9 मात्रा का पल्ला है और मात्रा का दम है।

Note: 'धा' का मान है।

चतश्र जाति चक्करदार

धातिटधातिटधाधा तिटक्रधातिटधागे दिंऽदिंऽनानातिट घेनातिटघेनातूना
x
कतिरकिटधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत धाऽऽधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत
2
धाऽऽधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत धाऽऽऽ धातिटधातिटधाधा
0
तिटक्रधातिटधागे दिंऽदिंऽनानातिट घेनातिट घेनातुना कतिरकिटधिकिटधागे
3
तिटकतिटधाऽत धाऽऽधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत धाऽऽधिकिटधागे
x
तिटकतिटधाऽत धाऽऽऽ धातिटधातिट धाधा तिटक्रधातिटधागे
2
दिंऽदिंऽनानातिट घेनातिटघेनातूना कतिरकिटधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत
0
धाऽऽधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत धाऽऽधिकिटधागे तिटकतिटधाऽत
3
धा
x

गणितीय विश्लेषण –

पहले चक्र में 10 मात्रा का पल्ला है तथा 1 मात्रा का दम है।

Note: 'धा' का मान 1 है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. माईणकर, पंडित सुधीर, तबला वादन कला एवं शास्त्र
2. मुगांवकर, पंडित अरविंद, तबला
3. उद्धव, प्रो. प्रवीण, 1) तबला साहित्य 2) तबला काव्य के रूप रंग
4. उद्धव, प्रोफेसर प्रवीण, साक्षात्कार
5. तलवलकर, पंडित सुरेश, साक्षात्कार
6. श्रीवास्तव, गिरीश चंद्र, ताल परिचय भाग 3
7. शर्मा, पंडित नंदलाल पथिक, तबला विज्ञान
8. पं. छोटे लाल मिश्र, ताल प्रबंध
9. सिंह, विद्यानाथ, ताल सर्वांग
10. मिस्त्री, डॉ. आबान इ., पखावज और तबले के घराने एवं परंपराएं
11. शुक्ला, प्रो० योगमाया, तबले का उद्‌गम विकास एवं वादन शैलियां
12. उद्धव, प्रो. प्रवीण, लयकारियों का गणितीय सौन्दर्य

आधुनिक भारतीय संगीत एवं रोजगार

प्रतीक्षा मिश्रा*, डॉ. सुरेन्द्र कुमार**

सारः

गायन,वादन तथा नृत्य पर आधारित हमारा भारतीय संगीत प्राचीन काल से ही एक ऐसी विधा के रूप में विद्‌दमान है जहाँ संगीत से सम्बन्ध रखने वालों को तीन श्रेणियों में देखा जा सकता है,एक संगीत सीखने वाले, दूसरे संगीत सिखाने वाले तथा तीसरी श्रेणी में हम संगीत का प्रदर्शन करने वाले कलाकारों को रख सकते है। संगीत शिक्षण की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न काल में अलग-अलग माध्यमों में दी जाती हुई दिखाई देती है। संगीत में सदैव से ही शिक्षण के माध्यम से धनार्जन का कार्य किया जाता हुआ देखने को मिलता था। आज भी संगीत सेवक अपने जीविकोपार्जन को ध्यान में रखते हुये संगीत में शिक्षण के साथ- साथ अन्य अनेकानेक सांगीतिक बैठकों में अपना प्रदर्शन कर अपना पारितोषिक अर्जित करते हुये देखने को मिलते है। किन्तु आज के इस भौतिकीय एवं वैज्ञानिकता के चलते संगीत में भी रोजगार के लिए अनेकानेक साधन देखने को मिल रहे हैं। मनुष्य की सामाजिक एवं मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए जीवन-यापन करना एक समस्या के रूप में देखने के मिल रहा है। संगीत जगत के सभी संगीतज्ञों, संगीत सेवियों तथा कलाकारों को उच्च श्रेणी की नौकरी मिल जाय यह आवश्यक नही है। अत: संगीतकारों को अपनी तथा अपने परिवार की अनेकानेक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये किसी न किसी रूप में संगीत के द्वारा रोजगार को अपनाना ही वर्तमान समय की अपरिहार्यता है ।

मुख्य शब्द:- संगीत, रोजगार, शिक्षा, भारतीय परंपरा,आधुनिक

प्रस्तावना:-

हमारा भारतीय संगीत अत्यधिक प्राच्य रूप लिये हुये संसार में विद्‌दमान हैं। वैदिक काल से पूर्व जब सृष्टि का जन्म हुआ तब से ही संगीत का भी प्रादुर्भाव माना जाता है। संगीत सृष्टि के कण-कण में विद्यमान हैं। सृष्टि पंच भूतों से निर्मित मानी गई है- वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा आकाश। आकाश का तो गुण ही है शब्द अथवा ध्वनि। ध्वनि सदैव ही विद्यमान होती है, ध्वनि ही नाद कहलाती है तथा नाद को ही ब्रह्म माना गया है। इसलिये संगीत को आदिकालीन कला कहा गया है।[1]

हमार संगीत सृष्टि पर आने से पूर्व देवी-देवताओं की कलाओं में प्रचलित हुआ करता था, शंकर का डमरू, सरस्वती जी की वीणा, कृष्णा की मुरली इस बात का प्रतीक मानी जा सकती है। हमारे भारतीय संगीत को आदिकाल से लेकर वैदिक काल, मध्यकाल, आधुनिक काल

**शोध निर्देशक, सह आचार्य : संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

*शोधार्थी

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.012

तथा वर्तमान में भी कई अलग-अलग दृष्टियों से देखा जाता रहा है। भारतीय परंपराओं का निर्वहन करती हुई हमारी संगीत कला प्रत्येक काल में होने वाले सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिवर्तनों में स्वयं को समायोजित करती हुई दिखाई देती है। यदि हम वैदिक काल की बात करें तो उस समय में संगीत साधने पर विशेष बल दिया जाता था किन्तु पृथ्वी पर जन्म लेनें वाले सभी जीवधारियों को समाज की परिधि में रहते हुये अपने आर्थिक जीवन का यापन करने के लिये अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किसी न किसी रूप में व्यवसाय की जरूरत पड़ती ही है। हमारे भारतीय संगीत में प्राचीन काल से व्यवसाय की परंपरा दिखाई पड़ती है। कालक्रमानुसार संगीत की व्यावसायिक पृष्ठभूमि का आकलन करें तो ज्ञात होता है कि वैदिक काल में संगीत कला साधना एक परम आवश्यक तत्व के रूप में देखने को मिलता था और व्यवसाय के रूप में संगीत का व्यवहार समाज में होने लगा था। कला एवं व्यवसाय एक दूसरे के पोषक के रूप में देखे जाते थे।2

काल क्रमानुसार संगीत में रोजगार:- संगीत अर्थात् गायन, वादन तथा नृत्य। इन तीन विधाओं में कलाकार द्वारा कला को साधना, आवश्यक तत्व माना जाता था। साधक अपनी कला प्रदर्शन मंदिरों तथा देवालयों में किया करते थे। इसके साथ-साथ कला प्रेमी व संगीत सीखने की जिज्ञासा रखने वालों को शिक्षण प्रदान करते हुये, धनार्जन कर अपनी आजीविका का निर्वहन करते थे। यह प्रक्रिया सिलसिलेवार रूप से संगीत परम्परा में मध्यकाल में भी देखने को मिलती हुई दिखाई देती है। जहाँ कलाकार राजदरबारों में राजाओं का मनोरंजन एवं उनकी विलासिताओं को पूर्ण करने के लिए अपनी संगीत कला का प्रदर्शन करता था, जिनसे उन्हें जीविकोपार्जन के लिये स्वर्ण मुद्राओं, धन-धान्य एवं राजाश्रयों का लाभ प्राप्त होता हुआ देखने को मिलता था। संगीत में शिक्षण एवं प्रदर्शन की परंपरा के माध्यम से रोजगार स्थापित करना प्रत्येक कालक्रम में समान रूप से देखा जाता रहा है। किन्तु वर्तमान समय में आते-आते संगीत जगत के कलाकारों के लिये रोजगार के अनेकानेक आयाम देखने को मिल रहे हैं। समाज में होने वाले परिवर्तनों के साथ हमें धारा प्रवाह रूप में चलना आवश्यक होता जा रहा है। इसी कारणवश आज संगीत जैसी संवेदनशील, पवित्र व अलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराने वाली कला को व्यावसायिक श्रृंखला के अन्तर्गत रखा जाता हुआ दिखाई दे रहा है।3

प्राचीन काल:- मुख्यत: प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण कालखंड माना गया है जिसे हम सभी वैदिक काल के रूप में देखते हैं। संगीत कला में व्यवसाय की परंपरा वेदों (ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) के समय से देखने को मिलती है। इस काल तक संगीत की तीनों विधाओं का प्रचलन देखा जाता है। साम गायन इस वैदिक काल में अत्यधिक प्रचलन में हुआ करता था। सामग ऋषि अपनी पीढ़ियों के साथ यज्ञ आदि किया करते थे तथा इन्हीं साम गायकों का एक व्यावसायिक वर्ग बन गया था।4 इस काल की शिक्षण प्रक्रिया गुरुकुलों में संपन्न कराई जाती थी। जहां राजघराने के पुत्र पुत्रियां संगीत शिक्षा भी ग्रहण करने आते थे। मंदिरों व राजभावनों में मंगल प्रसंग पर मृत्यु का आयोजन किया जाता था, जिनके लिए कुशल वीरांगनाओं को आमंत्रित भी किया जाता था। राज परिवारों तथा अतिथियों के मनोरंजन हेतु कुशल गायिकाओं और नृतिकियों की नियुक्ति राजसभा में की जाती थी|5 इस प्रकार हमने अध्ययन में पाया कि प्राचीन काल के अंतर्गत प्रत्येक काल वैदिक काल. रामायण काल, महाभारत

काल, बौद्ध काल, जैन काल, गुप्त काल आदि हर युग में संगीत को व्यावसायिक रूप में देखा जाता रहा है प्राचीन काल में ही संगीत परंपरा व्यावसायिकता का रूप ग्रहण कर चुकी थी।[6]

मध्यकालः

12वीं से 18वीं शताब्दी में भारत में मुस्लिम बादशाहों का प्रवेश माना जाता है, जिस कारण इसे मध्यकाल के साथ-साथ मुस्लिम काल की संज्ञा भी दी जाती है।[7] इस काल में भिन्न-भिन्न कोटि के संगीत साधक हुआ करते थे, जिन्हें फलतः धमार्थी, कमार्थी, अर्थार्थी और मोक्षार्थी कहा जाता था। इन साधकों के लिए संगीत का मूल्य व स्तर अलग-अलग हुआ करता था। अंतर इतना है कि धमार्थी वह मोक्षार्थी की संगीत को सात्विकता प्रधान अर्थात नाद की साधना करने वाला वह देवी देवताओं की उपासना करने वाले वर्ग में रखा जाता था कमार्थी व अर्थाथी व्यक्ति उसे राजप्रधान दृष्टि से देखने का प्रयास करते थे। जहां संगीत क्षणिक सांसारिक कामनाओं को उपलब्ध कराने का साधन मात्र बनकर रह गया था।[8]

मुगलों के शासनकाल में संगीत कलाकारों को एक ओर राज्याश्रय प्राप्त हुआ जो धनार्जन का सर्वश्रेष्ठ साधन हुआ करता था दूसरी ओर संगीत राजाओं की विलासिताओं व मनोरंजन के साधन के रूप में प्रयोग होने लगा। इन परिस्थितियों के चलते संगीत स्थिति अत्यधिक दयनीय अवस्था में दिखाई दे रही थी। इस काल कई ऐसे शासक हुए जिन्होंने संगीत व संगीत कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया तथा कुछ एक ऐसे भी शासक हुए जिन्होंने संगीत का हनन भी किया। इसके पश्चात जब यूरोपियन जातियां पुर्तगाल, अंग्रेज और फ्रांसीसी, डच इत्यादि व्यापार की लालसा में भारत में प्रवेश कर रहे थे तब संगीत कलाकारों को अपनी राजनैतिक अक्षमताओं का सामना करते हुए अपनी धनोपार्जन की समस्याओं के चलते अपने स्तर से उतरकर तवायफों के कोठों पर कार्य करना पड़ा। जिसे संगीत कलाकारों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। इस काल से पूर्व के समय में भी संगीतज्ञ जीविकोपार्जन हेतु व्यवसाय करते थे किंतु संगीत की पवित्रता का हनन नहीं होने देते थे।

आधुनिक कालः

संगीत में 19वीं शताब्दी अर्थात 1801 ई. से आधुनिक काल का प्रादुर्भाव माना जाता है। यह इतिहास का वह काल कहा गया है जब मुगल शासकों का पतन हो रहा था और अंग्रेजों का शासन स्थापित हो रहा था। इसलिए कई इतिहासकार 1947 से पूर्व के समय को परतंत्र व अंग्रेजों के काल के नाम से भी संबोधित करते हुए दिखाई देते हैं।9 ब्रिटिश काल में हमारे भारतीय संगीत को किसी भी प्रकार कोई आश्रय प्राप्त होता हुआ दिखाई नहीं देता है। जिसके चलते संगीत ऐसे वर्ग के लोगों के हाथों में चला गया, जो समाज में घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। संगीत की शिक्षा लेना भी उच्च कुल के लोगों के लिए निषेध होता चला गया था। ऐसी परिस्थितियों में संगीत शिक्षकों व उच्च कोटि के कलाकारों को भी वेश्याओं को, न चाहते हुए भी संगीत की शिक्षा देनी पड़ी, जिससे कलाकार अपनी जीविका चला सकता था।

संगीत कला ने इतिहास के कार्यक्रम में अनेकों पतन और उत्थान के उलटफेर को देखते हुए संगीत की अवनति तथा उन्नति के पद पर निरंतर चलते हुए प्रगति प्राप्त की है। जब संगीत कलाकारों को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा तब इन कलाकारों ने राजवाड़ों, रियासतों, जमींदारों, ठाकुरों आदि का आश्रय ढूंढना शुरू

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.012

कर दिया था। जिसके फल स्वरुप कुछ प्रमुख रियासतों ने संगीतज्ञों को संरक्षण देने में भूमिका निभाई जैसे लखनऊ, जयपुर, रीवा, ग्वालियर, बनारस, इंदौर, मैहर, बडौदा, दरभंगा इत्यादि कई अन्य स्थान संगीतजों के संरक्षण स्थल बनती हुई दिखाई देती है। यहां के राजाओं जमींदारों वह नवाबों ने हमारी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित करते हुए कलाकारों को उनकी कला प्रदर्शन का पारितोषिक प्रदान कर संगीतकारों की प्रतिष्ठा पर विशेष बल देते थे।[10]

स्वातंत्र्योत्तर काल (15 अगस्त 1947) के पश्चात भारतीय संगीत कला में अनेकानेक परिवर्तन देखने को मिलने लगे। सरकार एवं जनता ने देश की सांस्कृतिक परंपराओं के पुनरुत्थान पर मुख्य रूप से सहयोग किया संगीत के प्रति निम्न दृष्टि रखने वालों की मानसिकता में परिवर्तन करने वाले दो महान संगीतज्ञ पंडित विष्णु नारायण भातखंडे जी तथा विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी ने संगीत का प्रचार प्रसार करते हुए पुन:संगीत को समझ में स्थापित किया। स्वतंत्रता के पश्चात धीरे-धीरे शिक्षण संस्थानों, संगीत सम्मेलन, विभिन्न अकादमी, आकाशवाणी, दूरदर्शन, फिल्म व गैर फिल्म संगीत पत्र पत्रिकाएं आदि मिलकर संगीत को पुन: विकास के पद पर अग्रसर होने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रत्येक क्षेत्र विशेष से जुड़कर संगीत में रोजगार के अनेकानेक मार्ग देखने को मिलते हैं जैसे शिक्षक, गायक, वादक, कलाकार, शास्त्रकार, समीक्षक, संवाददाता, उद्घोषक, संयोजक, संगीतकार व संगीत निर्देशक, संगीत लेखक, पार्श्व गायक-वादक इत्यादि। इन्हें प्रत्यक्ष व परोक्ष किसी न किसी रूप में व्यवसाय को अपनाना ही एक संगीतकार की आवश्यकता हो गई है।[11]

वर्तमान काल (अत्याधुनिक):

अत्याधुनिक काल से हमारा अभिप्राय एक ऐसे कल से है जिसमें वैज्ञानिकता का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता हुआ दिखाई दे रहा है। वर्तमान युग विज्ञान का युग बनकर सामने दिखाई दे रहा है। वैज्ञानिक उपकरणों एवं अनेकानेक तकनीकियों का प्रयोग करते हुए वर्तमान समय में मनुष्य अनौपचारिक रूप से भी धनार्जन करने का प्रयास कर रहा है। संगीत में रोजगार के आज के सरकारी एवं गैर सरकारी अनेकानेक साधन देखने को मिल रहे हैं। इस साधनों को हम भिन्न-भिन्न रूपों में देख सकते हैं।

सरकारी एवं गैर सरकारी शिक्षक:- वर्तमान समय में सरकारी तथा गैर सरकारी शिक्षण संस्थानों में संगीत शिक्षक के पदों के लिए विज्ञापन और आवेदन दिए जाते हैं, जिससे संगीत में रोजगार का मार्ग प्रसिद्ध होता हुआ दिखाई देता है। इन संस्थाओं के माध्यम से संगीत को हम जनता तक पहुंचाने में व्यक्तिगत संगीत संस्थाएं, मान्यता प्राप्त संस्थाओं तथा विद्यालयों और महाविद्यालयों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में कई ऐसी संगीत संस्थाएं हैं, जिनमें संगीत शिक्षक तथा कला और कलाकार के संवर्धन के लिए कार्य किए जाते हुए दिखाई देते हैं।[12]

संगीत संरचनाकार:

यदि हमें संगीत का अच्छा ज्ञान है तो संगीत निर्देशक के रूप में फिल्म, मूवीस, प्राइवेट एडवरटाइजिंग, एजेंसी के लिए और नाटकों में, डीजे, डिस्क जॉकी के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। ऑडियो मिक्सिंग का कार्य भी कर सकते हैं।[13]

संगीत निर्माता कंपनीः-

वर्तमान समय में ऐसी अनेकानेक कंपनियाँ देखने को मिल रही हैं जो प्रतिभाशाली कलाकारों को खोजकर उन्हें मंच प्रदान करते हुए, कलाकारों की प्रतिष्ठित और ऑडियो वीडियो एल्बम तैयार कर मार्केटिंग करती हैं जो आज का बहुत बड़ा व्यवसाय बनता जा रहा है।[14]

आर्केस्ट्रा बैंडः

रोजगार की दृष्टि से आर्केस्ट्रा वर्तमान समय का अत्यधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय साधन भी होता जा रहा है। आर्केस्ट्रा के विभिन्न प्रकार भी श्रोताओं की मांग के अनुसार गठित होते हुए देखने को मिल रहे हैं। संगीत के गायन-वादन के साथ-साथ लोक नृत्य का भी प्रचलन देखने को मिल रहा है। शादी पार्टी से अतिरिक्त भी अब आर्केस्ट्रा का संचालन उच्च स्तर की बैठकों एवं संगोष्ठियों में भी देखने को मिल रहा है जहां सूफी संगीत, फ्यूजन म्यूजिक का रस्वादन किया जा रहा है।

म्यूजिक थेरेपी (संगीतिक चिकित्सा)-

वर्तमान समय में यह संगीत व्यवसाय का उभरता हुआ साधन परिलक्षित हो रहा है। हमारे भारतीय संगीत के रागो में मानष मन को शांत करने, प्रसन्न करने एवं रोगों से मुक्त करने की भी क्षमता देखने को मिलती है। आज हॉस्पिटल क्लीनिक एवं योग केन्द्रों में भी संगीत के माध्यम से मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का प्रचलन होता हुआ दिखाई दे रहा है। संगीत चिकित्सा बनने के लिए गहरी समझ के साथ-साथ मनोविज्ञान एवं मानव शारीरिक क्रिया का भी ज्ञान होना आवश्यक होता है।

संगीत समीक्षक एवं पत्रकारिताः मीडिया के क्षेत्र में भी संगीत सम्मेलनों, कार्यक्रमों, रियलिटी शोज इत्यादि की समीक्षा लिखने वालों की आवश्यकता देखने को मिलती है। अखबार तथा पत्र पत्रिकाओं में, संगीत और ऑडियो कंपनियों द्वारा जारी सांकेतिक एल्बम्स आदि के लिए समीक्षा करने वालों की आवश्यकता होती है। वर्तमान में यह संगीत में रोजगार का एक रोचक साधन बनता हुआ दिख रहा है।

ऑडियोघ्साउंड इंजीनियरः

किसी अच्छे इंस्टीट्यूट से साउंड इंजीनियरिंग का कोर्स करने के पश्चात स्टूडियो के माध्यम से एक सुदृढ़ धनार्जन किया जा सकता है। आज के समय में डिजिटल रिकॉर्डिंग की मांग बढ़ती जा रही है। ऑडियो-वीडियो मिक्सिंग तथा आधुनिक तकनीकियों के ज्ञान से संगीत के शिक्षार्थी यहां भी अपना भविष्य संवार सकते हैं।

इंटरनेट एवं सोशल मीडियाः वर्तमान समय सबसे अधिक जनसंख्या के द्वारा प्रयोग किया जाने वाला माध्यम 'सोशल मीडिया बनता जा रहा है। आज आप यू-ट्यूब, फेसबुक, इंस्टाग्राम, टेलीग्राम, ट्वीटर इत्यादि की सहायता से अपने संगीत का प्रचार-प्रसार करते हुए अत्यधिक साधारण तरीके से धनार्जन कर सकते हैं। यह वर्तमान समय का रोजगार माध्यमों के रूप में सशक्त प्लेटफार्म बनकर सामने आ रहा है।

आकाशवाणीः-

आकाशवाणी भारतीय संगीत का सबसे पुराना एवं पारंपरिक व्यवसायिक मध्य कहा जा सकता है। आज आकाशवाणी के द्वारा समाज में संगीत से संबद्ध ऐसे अनेकानेक कलाकार हैं जो सीधा जन-रंजन से जुड़ते हैं। आकाशवाणी में संगीत के अनेक कार्यक्रम संचालित होते हैं। यहां ग्रेडिंग प्रणाली के द्वारा संगीत कलाकारों की ऑडियो रिकॉर्डिंग की जाती है और कलाकारों

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.012

को उनके ग्रेड (B, B+, A, Top Grade) के नियम के अनुसार उचित धनराशि भी प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कई पदों पर संगीत का ज्ञान रखने वालों को नियुक्त किया जाता है।15

दूरदर्शनः

विशेष तौर पर दूरदर्शन में तीन भागों में कार्यक्रम प्रसारित होते हैं (1) राष्ट्रीय (2) प्रादेशिक (3) क्षेत्रीयधस्थानीय दूरदर्शन द्वारा प्रतिदिन अनेक चौनलों पर संगीत से संबंधित कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें सुगम संगीत, शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत, चित्रपट संगीत के अतिरिक्त विभिन्न प्रतियोगिताएं शामिल हैं। जहां आप अपनी कला का प्रदर्शन कर जीविकोपार्जन हेतु धनजन कर सकते हैं।[16]

इस प्रकार संगीत में आज रोजगार के साधनों में किसी भी प्रकार का अभाव देखने को नहीं मिल रहा है। प्रस्तुत बिंदुओं के अतिरिक्त भी अन्य माध्यम जो सामने आते रहते हैं रियलिटी शोज में जाना, स्वयंसंचालित शिक्षण संस्थान बनाकर, छोटे-बड़े हर प्रकार के कार्यक्रमों में जहां संगीत की बैठकी लगती हो वहां अपनी भी कला प्रदर्शन करके, इसके अलावा संगीत के वाद्य यन्त्रों के क्रय-विक्रय एवं मरम्मत का कार्य करके इंटरनेट का प्रयोग करके संगीत सम्बंधी बेवसाइट बनाकर निजी संगीत शिक्षण में शिक्षक के रूप में इत्यादि ऐसे अनेकानेक माध्यमों के द्वारा संगीत में रोजगार की संभावनाओं को देखा जा सकता है।

निष्कर्षः-

हमारा भारतीय संगीत ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। जब से मनुष्य ने समाज में सुसंगठित रूप से रहना सीखा तबसे संगात कला में भी कई रूपों में परवर्तन देखने को मिलते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुये वस्त्र, आवास, खाद्य-पदार्थ आदि की आवश्यकता दिखाई देती है। इन्हीं मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये मानव ने व्यवसाय को ढूंढना शुरू किया, जिसके फलस्वरूप आज संगीत के क्षेत्र में भी अनेकानेक रोजगार माध्यम देखने को मिलते हैं। संगीत में व्यवसाय की परम्परा को हम प्राचीन काल से ही देखते आये हैं। प्रत्येक काल में संगीत शिक्षण एवं प्रदर्शन के द्वारा ही संगीतकार धनार्जन करता हुआ देखने को मिलता है। आधुनिक काल में भी संगीत में ऑनलाइन माध्यमों एवं वैज्ञानिक तकनीकियों के द्वारा संगीत को विकासोन्मुख होता हुआ देखा जा रहा है। किन्तु संगीत जैसे अत्यन्त सूक्ष्म तत्वों से युक्त विषय के लिये यह चिन्ता की बात भी है क्योंकि आज के इस भाग-दौड़ के समय में संगीत कला का अधूरा ज्ञान प्राप्त लोग भी संगीत में शिक्षण एवं प्रदर्शन का कार्य कर रहे हैं। जिसके चलते संगीत की शास्त्रीयता एवं शुद्धता का हनन होता हुआ भी दिखाई दे रहा है। कम समय में संगीत सीखना रोजगार के साधन मात्र के लिये संगीत का प्रयेग करना, यह संगीत जगत के लिये चिन्तन का विषय भी बनता जा रहा है। प्राचीन काल के समान संगीत को सर्वप्रथम साधनें पर संगीत के मूल तत्वों अर्थात् संगीत के शास्त्रीय पक्ष को संरक्षित करते हुये उसमें व्यवसायिकता की तरफ अग्रसर होना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

संदभ सूचीः-

1. सिंह, लावण्य कीर्ति 'काव्या' संगीत सुनिधि, महारानी पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-110002, पृ०सं०-120

2. सिंह, लावण्य कीर्ति 'काव्या, संगीत सुनिधि, महारानी पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली-110002, पृ०सं०-6
3. कुमार, डॉ० आशीष, 2019, भारतीय संगीत का व्यावसायिक विकास, संजय प्रकाशन नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, पृ०सं०-28
4. श्रीवास्तव, धर्मावती, प्राचीन भारत में संगीत, बी०वी०पी पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, पृ०सं०-3
5. वही पुस्तक, पृ०सं०-284
6. कुमार डॉ० आशीष, 2019 भारतीय संगीत का व्यावसायिक विकास, संजय प्रकाशन नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, पृ०सं०-61
7. वही पुस्तक, पृ०सं०-65
8. वही पुस्तक, पृ०सं०-64
9. वही पुस्तक, पृ०सं०-106
10. सिंह बावरा, जोगेन्द्र, भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास,पृ०सं०-23,24
11. कुमार डॉ० आशीष, 2009, भारतीय संगीत का व्यावसायिक विकास संजय प्रकाशन नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, पृ०सं०-110
12. सिंह, लावण्य कीर्ति 'काव्या' संगीत सुनिधि, महारानी पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली-110002, पृ०सं0-110
13. वही पुस्तक, पृ०सं०-74
14. वही पुस्तक, पृ०सं०-75
15. कुमार, डॉ० आशीष, 2019, भारतीय संगीत का व्यावसायिक विकास, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, पृ०सं०-132
16. वही पुस्तक, पृ०सं०-147

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.013

भारतीय संगीत के पारंपरिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप का विश्लेषण

प्रिया शर्मा *, डॉ सुरेन्द्र कुमार**

शोध सार

भारतीय संगीत को विश्व में सर्वोत्कृष्ट संगीत की श्रेणी में स्थान प्राप्त है। भारत की हजारों साल पुरानी सभ्यता, कला, नृत्य, वास्तुकला और साहित्य इसे एक अद्वितीय स्वरूप प्रदान करते हैं। इसे केवल एक भू-खंड के रूप में ही नहीं, बल्कि एक भावना, संस्कार और संस्कृति के ध्वजवाहक के रूप में देखा जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र भारतीय संगीत की अंतर्निहित शक्ति और उसके बहुआयामी स्वरूप का विश्लेषण करता है। भारतीय संगीत केवल मनोरंजन का साधन न होकर एक आध्यात्मिक साधना और जीवन दर्शन भी है, जिसने सदियों से भारतीय समाज को एक सूत्र में पिरोया है। इस शोध में इस बात का परीक्षण किया गया है कि किस प्रकार वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक संगीत ने अपनी पारंपरिक शुद्धता को बनाए रखते हुए भी बदलती सामाजिक संरचनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित किया है।

इस शोध पत्र में भारतीय संगीत के सांस्कृतिक पक्ष को रखा गया है, जिसमें पर्वों, रीति-रिवाजों और लोक-जीवन में इसकी प्रधानता का विवेचन है। शोध यह भी रेखांकित करता है कि शास्त्रीय और लोक संगीत का संगम किस प्रकार भारतीय पहचान को वैश्विक पटल पर सुदृढ़ करता है। यह शोध वर्तमान तकनीकी युग में संगीत के पारंपरिक मूल्यों के संरक्षण और इसके सामाजिक उत्तरदायित्वों की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालता है।

मुख्य शब्द- *संस्कृति ,समाज,मानव, परम्परा,भारतीय संगीत।*

प्रस्तावना –

किसी भी मनुष्य या देश के मुख्य तीन स्तंभ माने गए हैं, उनकी "संस्कृति, सभ्यता और संगीत"। तीनों तत्वों को संयुक्त रूप से संबंध की अनिवार्यता होते हुए भी उनमें अलग - अलग प्रभाव व प्रधानता की आवश्यकता दिखाई देती है। भारतवर्ष में सभ्यता/समाज, संस्कृति व संगीत तीनों ही सर्वोत्कृष्ट व अत्यंत प्रिय घटक है। हमारे भारत का संपूर्ण इतिहास इन तीनों स्रोतों के अनुग्रह से ही भविष्य को सींचने का कार्य करता है। हमारे भारत में सभ्यता ,संस्कृति, संगीत और जीवन का दर्शन ही नहीं अपितु स्वयं को जीवित व गतिशील रखने की एक प्रक्रिया भी है।[1] भारत प्राचीन काल से विभिन्न कबिलों तथा जातियों का केंद्र रहा है, यहां की पारिवारिक तथा

*शोध छात्रा

**शोध निर्देशक : सह आचार्य (गायन), संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग इलाहाबाद, विश्वविद्यालय प्रयागराज

सामाजिक परिस्थितियाँ और प्रथाएं भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती रही हैं। हमारे यहां सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि अपने आप में सर्वथा स्वतंत्र रूप में परिवर्तित होती रही है। संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए तथा उसे निरूपित करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अपने दृष्टिकोणों से अनेकानेक अभिमत प्रकट किए हैं । मत-मत्तातरों का यह वैविध्य इसलिए भी संभव और स्वाभाविक दिखाई देता है क्योंकि संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक और गहन है, इसकी इस व्यापकता को दृष्टि में रखकर उसको किसी भी परिभाषा में बांधना अत्यंत कठिन माना गया है। अर्थात हम यह कह सकते हैं की संपूर्ण मानव समाज के विकास की व्यष्टिमय और समष्टिमय की उपार्जन ही संस्कृति है।[2]

भारतीय संगीत का उद्‌भव एवं विकास –

हमारी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति अत्यंत ही प्राचीन है। संस्कृति के उद्‌गम और विकास के साथ ही संगीत के उदगम व विकास का क्रम आरम्भ हो गया था। भारतीय मनुष्यों ने युग-युगान्तर की यात्रा करते हुए व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सभ्यता, संस्कृति व संगीत को भी उन्नति कि ओर अग्रसर किया है।

संगीत का विकास मानव सभ्यता के विकास से जुड़ा हुआ है इसलिए संगीत के इतिहास को उतना ही प्राचीनतम माना जाता है जितना कि प्राचीन मानव सभ्यता का इतिहास। सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ ही संगीत का भी क्रमिक विकास होता रहा है। सृष्टि के आरंभिक काल में जब मानव का जन्म इस पृथ्वी पर हुआ, तो उसका जीवन प्राकृतिक, अविकसित व जंगली स्वरूप में था, किन्तु संगीत से वह भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ था, क्योंकि संगीत उसके हृदय के आंतरिक चेतना में बसा हुआ था। अन्य जंगली प्राणियों की तुलना में मनुष्य के भीतर सोचने व समझने के लिए विकसित बुद्धि थी, और उसी बुद्धि के बल पर उसने प्राकृतिक तथा पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण अपने कण्ठ से किया, तथा आरंभिककाल में मनुष्य ने संगीत की प्रेरणा प्रकृति से ही ग्रहण की। आदिमानव का चिल्लाना, रोना, हँसना, नृत्य करते समय उछलना, कूदना एवं अपने नंगे शरीर के विभिन्न अंगो द्वारा आघात करके ध्वनि निकालना आदि ये सभी स्वाभाविक क्रियायें थी इन कार्यों के माध्यम से ही आदिमानव ने अपने भावों और संवेदनाओं को सहज रूप से प्रकट किया। जिन्होंने संगीत रचना की कहानी को एक प्रारम्भिक स्वरूप दिया।[3]

प्रकृति व परिवेश के साथ निरंतर संपर्क में आने और अनुभवों के परिणामस्वरूप उसके बौद्धिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को एक नई दिशा प्राप्त हुई। मनुष्य का अकेलेपन में या आनंद की अनुभूति प्राप्त करने हेतु सहज रूप से गुनगुनाना उसकी आदिम एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो प्रारंभ से ही मानव स्वभाव में निहित रही है। ध्वनि के मूल स्वरूप नाद और आवाज से शब्द की उत्पत्ति होती है, शब्दों के संयोजन से वाक्य बनते हैं और वाक्यों से भाषा का विकास होता है, इसी भाषा के माध्यम से सृष्टि का समस्त व्यवहार, संप्रेषण और सामाजिक क्रियाकलाप संचालित होते हैं। आदिकाल में मनुष्य जब 'शब्द' या 'भाषा' का निर्माण नहीं कर पाया था, तब भी वह अपनी ध्वनि विकार से अपने भावों को व्यक्त करता था। इस ध्वनि विकार का प्राचीन नाम 'स्तोभ' था जिसे आज तराना के नाम से जानते हैं। स्तोभ की ध्वनि अहा, हो, हाउ, ओहा, हे, ल, ल, य, ल, हुम्, हाँ, इत्यादि होती थी। शब्दों के अभाव में पहले इन्ही स्तोभों में मनुष्य का गान जगत् में प्रतिध्वनित हुआ।[4]

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.013

अत: यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जब मनुष्य शब्द का निर्माण नहीं कर पाया था, तब उसके हृदय के भाव स्वरों में गूंजते थे। आरंभिक काल में मानव के भाव भी अपरिपक्व थे धीरे-धीरे उनमें भीतर परिष्कार हुआ और अभिव्यक्ति के प्रयोग में भी भिन्नता दिखाई देने लगी तथा संगीत का विकास भी होने लगा था।

भारतीय संगीत का पारंपरिक स्वरूप एवं ऐतिहासिक विकासक्रम-

संगीत का विकास सभ्यता के विकास के साथ ही हुआ है। अर्थात यह स्पष्ट है कि संगीत कला का उद्भव पृथ्वी पर सृष्टि के प्रारंभ से ही माना जाता है। मानव के प्रयत्नों द्वारा संगीत कला विभिन्न युगों में विकसित होती चली गई। आदिम युग की सभ्यता से लेकर वैदिक युग की सभ्यता तक पहुँचने में मानव ने विकास की एक लंबी यात्रा तय की। भारतीय शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति 6,000 साल पहले के पवित्र वेदों में पाई जा सकती है, जिन्होंने संगीत नोट्स और लयात्मक संरचनाओं की आधारशिला रखी। शुरुआत से ही भारतीय शास्त्रीय संगीत प्रकृति से गहराई से जुड़ा रहा है। भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरा में, ज्ञान और कौशल वर्षों तक एक शिक्षक या 'गुरु' से छात्र को मौखिक रूप से सौंपे जाते हैं। इस प्रक्रिया में शिक्षक और छात्र के बीच एक अनूठा, आध्यात्मिक बंधन बनता है, साथ ही संगीत के सभी पहलुओं को आत्मसात किया जाता है। हालांकि आजकल, भारतीय शास्त्रीय संगीत कई संस्थानों में सीखाया जाता है और इसका भारी दस्तावेजीकरण किया गया है, फिर भी अवलोकन, सुनने और स्मृति के माध्यम से सीखना अभी भी महत्वपूर्ण है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक समृद्ध और आकर्षक इतिहास है, जिसका विकास परंपरा, नवाचार, और बाहरी प्रभावों के निरंतर मिश्रण का प्रमाण है।[5]

भारतीय संगीत के शुरुआती बीज वेदों के पवित्र मंत्रों में मिलते हैं (1000 ईसा पूर्व - 500 ईसा पूर्व)। सामवेद में मंत्रों की स्वरबद्ध प्रस्तुति ने "स्वर" (संगीत नोट्स) के अवधारणा की नींव रखी। दूसरी-तीसरी सदी ईसवी की संस्कृत पाठ "नाट्य शास्त्र" द्वारा भरत मुनि ने संगीत के सिद्धांतात्मक ढांचे की स्थापना की, जिसमें "राग" और "ताल" की अवधारणाएँ शामिल थीं। 500 ईसवी से 1500 ईसवी के काल में, क्षेत्रीय प्रभावों ने भारत भर में विशिष्ट शैलियाँ विकसित कीं। दक्षिण भारत में मंदिर संगीत परंपराएँ समृद्ध हुईं, जबकि उत्तर भारत में फारसी और मध्य एशियाई संगीत के प्रभाव देखे गए। मुगल काल (1500 ईसवी - 1800 ईसवी) में भारतीय और फारसी संगीत परंपराओं के बीच विचारों का अद्भुत आदान-प्रदान देखा गया। मुगल सम्राटों ने कला के प्रति अपनी प्रेमभावना दिखाते हुए एक समृद्ध संगीत वातावरण को बढ़ावा दिया, जिसमें तानसेन और बैजू बावरा जैसे प्रसिद्ध संगीतकारों ने अद्भुत कृतियाँ रचीं। औपनिवेशिक काल (1800 ईसवी-वर्तमान) में भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपराओं को व्यवस्थित और दस्तावेजित करने के प्रयास हुए। 19वीं सदी में इस कला रूप के प्रति रुचि का पुनरुद्धार हुआ, और इसे संरक्षित और सिखाने के लिए संस्थान स्थापित किए गए। 20वीं और 21वीं सदी में, भारतीय शास्त्रीय संगीत ने नए रास्तों को अपनाया। संगीतकार फ्यूजन शैलियों के साथ प्रयोग कर रहे हैं, इलेक्ट्रॉनिक तत्वों को शामिल कर रहे हैं, और अन्य परंपराओं के कलाकारों के साथ सहयोग कर रहे हैं, जिससे यह कला रूप समकालीन दर्शकों के लिए जीवंत और प्रासंगिक बना हुआ है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का विकास अपनी

जटिल धुनों, जटिल लयों, और गहन भावनात्मक गहराई के साथ श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करता है। जैसे-जैसे यह विकसित होता रहता है, एक बात स्थिर रहती है: यह हमें हमारी समृद्ध धरोहर से जोड़ने और शाश्वत भावनाओं को जागृत करने की शक्ति बनाए रखता है।[6]

श्रीमद्‌भगवद गीता में वर्णित है, "वेदनां साम वेदोऽस्मि" अर्थात् वेदों में संगीत रूपी सामवेद मेरा ही स्वरूप है। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि संगीत को ईश्वरीय स्वरूप की तरह श्रेष्ठ माना गया है। प्राचीन काल से ही संगीत दो धाराओं में प्रवाहित हुआ, एक धारा जिसमें संगीत कला का परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप था और दूसरी धारा, जो जनसाधारण की सहज अभिव्यक्ति एवं रुचि के अनुकूल थी। इन्हीं को हमारे संगीत के प्राचीन ग्रन्थों में गान्धर्व, गान, मार्गी एवं देशी नामों से अभिहित किया गया था। मार्गीय संगीत का उद्‌देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, तथा यह संगीत शाश्वत नियमों से बँधा है। दूसरी ओर देशी संगीत जो लोक रुचि के अनुसार परिवर्तित होता है। संगीत का धर्म से सम्बन्ध होने के कारण यह परमपिता परमेश्वर से भी जुड़ा रहा है। संगीत मानव के लिए नैसर्गिक है, किन्तु धार्मिक तथ्यों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि हमारी संगीत कला के आदि प्रेरक और उपदेशक देवी-देवता रहे है। शिव, ब्रह्मा, सरस्वती, नारद, गन्धर्व और किन्नर आदि देवों का सम्बन्ध संगीत से रहा है। एक मतानुसार संगीत की उत्पत्ति आरम्भ में वेदों के निर्माता ब्रह्मा जी द्वारा हुई। ब्रह्मा जी से संगीत कला का ज्ञान महादेव जी को प्राप्त हुआ, तथा महादेव जी के द्वारा यह देवी सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती जी को संगीत और साहित्य की अधिष्ठात्री माना गया है। फिर सरस्वती जी से संगीत, साहित्य और कला का ज्ञान नारद जी को प्राप्त हुआ। नारद जी ने स्वर्ग के गन्धयों, किन्नरों एवं अप्सराओं को संगीत की शिक्षा दी। यहाँ से ही भरत, नारद और हनुमान प्रभृति ऋषि संगीत कला में पारंगत होकर भूलोक पर संगीत कला के प्रचारार्थ अवतीर्ण हुए।[7]

भारतीय संगीत की जड़े धर्म और संस्कृति में काफी गहराई तक समाई हुई है। स्वर को आत्मा का नाद व आत्मा को ईश्वर का स्वरूप माना गया है। ऋषि मुनि व तपस्वी लोग ईश्वर उपासना के गीतो व मन्त्रों का उच्चारण संगीत की ध्वनि में किया करते थे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति व संगीत का माध्यम नाद है।8

नाद' संगीत एवं कलाओं का स्रोत है। यह देश एवं काल से परे हैं। सम्पूर्ण जगत में एक ध्वानि व्याप्त है। नाद को "ध्वनि, स्पंदन और ऊर्जा" का प्रवाह माना गया है। भारतीय संगीत शास्त्र में नाद को ब्रह्मांड की मूल शक्ति के रूप मे जाना जाता है। नाद से स्वर, स्वर से शब्द और शब्द से अर्थ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार नाद हमारे शरीर, हृदय और चेतना तीनों स्तरों पर ही अपना प्रभाव डालता हुआ दिखाई देता है। स्वरों की उत्पति इसी शाश्वत ध्वनि से मानी जाती है। "नादाबीन जगत सर्वम्" से ही सम्पूर्ण जगत की ध्वनि उसके नाद स्वरति एवं संगीत की व्याख्या पूर्ण हो जाती है। नाद के दो भेद माने गये है-

आहत नाद : सभी सामान्य ध्वनियाँ, जो हम अपने दैनिक जीवन में सुनते हैं (जैसे बातचीत, वाद्य यंत्रों की आवाज़), आहत नाद होती हैं।

अनाहत नाद: यह वह सूक्ष्म ध्वनि है जो बिना किसी बाहरी कारण के उत्पन्न होती है और केवल गहन ध्यान या समाधि की अवस्था में ही सुनी जा सकती है।[9]

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.013

समाज में संगीत का प्रभाव –

मनुष्य जीवन की एक भी अवस्था ऐसी नहीं है, जहां संगीत की आवश्यकता न हो। जब भी लोग किसी भी कारण से मिलते है अथवा एकत्र होते हैं, संगीत अवश्य होता है।[10] संगीत सब को प्रिय है। परिवार में नवजात शिशु का जन्म, उसे माता द्वारा लोरी का सुनाया जाना, विद्यालय तथा महाविद्यालय के विभिन्न समारोह, विवाह, मृत्यु, जवानों का युद्ध क्षेत्र की ओर प्रस्थान, स्टेडियम में खेल-कूद की गतिविधियां, प्रार्थना तथा किसी भजन संध्या का आयोजन आदि सभी अवसरों पर संगीत आवश्यक है। संगीत के बिना संसार की कल्पना तक नहीं की जा सकती। एक विद्वान फेड्रिक नीट्जे ने सच ही कहा है- "Without music life would be an error."[11]

जीवन के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति संगीत से आकर्षित हुए बिना नहीं रहते। विद्यार्थी, शिक्षक तत्वज्ञानी, राजनीतिज्ञ आदि लोगों को अधिक मानसिक श्रम करना होता है। संगीत सफलतापूर्वक इनके श्रम का निवारण करता है। इसी प्रकार कठोर शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिक अपनी थकान दूर करके नया बल प्राप्त करने के लिए संगीत का आधार लेते हैं। कूटने, पीसने जैसे शारीरिक श्रम करने वाली स्त्रियां लोकगीतों के द्वारा नई स्फूर्ति प्राप्त करती है। युद्ध के समय पर बजाए जाने वाले वाद्यों और गाए जाने वाले गीतों के शौर्यवर्धक स्वरों के श्रवण से सामान्य शक्ति वाला मनुष्य भी वीरता दिखाने के लिए तत्पर हो जाता है। पूर्ण ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए योगी को संगीत साधना सहायक होती है। इस प्रकार महान विद्वान हो या अधम जंगली मानव, अमीर हो या गरीब सबको संगीत समान रूप से मुग्ध करता है।[12]

संगीत एक कला है। कलाओं के संदर्भ में विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कहते हैं;- "कला का कार्य व्यक्ति व समाज को परस्पर समीप लाना है। इसी कार्य के लिए समाज में भाषाओं की उत्पत्ति हुई। जिसमें से कला भी एक है। अत: निस्संदेह, विश्व भाषा के रूप में संगीत का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिखाई देता है। संगीत कला का मानवीय गुणों की वृद्धि में अमूल्य योगदान प्रतीत होता है।" डॉ० महावीर प्रसाद 'मुकेश के अनुसार जहाँ कलाओं में अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है वहाँ वे मानव मात्र की पशु भावनाओं को परिष्कृत करके उसे संस्कारित, सुशील व सभ्य भी बनाती है।[13]

भारतीय संगीत के सांस्कृतिक आयाम-

भारत सम्पूर्ण विश्व में अपनी अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर के लिए जाना जाता है। भारतीय संगीत केवल स्वरों और तालों का एक कलात्मक संयोजन नहीं है, बल्कि यह सहस्राब्दियों से चली आ रही एक अखंड सांस्कृतिक यात्रा है जो भारत के आध्यात्मिक, सामाजिक और दार्शनिक चिंतन को स्वर प्रदान करती है। प्रत्येक राष्ट्र का संगीत उसके सांस्कृतिक उत्थान और पतन का जीवंत द्योतक होता है। भारतीय संदर्भ में, यह कला सत्य, शिव और सुंदर के उच्च आदर्शों को समाहित करते हुए न केवल रसात्मकता से परिपूर्ण है, बल्कि मानव समाज के नैतिक और चारित्रिक विकास के लिए एक अनिवार्य कल्याणकारी माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित है। भारतीय संस्कृति शताब्दियों से विविधताओं को अपने भीतर समाविष्ट किये हुए है। स्थानीय रीति-रिवाज, त्यौहार, उत्सव, पर्व में भले ही भेद हो परन्तु यह मूल रूप से एक है। संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में उसी तरह व्याप्त है जैसे पुष्पों में सुगंध । इसका निर्माण एक या दो दिन में नही होता अपितु युगों में होता है। किसी

भी देश की कलाएँ उस देश की आत्मा होती है और इन्ही कलाओं में ही संस्कृति की झलक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। संस्कृति में समाज की गहरी आस्था होती है, इसीलिए हर राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है जिसमें समाज की आत्मा निवास करती है। संस्कृति यदि समाज का दर्पण है तो कला संस्कृति का। संस्कृति के मापदंडों से विमुख होकर कोई भी कला विकसित रूप ग्रहण नहीं कर सकती । हमारी संस्कृति सदैव से ही धर्म से अनुप्राणित रही है। संगीत तथा ईश्वर एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। पूजा-अर्चना, मन्त्र-पाठ, आरती, देवी-देवताओं की प्रशंसा में रचित ध्रुवपद ख्याल, रागध्यान, वीणा, डमरू आदि इस बात के द्योतक हैं कि भारतीय संगीत कभी भी भारतीय संस्कृति एवं धर्म से विमुख नहीं हुआ। भारतीय संगीत हमारी सांस्कृतिक महानता का प्रतीक है। संगीत कला सत्य, शिव एवं सुंदर होने के साथ-साथ रसात्मकता से भी परिपूर्ण है। इसलिए संगीत को मानव समाज एवं मानवोचित गुणों के सृजन के लिए कल्याणकारी माना गया है। यह मानव समाज की एक कलात्मक उपलब्धि तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तिमान प्रतीक है, जिसमें कलाकार स्वर, लय एवं ताल के माध्यम से अपने मनोभावों को व्यक्त करता है। संगीत भारतीय संस्कृति का ऐसा अभिन्न अंग है जो मनुष्य के जन्म से लेकर उसके अंत समय तक साथ-साथ चलता है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता इसकी समन्वयक शक्ति में निहित है इसीलिए विभिन्न आक्रान्ताओं के आक्रमण भी इस देश की संस्कृति को छिन्न-भिन्न नही कर पाए। जिस तरह आर्यो से लेकर अंग्रेजों तक आई जातियों का मिश्रण हमारी संस्कृति में देखा जा सकता है, उसी प्रकार संगीत में भी विभिन्न जातियों, लोगों और समय का प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है। मुगल बादशाहों के समय में वाद्यों, रागों, बंदिशों, नृत्य इत्यादि पर मुस्लिम संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा । तबला, सित्तार, रबाब, टप्पा, ठुमरी, गजल आदि मुगल संस्कृत्ति के प्रभाव से ही उत्पन्न हुए परन्तु भारतीय संस्कृति ने उन्हें भी अपने भीतर समाविष्ट कर लिया। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् हारमोनियम, वायलिन, गिटार, क्लार्नेट, पियानो आदि वाद्य भी हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बन चुके हैं। भारतीय संगीत में महान गायक वादकों की श्रेणी में हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से स्थान पाते हैं। इस सांस्कृतिक विविधता को घराना परम्परा ने शताब्दियों से अपने भीतर समाविष्ट किया हुआ है।[14]

प्रत्येक राष्ट्र का संगीत उसके सांस्कृतिक उत्थान-पतन का द्योतक होता है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि उन राष्ट्रों का सांस्कृतिक विकास अधिक गतिमान रहा है, जिनका सम्पर्क अन्य राष्ट्रों से निरन्तर बना रहा है, क्योंकि उनमें संस्कृति के पारस्परिक आदान-प्रदान के क्रम ने नव-नवीन विशेषताओं के उन्मेष की प्रचुर सम्भावनाएँ निर्मित की। भारत की सम्पन्नता से आकर्षित होकर ही अन्य विदेशी जातियां प्राचीन काल से यहां आती रही। उनके सम्पर्क का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ा। यहां के संगीत के गायन, वादन और नृत्य आदि रूप भी इन प्रभावों को ग्रहण करके समयानुसार परिवर्तित और विकसित होते रहे। ईसा से पूर्व और पश्चात् के कई सौ वर्षों तक भारत व यूनान का सम्पर्क अधिक रहा। अत: प्राचीन भारतीय और यूनानी संगीत के अनेक तत्वों में साम्य दिखाई पड़ता है।

मध्यकालीन भारतीय संगीत पर मुस्लिम संगीत का प्रभाव परिलक्षित होता है। दसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में महमूद गजनवी के आक्रमणों से मुसलमानों का भारत में प्रवेश

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.013

हुआ। सदियों तक उन्होंने इस देश पर शासन किया तथा अपनी रूचि के अनुरूप यहां की संस्कृति व कलाओं को परिवर्तित किया। यहां का संगीत अपनी प्राचीनता से हटकर एक नए रूप में विकसित होने लगा। जिसमें दोनों का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। इन पांच शताब्दियों में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण संगीत की प्राचीन परम्परा विलुप्त हो गई। यही कारण है कि तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया भारतीय संगीत का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत-रत्नाकर' सोलहवीं शताब्दी तक दुरूह और अगम्य बन गया। संगीत अपने शास्त्रीय पक्ष से विलग हो गया।प्राचीन भारतीय संगीत के प्रतिनिधि ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र और मतंग-कृत 'बृहद्देशी' थे, जिनसे तुलना करने पर मध्यकालीन भारतीय संगीत के स्वर, स्वर-ग्राम, राग, ताल, वाद्य, नृत्य आदि तत्वों में प्रचुर परिवर्तन लक्षित होते हैं।[15]

भारतीय संगीत के सांस्कृतिक पहलूओं को बचाने में विभिन्न घरानों नें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुरु-शिष्य परम्परा शिक्षण की सबसे प्राचीनतम एवं सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानी जाती है और घराना परम्परा इसी गुरु-शिष्य परम्परा का ही एक रूप है। प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा ने ही संगीत कला को अधिक समृद्ध एवं संपन्न बनाया है। घराना परम्परा 300 वर्ष से अधिक पुरानी नही है। भारत में वेदों के समय से ही संगीत शिक्षा गुरुमुख से दी जाती थी। कतिपय विद्वानों के अनुसार, वैदिक काल में प्रचलित ष्शाखा और 'संहिता' से लेकर मध्यकालीन सम्प्रदाय, वाणियों तक यह गुरुशिष्य परम्परा घराने के रूप में विकसित होती गई। घराने एक प्रकार से संगीत शिक्षा के औपचारिक केंद्र थे। घरानों ने संगीत शिक्षा देने के साथ-साथ संगीत कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति को संरक्षित रखने में आरंभ से ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। घराने का मूल प्रवर्तक अपने वंशज या शिष्य को अपने घराने की सभी विशेषताएँ सिखा कर तैयार करता है और इस प्रकार से अपने घराने की समस्त विशेषताओं को आने वाली पीढ़ियों के लिए संरक्षित करता है।16

निष्कर्ष - हमारा भारतीय संगीत न केवल मनोरंजन का माध्यम है बल्कि यह हमारे समाज दर्पण, संस्कृति का संवाहक और परम्परा का रक्षक भी है। आज वैश्वीकरण और तकनीक विकास के बावजूद इसकी जड़े अपनी मूल पहचान को बनाए रखे हुई हैं। भारतीय संगीत विभिन्न कालखंडों में समाज के बदलाव ,धार्मिक भावनाओं और सांस्कृतिक विविधताओं को दर्शाता आया है। भारतीय संगीत की परंपरा वेदों से लेकर आज वर्तमान पॉप और फ्यूजन संगीत तक विकसित होती आई है, जिससे कही न कही यह ज्ञात होता है कि यह केवल एक कला ही नहीं बल्कि भारतीय संगीत और समाज की आत्मा का प्रतिबिंब है। समाज और संस्कृति सदियों से एक दूसरे के पूरक रहे हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। समाज में समुदाय का ढांचा उसकी संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है जबकि संस्कृति समाज के मूल्य, परंपरा, विश्वास और जीवन शैली को दर्शाती है, अर्थात कहने का आशय यह है कि समाज के बिना संस्कृति और संस्कृति के बिना समाज को अधूरा माना गया है और संस्कृति के बिना भी समाज की पहचान संभव नहीं है। दोनों के संतुलन से ही सामाजिक समरसता, प्रगति और मानवीय मूल्यों का विकास संभव हो सकता है।

संदर्भ सूची-

1. मित्तल, अंजलि.(2016).भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं संगीत.नई दिल्ली: कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृ.1

2. गैरोला,वाचस्पति.(1985).भारतीय संस्कृति और कला.लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,पृ. 42-44
3. मित्तल, अंजलि.(2016).भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं संगीत.नई दिल्ली: कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृ.55
4. सिंह, ठाकुर जयदेव.(2022).भारतीय संगीत का इतिहास.वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ. 3
5. भारतीय शास्त्रीय संगीत की समृद्ध धरोहर https://abgmvm.org/the-rich-heritage-of-indian-classical-music-2/
6. भारतीय शास्त्रीय संगीत की समृद्ध धरोहर https://abgmvm.org/the-rich-heritage-of-indian-classical-music-2/
7. सिंह, ठाकुर जयदेव. (2022). भारतीय संगीत का इतिहास.वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ. 4
8. सिंह, ठाकुर जयदेव.(2022).भारतीय संगीत का इतिहास.वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ.
9. शर्मा, प्रो० स्वतंत्रत.(2017). भारतीय संगीत: वैज्ञानिक विश्लेषण.इलाहाबाद : अनुभव पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ सं०-19
10. शाह,डॉ. विकास.(2023).द रोल ऑफ म्यूजिक इन ह्यूमन कल्चर.थॉट इकोनॉमिक्स https://thoughteconomics.com/the-role-of-music-in-human-culture/
11. शाह,डॉ. विकास.(2023).द रोल ऑफ म्यूजिक इन ह्यूमन कल्चर.थॉट इकोनॉमिक्स https://thoughteconomics.com/the-role-of-music-in-human-culture/
12. संगीत पुष्प कुंज (भारतीय शास्त्रीय संगीत विषयक संकलित लेख संग्रह) कु. ज्योति पारेख, नेशनल एसोसिएशन फार द ब्लाईंड, मुंबई, पृ 22
13. शास्त्री,के० वासुदेव.(1947).संगीत शास्त्र. लखनऊ: प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, पृ 3
14. डॉ. संगीता.(2024).भारतीय संस्कृति एवं संगीत के संरक्षण में घराना-परम्परा की भूमिका. आईजेएसआर, पृ.2 https://ijaer.org/admin/uploads/paper/file1/EZBjpPuDBwtfQNgBw6SVwA==2.pdf?hl=en-GB
15. त्रिपाठी,राजकुमार.(2016).भारतीय संगीत में विदेशी संस्कृति का प्रभाव,इनोवेशन द रिसर्च कॉन्सेप्ट,पृ.1-3 https://socialresearchfoundation.com/upoadreserchpapers/6/142/1705130740501st%20raj%20kumar%20tripathi.pdf?hl=en-GB
16. डॉ. संगीता.(2024).भारतीय संस्कृति एवं संगीत के संरक्षण में घराना-परम्परा की भूमिका. आईजेएसआर, पृ.2-3 https://ijaer.org/admin/uploads/paper/file1/EZBjpPuDBwtfQNgBw6SVwA==2.pdf?hl=en-GB

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.014

दुर्लभ वाद्य यंत्र सुन्दरी

राजन*, डॉ० बी० सत्यवर प्रसाद**

सारांशिका

मनुष्य की सभ्यता आदि युग में ही 'नादी' जैसे सुषिर वाद्यों को जन्म दिया। किन्तु समय के विकास के साथ-साथ वाद्यों में परिवर्तनशीलता एवं नवीनता सामने आने लगी तथा साथ-साथ कुछ त्रुटियाँ भी सामने उजागर होने लगी। जिनको दूर करने के प्रयास में नवीन वाद्यों का जन्म हुआ।

भारतीय संगीत वाद्यों की विविधता ने, उनकी सर्जना के शिल्पगत चमत्कार तथा उनके विकास की प्रभाव व्यापी परम्परा ने विश्व को मोहा है किन्तु उनके स्वरात्मक एवं प्रयोगात्मक विवेचन का क्रमबद्ध इतिहास सदा ही दुर्लभ रहा है। इसी क्रम में एक अत्यन्त दुर्लभ सुषिर वाद्य सुन्दरी को इस लेख में दर्शाने का प्रयास किया गया है। यह महाराष्ट्र प्रान्त का अत्यन्त दुर्लभ सुषिर वाद्य है। यह वाद्य यन्त्र वर्ष 1928 के आस-पास तैयार किया गया तथा 27 फरवरी 1936 में महाराष्ट्र प्रान्त में स्थित ''अक्कल कोट'' के महाराज फतेह सिंह जी ने एक शानदार महल और हथियारों के असाधारण संग्रह के साथ एक अद्‌भुत शस्त्रागार का निर्माण किया। उनके राज्यारोहण के अवसर पर यह सर्वेक्षण किया गया कि आसपास के क्षेत्र में कोई शहनाई वादक है या नहीं। उस समय शहनाई वादक बाबूराव जाधव को बुलाया गया, जो आजीविका के लिए सोलापुर आए थे तथा पेशे से वह शहनाई वादक थे। लेकिन महाराज को शहनाई की तुलना में कोई नरम वाद्ययंत्र की आवश्यकता थी। उस समय ऐसा कोई उपकरण नहीं था। महाराज बाबूराव जाधव को शहनाई से भी छोटा और नरम वाद्य यंत्र खोजने का आदेश दिया। इसी बीच सोलापुर की शोभा यात्रा के दौरान बाबूराव जाधव को लकड़ी के पाइप जैसा एक खिलौना मिला, जिसमें एक ताड़ का पेड़ का पत्ता जोड़ा गया। इसमें छः स्वर थे, जिसमें सातवां स्वर निषाद जोड़ा गया और शहनाई से भी छोटा और मधुर वाद्य यंत्र तैयार हुआ। अक्कल कोट कार्यक्रम में बाबूराव जाधव ने इसे लयबद्ध तरीके से बजाया। महाराज को यह बहुत पसंद आया। महाराज ने पूछा कि यह कौन सा यंत्र है? उस समय बाबूराव जाधव ने कहा था कि एक नया उपकरण बनाया है। अभी तक इसका नामकरण नहीं किया गया है। महाराज ने कहा यह वाद्य बड़ा ही सुन्दर बज रहा है। इसका नाम 'सुंदरी' रखें तभी से बाबूराव जाधव के कल्पना से जन्में इस खूबसूरत वाद्ययंत्र का नाम 'सुन्दरी' पड़ गया और आज सुंदरी वाद्य को दुनिया भर में प्रसिद्धि मिल चुकी है।

*(यू०जी०सी०-नेट) : शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005; ई-मेल: rajan.tabla@gmail.com

**सहायक आचार्य : वाद्य विभाग, शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005; ई-मेल: drbsvprasad@bhu.ac.in

सुंदरी सागवान तथा बर्माटिक सागवान की लकड़ी से बनाई जाती है। यह जानकारी 'सुंदरी' वादक बाबूराव जाधव ने दी। 'सुंदरी' वाद्य के शेष लक्षण शहनाई के ही समान होते हैं। यह वाद्य नफीरी की तरह होता है। इस शोध प्रपत्र में शोधार्थी 'सुन्दरी' वाद्य की उत्पति, बनावट, विकास एवं वादन की विशेषताओं के बारे में चर्चा करने का प्रयास कर रहा है।

मुख्य शब्द :- *शहनाई, सुन्दरी, वाद्य, सुषिर, लोक वाद्य, लकड़ी, विशेषता, वादक, उत्पत्ति, वाद्य यंत्र, विकास*

सुषिर वाद्य सुन्दरी की बनावट एवं वादन विधि :-

मुख वायु द्वारा बजाए जाने वाद्य 'सुषिर वाद्य' कहलाते हैं। इन वाद्यों में वायु के दबाव को घटा-बढ़ाकर स्वर को ऊँचा-नीचा किया जाता है। 'शुषि' का अर्थ है 'छिद्र'।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के आधुनिक युग के सुषिर वाद्यों में वंशी, शहनाई, सुन्दरी, नागस्वरम, हारमोनियम आदि वाद्यों का समावेश है। किन्तु इसमें स्वतन्त्र वादन हेतु भारतीय मूल के प्रमुख सुषिर वाद्यों में बंशी, शहनाई, सुन्दरी एवं नागस्वरम् वाद्यों का ही समावेश होता है।

इस क्रम में एक दुर्लभ वाद्य 'सुन्दरी' जो उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयोग किया जाता है। सागवान की लकड़ी से बना यह वाद्य दिखने में अत्यन्त छोटा होता है। उसकी बनावट शहनाई की तरह होती है। परन्तु यह वाद्य शहनाई से अत्यन्त छोटा होता है। इस वाद्य की लम्बाई लगभग 9 इंच होती हैं। इस वाद्य के सारे लक्षण लगभग-लगभग शहनाई के ही समान होते हैं। इस वाद्य को नफीरी के भी नाम से जाना जाता है। महाराष्ट्र प्रान्त के इस वाद्य की ध्वनि अत्यन्त मधुर कर्णप्रिय होती है। इसके नाम से ही इस वाद्य की मधुरता की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। सुन्दरी एक लोक वाद्य के रूप में जाना जाता है। परन्तु वर्तमान समय में यह वाद्य एक शास्त्रीय वाद्य के रूप में विश्व पटल पर स्थापित हो चुका है। इसके मुख भाग में ताड़ के पत्ते से निर्मित पत्ती लगी होती है। जिसको मुख में डालकर वायु भरने पर ध्वनि उत्पन्न होती है। इस वाद्य का प्रचार अधिकतर महाराष्ट्र प्रान्त में हुआ है।

महाराष्ट्र प्रान्त में 'सुन्दरी' नामक इस सुषिर वाद्य को लोग शहनाई की छोटी बहन के रूप में जानते हैं। इस वाद्य की ध्वनि शहनाई से पतली होती हैं। परन्तु अत्यन्त मधुर होती है। इसके मुख भाग में ताड़ के पत्ते की बनी हुई एक पत्रिका स्थापित होती है, जिसे मुख में डालकर वायु भरने पर ध्वनि उत्पन्न होती है। वाद्य का दूसरा शीर्ष खिले हुए छोटी आकृति के पुष्प के समान होता है, जो मुक्त होता है तथा लकड़ी से निर्मित होता है। स्वर निकालने पर उत्पन्न करने के लिए इस वाद्य में कुल आठ स्वर रन्ध्र होते हैं। जिसमें सात स्वर रन्ध्र वायु के उपरी सतह पर तथा एक रन्ध्र वाद्य को निचली सतह पर मुख भाग से प्रथम स्वर रन्ध्र के निकट स्थापित होता है। वादन करते समय वाद्य को शहनाई के समान ही लम्बवत् धारण किया जाता है तथा मुख भाग से वाद्य के

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.014

ऊपरी सतह पर स्थित प्रथम तीन स्वर रन्ध्रों को ऊपर से वामहस्त के क्रमशः तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा निचली सतह पर स्थित रन्ध्र को अंगूठा उंगली से मुद्रित किया जाता है। इस वाद्य को इसी प्रकार से धारण करने का सही तरीका है। परन्तु भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ विश्व विख्यात सुन्दरी वाद्य के महान कलाकार 'सिद्धराम जाधव' इस वाद्य पर स्वररन्ध्रों को मुद्रित करने के लिए दक्षिण हस्त को अंगुलियों को ऊपर की ओर तथा वाम हस्त को अंगुलियों को नीचे के नीचे की ओर रख कर वादन करते हैं।

मुख भाग से वाद्य के ऊपरी सतह पर प्रथम छः स्वररन्ध्रों तथा निचली सतह पर स्थित अंगूष्ठावाली रन्ध्र को पूर्णतया मुद्रित करके वादन करने पर 'षड्ज' स्वर उत्पन्न होता है। वाद्य के निचली सतह पर स्थित स्वर रन्ध्र को पूर्णतया मुद्रित रखते हुए मुख भाग से ऊपरी सतह पर स्थित प्रथम पाँच स्वररन्ध्रों को ढककर वादन करने पर 'ऋषभ' प्रथम चार स्वर रन्ध्रों को ढककर वादन करने पर 'गन्धार' प्रथम तीन स्वर रन्ध्रों को ढककर वादन करने पर 'मध्यम', प्रथम दो स्वर रन्ध्रों को ढककर वादन करने पर 'पंचम' तथा प्रथम स्वर-ध को ढककर वादन करने पर 'धैवत' स्वर उत्पन्न होते हैं। जब वाद्य के उपरी सतह पर स्थित समस्त रन्ध्रों के साथ-साथ निचली सतह पर स्थित रन्ध्र को भी पूर्णतया मुक्त करके वादन किया जाता है तो 'निषाद' स्वर उत्पन्न होता है। उपयुक्त समस्त स्वर हिन्दुस्तानी संगीत के बिलावल थाट शुद्ध स्वर होते हैं। विकृत स्वरों की उत्पत्ति शहनाई के समान होती है।

इस लोक वाद्य सुन्दरी पर हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत एवं लोक धुनों का वादन भी किया जाता है। इसके वादन के समय ताल की संगति खुर्दक वाद्य पर की जाती है। इस वाद्य के सर्वश्रेष्ठ वादक श्री सिद्धराम जाधव हुए हैं जो शोलापुर (महाराष्ट्र) के निवासी थे। इस वाद्य पर भी मन्द्र सप्तक के स्वरों का विस्तार अल्प होता है क्योंकि इसमें मात्र मन्द्र धैवत तक के ही स्वर उपलब्ध होते हैं।

सुषिर वाद्य सुन्दरी के वादनाभ्यास का विधान :-

सुषिर वाद्य सुन्दरी के वादन के अभ्यास में नियमितता का होना परमावश्यक है। उसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न होने से वादक की वादन कुशलता क्षीण हो जाती है। वादक को प्रायः ऐसे स्थल पर बैठकर अभ्यास करना चाहिए, जहाँ स्वच्छ एवं निर्मल वातावरण हो तथा जहाँ वायु आदि का गमनागमन निर्विघ्न होता हो चूंकि सुषिर वाद्य सुन्दरी के वादकों को वादन के समय नासिका द्वारा ही श्वांस लेना पड़ता है। अतः गन्दे स्थान पर बैठकर अभ्यास करने से विभिन्न रोगों से ग्रसित हो जाने का भय रहता है। वादन प्रारम्भ करने से पूर्व वाद्य यंत्र को स्वच्छ कर लेना चाहिए। वादन अभ्यास की समाप्ति के पश्चात वादक ठण्डे स्थान पर नहीं जाना चाहिए। अगर वहाँ जाना आवश्यक हो तो उसे समुचित परिधान धारण करके हो जाना चाहिए। प्रतिदिन वादक को हल्का शारीरिक व्यायाम या आसन आदि यौगिक क्रियाओं को भी करना चाहिए। सुषिर वाद्य के वादकों के लिए प्रतिदिन प्राणायाम करना चाहिए। यह उपयोगी सिद्ध होता है।

उपर्युक्त इन सभी बातों का ध्यान रखकर वादक सुन्दरी वाद्य का वादनाभ्यास करें तो निसंदेह तो वह अल्प काल में ही सिद्धहस्त एवं कुशल वादक बन सकता है।

सुषिर वाद्य सुन्दरी के अभ्यास नियमः-

(अ) स्वर अभ्यास
(ब) अलंकार अभ्यास
(स) राग अभ्यास

(अ) स्वर अभ्यासः-

यह सर्वमान्य है कि गायक तथा तत एवं सुषिर वाद्य-वादकों को सर्वप्रथम स्वर-ज्ञान होना अति आवश्यक है और तत्पश्चात् लय-ज्ञान। स्वर-ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वर-अभ्यास करना अनिवार्य होता है। इससे स्वर-ज्ञान के साथ-साथ लालित्यपूर्ण एवं रक्तिपूर्ण स्वरों के प्रकटीकरण में अधिकार हो जाता है। संगीतशिरोमणि स्व० पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर अपने विद्यार्थियों से पहले एक घण्टा तक स्वर-साधना करवाते थे।

स्वर-अभ्यास तानपूरा की संगति में करना चाहिए। अगर किसी कारणवश तानपूरा सुलभ न हो तो स्वरपेटी का प्रयोग किया जा सकता है, जिसके स्वर संवाद-आधार पर भली-भाँति मिले होने चाहिए। सबसे पूर्व तानपूरा को अपने वाद्य के षड्ज आदि स्वरों में भली-भाँति मिला लेना चाहिए। तत्पश्चात् तानपूरा छेड़ने वाले को निर्देश दे देना चाहिए कि वह उसे मध्यम गति से छेड़े। इसके पश्चात् वादक को तानपूरा के षड्ज स्वर में अपने वाद्य के षड्ज को समरस करके स्वर-अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। स्वर-अभ्यास करते समय अपने समक्ष घड़ी रखकर इस बात का निरीक्षण करते रहना चाहिए कि एक श्वांस में वह कितनी देर तक वादन कर पाता है। क्रमशः उसे धीरे-धीरे एक ही श्वांस में वादन-समय की सीमा बढ़ाते जाना चाहिए। तदनन्तर वाद्य में उपलब्ध सप्तकों के प्रत्येक स्वर पर कम से कम पांच-पांच मिनट का समय निर्धारित करके उन पर एकाग्रतापूर्वक ठहरकर स्वर-अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार किसी दिन केवल शुद्ध स्वरों का तथा किसी अन्य दिन विकृत स्वरों के साथ स्वराभ्यास करना हितकारी होता है।

इस विधि से स्वराभ्यास करने पर वादक के दम-खम में वृद्धि होती है एवं फूंक पर नियंत्रण होता है, जो उत्तम वादकों का आवश्यक गुण माना जाता है। प्रातः काल के समय यह स्वर-अभ्यास करना उपयुक्त होता है। गायक वर्ग के लिए भी मन्द्र-साधना का प्रयोग प्रातःकाल ही उत्तम माना गया है।

(ब) अलंकार अभ्यासः-

महर्षि भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' के उनतीसवें अध्याय में संगीत-अलंकारों के महत्व का उल्लेख करते हुए लिखा है-

शशिना रहितेव निशा विजवेल नवी लता विपुष्येव।
अविभूषितेव कान्ता गीतिरलङ्कारहीना स्यात्।।45।।

अर्थात् जो अवस्था चन्द्रमा रहित रजनी की, जलरहित नदी की, पुष्परहित लता की तथा आभूषणरहित स्त्री की होती है, वही अवस्था अलंकाररहित गीतों की होती है। इसका तात्पर्य यह है कि बिना अलंकार के गीत सुशोभित नहीं हो पाता है।

संगीत में स्वरों के विभिन्न क्रम को ही अलंकार की संज्ञा दी जाती है। इसके विषय में भरत मुनि ने लिखा है-

अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि वर्णालङ्कारलक्षणम्।
आरोही अवरोही च स्थायिसन्चारिणी तथा।
वर्णाश्चित्वार एवेते अलङ्कारास्तवाश्रयाः।।14।।

अर्थात् चार प्रकार के वर्ण होते हैं-आरोही, अवरोही, स्थायी तथा सन्चारी। अलङ्कार इन्हीं के आश्रित होते हैं।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.014

अलंकार को शाङ्गदेव जी ने निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है-

विशिष्टं वर्णसंदर्भमलंकारं प्रचक्षते।।3।।

अर्थात् विशिष्ट वर्ण-संदर्भ को अलंकार कहते हैं। अलंकारों के उद्देश्य का उल्लेख करते हुए शाङ्गदेव ने बतलाया है कि उससे रक्तिलाभ (रजक्ता), स्वरज्ञान एवं वर्णागों के ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। अलंकारों के अभ्यास कर लेने पर तानों का वादन करना सरल एवं सहज हो जाता है, क्योंकि जब कोई अलंकार किसी राग के स्वरों में बांधकर द्रुत गति से प्रयोग किया जाता है, तो वही 'तान' बन जाता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'तान' अलंकार के आश्रित है। भरत मुनि ने अलंकारों की संख्या अड़सठ बतलायी है, जिनमें तैंतीस स्थायी वर्ण के, पन्द्रह संचारी वर्ण के, पन्द्रह आरोही वर्ण के एवं पाँच अवरोही वर्ण के हैं। शाङ्गदेव ने कुल तिरसठ अलंकारों का उल्लेख किया है। शाङ्गदेव ने कूटतानों की भी चर्चा की है, जिसके गणित-सिद्ध विधि को 'स्वर-प्रस्तार' कहा जाता है। इसका संगीत के व्यावहारिक पक्ष में भी उपयोग होता रहा होगा, क्योंकि वर्तमान सदी के कुछ प्रसिद्ध गायकों, वादकों द्वारा इनके अभ्यास करने का उल्लेख प्राप्त होता है।

अलंकारों का अभ्यास निम्निलिखित दो रूपों में करना चाहिए-

1. रागयुक्त:-

इसके अन्तर्गत सप्तक के साथ शुद्ध स्वरों के आधार पर निर्मित विभिन्न अलंकारों का अभ्यास करना चाहिए। विद्यार्थी-काल में इन अलंकारों का अभ्यास करना बहुत ही महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य होता है। संगीत के वर्तमान घरानों एवं विद्यालयों में गुरुजनों द्वारा प्रारम्भिक स्तर के विद्यार्थियों को इस तरह के अलंकारों का अभ्यास कराते हुए देखा जाता है।

2. रागमुक्त:-

जब विद्यार्थी को राग का प्रशिक्षण दिया जाता है, तो उस समय उस राग विशेष में बद्ध अलंकारों का अभ्यास करना विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। इनके अभ्यास कर लेने पर उस राग के स्वरों का वादन सरल हो जाता है और राग के स्वरूप को उत्तम ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। कुछ उस्ताद एवं गुरु अपने शिष्यों को विभिन्न दस थाटों में बद्ध अलंकारों का अभ्यास इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कराते हैं। प्राचीन काल में विभिन्न मूर्छनाओं के अभ्यास करने का विधान था।

उत्तमकोटि का वादक बनने के लिए उपर्युक्त दोनों रूपों के अलंकारों का अभ्यास करना श्रेयस्कर होता है। अलंकारों की संख्या अनन्त हो सकती है। यहाँ रागमुक्त अलंकारों में से कुछ प्रमुख अलंकारों के विषय में ही उल्लेख किया जा रहा है। वाद्य-तकनीक के आधार पर सुषिरवाद्य-वादकों को कम से कम निम्नलिखित तीन प्रकार के अलंकारों का अभ्यास नित्य करना आवश्यक होता है-

(1) फूत्कारयुक्त
(2) ततकारयुक्त
(3) गमकयुक्त

(1) फूत्कारयुक्त :-

इसके अन्तर्गत दिए गए अलंकारों के अभ्यास करने के पश्चात् शारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर में वर्णित फूत्कार के 12 गुणों-स्निग्धता, घनता, रक्ति, व्यक्ति, प्रचुरता, लालित्य, कोमलता, नादानुरणन, त्रिस्थानव्याप्ति, श्रावकत्व, माधुर्य, सावधानता की सिद्धि हो सकती है। 16 इस प्रकार

के अलंकारों के वादन के समय नियमित गति एवं उत्तम ढंग से फूंकना ही मुख की मुख्य क्रिया होती है। स्वरोत्पत्ति के लिए अंगुली-चालन की क्रिया सामान्य रूप से होती है। फूंक पर नियंत्रण रखना हो ऐसे अलंकारों के वादन-अभ्यास करने का प्रमुख उद्देश्य होता है। इनके अभ्यास करने से वादन करते समय मुख से सीत्कार जैसी ध्वनि उत्पन्न नहीं होने पाती। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित अलंकारों का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी होता है-

1. प़प, ध़ध, ऩिनि, सासां, रेरें, गगं, ममं, पपं, पंप, मंम, गंग, रेरे, सांसा, ऩिऩि, ध़ध़, पप।

टिप्पणी-सप्तक-परिवर्तन के समय स्वरों में झटका या आपात नहीं होना चाहिए। शाङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर में इसी अलंकार के समकक्ष प्रसन्नादि नामक अलंकार का उल्लेख किया है, जिसमें एक स्वर दो बार पहले मन्द्र में तत्पश्चात् एक बार तार सप्तक में उच्चारा जाता है।

2. प़ध़, प़ऩी, प़सा, प़रे, प़ग, पम, पप पप़ मप़, गप़, रेप़, साप़, ऩिप़, ध़प़।

टिप्पणी - इसी प्रकार क्रमशः प्रत्येक स्वर को स्थिर करके उसके जोड़ी-स्त्रर तक के अन्य स्वरों को लेते हुए आरोही-अवरोही क्रम से अभ्यास करना चाहिए। शास्त्रों में इस तरह के अलंकार को 'श्येन अलंकार' कहा गया है।

(2) ततकारयुक्त:-

फूंक के साथ-साथ जिल्हा से हलका आघात करके वादन करने पर ततकारयुक्त स्वर उत्पन्न होते हैं, जिसे अंग्रेजी भाषा में ;ज्वदहनपदहद्ध कहते हैं। इसी को कर्णाटकीय वाशिक 'तुतुकारम्' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। इसके वादन करने के लिए अंगुलि-चालन तथा जिल्हा आघात के समय में पूर्ण सामंजस्य स्थापित होना चाहिए। इस प्रकार के अलंकारों के वादन करने पर कपोल से संलग्न मांस-पेशियों में तनाव उत्पन्न होता है। अतः विशेष रूप से तेज गति में इनका वादन कष्टप्रद एवं दुष्कर प्रतीत होता है, जिसे अभ्यास द्वारा साध्य किया जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित अलंकारों का अभ्यास फूंक-जिह्वा के सम्मिलित आघात द्वारा करना चाहिए-

1. प़ध़ऩिसारे गमप, पमगरे साऩिध़प़; ध़ऩिसारेगमपध, धपमगरे साऩिध़; ऩिसारे गमपधनि, निधपमगरेसाऩि; सारे गमपधनिसां, सांनिधपमगरे सा; रेगमपधनिसांरें, रेंसांनिधपमगरे; गमपधनिसांरेंगं, गरेंसांनिधपमग; मपधऩिसारेंगंमं, मंगरेंसांनिधपम; पधनिसांरेंगंमंपं, पंमंगरेंसांनिधप।
2. प़प़, ध़ध़, ऩिऩि, सासा, रेरे, गग, मम, पप, धध, निनि, सांसां, रेंरें, गंगं, मंगं, पंपं;, पंपं, मंमं, गंगं, रेंरें, सांसां, निनि, धध, पप, मम, गग, रेरे, सासा, ऩिऩि।

टिप्पणी-इसके पश्चात् उपर्युक्त ढंग से प्रत्येक स्वर को एक साथ तीन तथा चार बार लेकर अभ्यास किया जा सकता है। शाङ्गदेव ने इस तरह के दो-दो स्वर-समूह के अलंकार को 'निष्कर्ष' एवं तीन तथा चार स्वरों के अलंकार को 'गात्रवर्ण' की संज्ञा दी है।

(3) गमकयुक्त :-

स्वरों के किसी भी प्रकार के कम्पन को मध्यकाल में 'गमक' कहा जाता था। 'गमक' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए पाश्र्वदेव ने कहा है कि-

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.014

स्वश्रुतिस्थानसंभूता छायां त्रुत्यन्तराश्रयाम्।
स्वरो यद् गमयेद्गीतै गमकोऽ सौनिरूपिता: ।।

भावार्थ-जो स्वर अपने श्रुति स्थान पर संभूत छवि को अन्य श्रुति की छाया तक पहुँचा दे, वह गमक कहलाता है। शाङ्गदेव ने गमक के निम्नलिखित पन्द्रह भेदों का उल्लेख किया है-

1. तिरिप- जब द्रुतलय के एक चतुर्थाश वेग से छोटे डमरू की ध्वनि के सदृश कम्पन हो।
2. स्फुरित- जब द्रुतलय के एक तृतीयांश वेग से छोटे डमरू की ध्वनि के सदृश कम्पन हो।
3. कम्पित- जब द्रुतलय के एक अर्धमान के वेग से छोटे डमरू की ध्वनि के सदृश कम्पन हो।
4. लीन- जब द्रुत लयमान से कंम्पन हो।
5. आन्दोलित- जब लघुमान से कम्पन हो।
6. वलि- जब वेग से विविध वक्रतापूर्ण कम्पन हो।
7. त्रिभिन्न- जब तीनों सप्तकों में अविश्रान्त घनस्वरसहित कम्पन हो।
8. कुरुल- जब 'वलि' नामक गमक का कोमल कण्ठ से प्रयोग हो।
9. आहत- जब प्रत्येक स्वर को उसके अगले स्वर का आघात देकर प्रयोग हो।
10. उल्लासित- जब क्रमश: उत्तरोत्तर स्वरों को आरोह गति में प्रयोग किया जाय।
11. प्लावित- जब प्लुत की गति से कम्पन हो।
12. हुंफित- जब हृदय-प्रदेश से हुंकारसहित स्वर का प्रयोग हो।
13. मुद्रित- जब मुख बन्द कर अनुस्वारात्मक स्वर का प्रयोग हो।
14. नामित- जब अवरोह गति से स्वरों का प्रयोग हो।
15. मिश्रित - जब उपर्युक्त गमकों में से कुछ का मिश्रण करके प्रयोग हो।

वर्तमानकाल में सामान्य रूप से एक स्वर को एक साथ दो या उससे अधिक बार नाभि-स्थल से गम्भीरतापूर्ण कम्पन करके वादन करना 'गमक' कहलाता है। गमकयुक्त स्वरों का वादन करते समय अंगुलियों में कम्पन तथा फूंक से हलका आबात ये दोनों क्रियाएं एक साथ करनी पड़ती हैं। इसके लिए निम्नलिखित अलंकारों का अभ्यास करना चाहिए-

1. प़प़, ध़ध़, ऩिऩि, सासा, रेरे, गग, मम, पप, धध, निनि, सांसां, रेंरें, गंगं, मंमं, पंपं; मंमं, गंगं, रेंरें, सांसां, निनि, धध, पप, मम, गग, रेरे, स, ऩिऩि, ध़ध़, प़प़।
2. प़प़प़, ध़ध़ध़, ऩिऩिऩि, सासासा, रेरेरे, गग, ममम, पपप, धधध, निनिनि, सांसांसां, रेंरेंरें, गंगंगं, मंमंमं, पंपंपं; पंपंपं, मंमंमं, गंगंगं, रेंरेंरें, सांसांसां, निनिनि, धधध, पपप, मम, गगग, रेरेरे, सासासा, ऩिऩिऩि, ध़ध़ध़, प़प़प़।

उपर्युक्त सभी अलंकार भातखण्डे स्वरलिपि प्रणाली के अनुसार लिखे गए हैं तथा वे रागमुक्त अलंकारों के ही उदाहरण हैं। उन्हीं में से रागवर्जित स्वरों का परित्याग करते हुए रागयुक्त अलंकारों का निर्माण कर उनका वादन-अभ्यास करना उपयोगी होता है।

इन अलंकारों के अभ्यास कर लेने पर सभी प्रकार के तान-वादन में एक प्रवाह आ जाता है।

सुन्दरी वाद्य के स्वरों का विस्तार क्षेत्र दो सप्तक तक (मन्द्र से तार सप्तक तक) का होता

है। सुविधानुकूल ऊपर केवल दो सप्तक तक के ही अलंकार प्रस्तुत किए गए हैं। अलंकारों के अन्य बहुत से प्रकार बन सकते हैं, जिन्हें उपयुक्त गुरु के सान्निध्य में रहकर ज्ञानार्जित किया जा सकता है। अभ्यास करते समय प्रारम्भ में विभिन्न अलंकारों को मन्द गति में बजाना चाहिए एवं तत्पश्चात् शनैः शनैः उनकी गति बढ़ानी चाहिए। सुन्दरी वाद्य पर स्वर के अलंकारों का अभ्यास करने से तीनों सप्तकों के तानों को बजाने में सुविधा हो जाती है।

(स) राग-अभ्यास :-

स्वर एवं अलंकार अभ्यास के पश्चात् प्रतिदिन राग-वादन का भी अभ्यास करना आवश्यक होता है। इसके अन्तर्गत क्रमशः गत, आलाप, तान तथा झाला का वादन करना चाहिए, जिसके साथ में तबला वादन की संगति होनी आवश्यक है। तदुपरान्त रागयुक्त अलंकारों का अभ्यास उपयोगी होता है।

प्रारम्भिक काल में शुद्ध स्वरवाले कुछ रागों का अभ्यास करना चाहिए, जिसमें सातों स्वरों का प्रयोग होता हो तथा जिसका चलन सीधा और सरल हो। ऐसे कुछ रागों पर अच्छा प्रभुत्व हो जाने के पश्चात् कुछ विकृत स्वरयुक्त रागों का वादन-अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। विकृत स्वरयुक्त रागों पर नियंत्रण रखने के लिए दस थाटों के स्वरों में अलंकार बांधकर अभ्यास करना श्रेयस्कर होता है। श्रेष्ठ कोटि के गुरुजन या उस्ताद विद्यार्थियों को प्रायः यमन राग से ही राग-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ करते हैं तथा यही उपयुक्त पद्धति है, क्योंकि संगीत के प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए इस राग के वादन करने में अन्य रागों की तुलना में अल्प कठिनाई होती है। लेकिन अधिकांश संगीत-विद्यालयों में प्रारंभिक विद्यार्थियों को प्रायः भूपाली, दुर्गा, हंसध्वनि इत्यादि रागों का प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया जाता है, जो औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि क्रिया-पक्ष में किसी स्वर का लंघन करके गायन या वादन करना थोड़ा दुष्कर कार्य होता है। क्रमशः सात स्वरों से युक्त रागों का प्रारम्भिक अभ्यास श्रेयस्कर है।

निष्कर्ष:-

सुषिर वर्ग के वाद्य यन्त्रों का जन्म घन वाद्यों के पश्चात हुआ, क्योंकि प्रारम्भिक सुषिर वाद्य प्रकृति प्रदत्त नरसल, वंश, जानवरों के हड्डी या शृंग और से निर्मित होते थे। मुख द्वारा सीटी की ध्वनि उत्पन्न करने की क्रिया ही सुषिर वाद्य की जननी है। जब भाषा का आविष्कार नहीं हुआ था, तब मानव विभिन्न संकेतों तथा स्वरों के द्वारा अपने विचारों का आदान-प्रदान करता था। इसी प्रकार एक लकड़ी के खिलौने से 'सुन्दरी' वाद्य का जन्म हुआ।

'सुन्दरी' एक न केवल वाद्य यंत्र है, बल्कि यह एक सांस्कृतिक पहलू और पारिवारिक विरासत भी है। बाबूराव जाधव के नव प्रवर्तन आविष्कार से निर्मित यह वाद्य आज भी न केवल महाराष्ट्र प्रान्त की धरोहर है। बल्कि भारतीय संगीत के अद्वितीय वाद्य यंत्रों में से एक बन चुका है। यह शास्त्रीय संगीत में प्रयोग किया जाने वाला प्रमुख सुषिर वाद्य है। इस वाद्य यन्त्र के प्रमुख कलाकार पं. सिद्ध राम जाधव, पं० चिदानन्द जाधव, शंकर जाधव, भिमन्ना जाधव एवं कपिल जाधव वर्तमान समय में भारतीय शास्त्रीय संगीत के इस दुर्लभ वाद्य की परम्परा को विश्व पटल पर बढ़ाने तथा प्रचार-प्रसार का कार्य कर रहे हैं।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.014

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. मिश्रा, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 214
2. भार्गव, डॉ. अंजना, भारतीय संगीतशास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन, प्रथम एवं द्वितीय संस्करण 2002, 2009, पृ. 106
3. वालिया, डॉ. सीमा रानी, स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन (प्रचलन एवं महत्व), प्रथम संस्करण 2016, पृ. 17
4. जायसवाल, डॉ. राधेश्याम, भारतीय संगीत के सुषिर वाद्यों का इतिहास, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 142, 154, 155, 159-169
5. इण्टरनेट
6. यू-ट्यूब
7. विकिपिडिया
8. साक्षात्कार - पं0 जवाहर लाल (शहनाई वादक, वाराणसी), सुन्दरी वाद्य का प्रारम्भिक विकास शहनाई वाद्य के पश्चात् हुआ तथा शहनाई की छोटी बहन के रूप में सुन्दरी वाद्य को दुनिया भर में जाना जाता है। जिसे पं0 जवाहर लाल जी ने साक्षात्कार के माध्यम से अवगत कराया।
9. साक्षात्कार - पं0 विभन्ना जाधव (सुन्दरी वादक, महाराष्ट्र), श्री जाधव जी ने सुन्दरी वाद्य के विकास, बनावट एवं वादन विधि को साक्षात्कार के माध्यम से अवगत कराया।

ठुमरी का भक्तिमय स्वरूप

राजकिशोर कुमार

शोध- सार

ठुमरी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय और लोक गायन का एक स्वरूप है, जिसमें प्रेम, विरह और भक्ति के नाज़ुक भावों का संगीतात्मक प्रदर्शन होता है। इस अध्ययन का लक्ष्य ठुमरी के भक्तिमय पहलुओं का ऐतिहासिक, संगीतात्मक, भाषिक और समाज-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करना है। ठुमरी के उद्‌भव, रूप, शब्द-पदार्थ, राग-ताल संरचना, प्रदर्शन की विधि और भक्ति/श्रृंगार के बीच संबंधों पर चर्चा की गई है। साथ ही, ठुमरी को संरक्षित करने वाले पारंपरिक कलाकारों (विशेषकर पूरब अंग गायकों और तवायफ़ परंपरा) और वर्तमान प्रदर्शन पर इसके प्रभाव का भी यह लेख अवलोकन करता है।

Keywords: ठुमरी, भक्ति, विरह, राग, ताल, तवायफ़ परंपरा, वाजिद अली शाह, गिरिजा देवी, शैलीगत अंग

ठुमरी, जो अक्सर ख्याल और ठुमरीघटित प्रकार के बीच स्थित होती है, शास्त्रीय राग-प्रणाली के ढांचे में लोकनाट्य और भावनात्मक अभिव्यक्ति का मिश्रण प्रस्तुत करती है। शास्त्रीय अनुशासन के भीतर इसकी लचीली भाषा, संगीतमय अलंकार और भावनात्मक गुंढ़ी भाषा इसे भक्ति-अनुभव का एक सूक्ष्म माध्यम बनाती है। भक्ति की परंपरा, विशेषकर कृष्ण-भक्ति के साहित्यिक स्रोत ठुमरी की विषय-वस्तु, छंद और भाषा पर गहरा प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार ठुमरी का भक्तिमय स्वरूप न केवल संगीत शास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि सामाजिक-ऐतिहासिक और नृ-सांस्कृतिक अध्ययन का भी उपयुक्त क्षेत्र है।

ठुमरी का आरंभ किसी विशेष स्रोत से नहीं जोड़ा जा सकता। यह अनेक स्रोतों-दरबारी संगीत, लोक-गीत, भक्तिपत्र और नाट्य-परंपरा का मिश्रण है। 18वीं–19वीं सदी की दरबारी सभाओं में लखनऊ और उत्तर-भारतीय दरबानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। खासकर नवाब वाजिद अली शाह को लखनऊ की ठुमरी-परंपरा को आकार देने वाले संरक्षक के रूप में जाना जाता है। उनकी दरबारी संस्कृति में ठुमरी की मर्दनात्मक संरचना और शब्दों की सुंदरता को बढ़ाया गया। ठुमरी की परंपरा में तवायफ़ और courtesan-संघों का भी अहम योगदान रहा, जिन्होंने शैली, प्रदर्शन और भाषाई रूपों (बृज, अवधी, हिंदी/उर्दू के मिश्रण) को सुरक्षित रखा।ध्रुवपद,ख्याल के विकास के साथ ठुमरी ने व्यावहारिक गायन शैली के रूप में अपनी एक अलग पहचान बनाई। जहाँ राग के स्वतंत्रता और भावनात्मक बारीकी को अहमियत दी गई। इस ऐतिहासिक परिवर्तन में लोक-भक्ति

पूर्व शोध छात्र, वि.वि.संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि. वि.वि.,दरभंगा

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.015

साहित्य (बृजलोल, रासलीला गीत, गुरु-भक्ति) का स्थायी असर देखा जाता है, जो ठुमरी के भक्तिपूर्ण विषयों का स्रोत बन गया।

ठुमरी का स्वरूप और शैलीगत विशेषताएँ- ठुमरी की पहचान इन प्रमुख तत्वों से होती है-

लघु-रचना (Concise Format):- ठुमरी आमतौर पर छोटी बंदिशों की श्रेणी में मानी जाती है , लेकिन छोटी रचना में भाव की गहराई होती है।

भाषा और प्रकाश (Linguistic Texture):- ठुमरी में बृजभाषा, अवधी, हिंदी और उर्दू का सम्मिलन होता है। बृज-भक्ति परंपरा के गीत, अवधी की जनभावना और उर्दू की नियंत्रित श्रृंगारिकता मिलकर ठुमरी का भाषाई सौंदर्य तैयार करते हैं।

राग-प्रयोजन:- ठुमरी के लिए इस्तेमाल होने वाले राग आमतौर पर उन रागों में होते हैं जो भाव-निरूपण के लिए उपयुक्त होते हैं दरबारी, भैरवी, आदि उपयुक्त राग पाए जाते हैं; लेकिन ठुमरी में राग-नियमों में ह्रास और भंग के लिए अधिक छूट होती है।

ताल और लय:- ठुमरी की लय-रचनाएँ सरल रही हैं, जिससे बोल-खेल और अलंकारों का आदान-प्रदान आसानी से होता है।

अलंकार व वाणी - मृदु अलंकार जैसे मींड, गमक आदि का व्यापक उपयोग किया जाता है, ये अलंकार भावना उत्तेजक होते हैं।

नाटकीय/रोल-प्ले तत्व:- अनेक ठुमरीयों में भक्ति-रूपक (जैसे सखा-भाव, दासी का स्वरूप, कीर्ति-भक्ति) के साथ संवादात्मक तत्व दिखाई देते हैं, जो श्रोता के साथ भावनाओं का समर्थन करते हैं। ये गुण ठुमरी को शास्त्रीयता और जन-उन्मुख भक्ति के बीच एक संतुलित स्थान देते हैं।

ठुमरी और भक्ति

ठुमरी के भक्तिपूर्ण रूप को जानने, करने के लिए हमें उसकी विषयवस्तु और भावनाओं के तह को उजागर करना होगा।

ठुमरी में मुख्यत: राधा-रागिनी और कृष्ण-कथा के उदाहरण मिलते हैं। रासलीला, विरह (विरह-पीड़ा), अनुराग और माधुर्य-भक्ति ठुमरी का मुख्य विषय होते हैं-जहाँ भक्ति का स्वरूप केवल आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि व्यापक मानव प्रेम-भाषा में भी प्रकट होता है। यहाँ भक्ति और श्रृंगार का संगम दिखाई देता है: भक्त की विरह-पीड़ा एक तरह की आध्यात्मिक अनुभूति भी मानी जाती है।

भक्ति परंपराएं-विशेषकर मध्यकालीन बृज-भक्ति (संत बुल्लेशाह/कबीर से भिन्न, पर स्थानीय भक्ति परंपराओं के रूप में) का ठुमरी के शब्द और चित्रांकन पर गहरा असर पड़ा है। ठुमरी में 'ना जाने किसको संदेश' जैसी आत्मीय और व्यक्तिगत भक्ति का अनुभव बार-बार प्रकट होता है। इस प्रकार, ठुमरी सिर्फ एक संगीत मनोरंजन नहीं बनती, यह एक व्यक्तिगत भक्ति का प्रतीक बन जाती है। कई ठुमरी-विषयों में नायिका का प्रियतम-भजन का भाव साफ़ है ,जिससे भक्ति-आदर्श और प्रेमिका-आदर्श का संबंध बनता है। इस संदर्भ में तवायफ़ परंपरा की महिलाओं के जरिए ठुमरी ने व्यक्तिगत-भक्ति के स्वरूप को अभिव्यक्त करने का अवसर दिया। ठुमरी की भाषा उसकी भक्ति का मुख्य माध्यम है। ठुमरी के शब्द जबकि साधारण बातचीत के होते हैं, फिर भी वे प्रतीकात्मक अर्थ और दुहेरी भावना (double entendre) समेटे होते हैं, जिससे भक्ति और श्रृंगार दोनों ही स्तर एक साथ सक्रिय हो जाते हैं। बृज-स्थायी शब्दावली: 'श्याम', 'बंसी', 'मैया', 'मोर', 'माल' जैसे बृज-संबंधित संकेत ठुमरी को धार्मिक/भक्तिपूर्ण संदर्भ

प्रदान करते हैं।उर्दू-इंप्रेशन: मुस्कान, शब्द और ठुमरी के कुछ रूप उर्दू-शायरी की तरह शिशु और संवेदनशील होते हैं; यह प्रेम-भक्ति की नज़ाकत को बढ़ाता है। भाषिक द्वंद्व (Ambiguity) का प्रयोग: शब्दों के बहुआयामी अर्थ ठुमरी की भक्तिमयता और मंच पर भाव-जागरण का आधार बनाते हैं। श्रोता का व्यक्तिगत अनुभव भी सक्रिय होता है।इस तरह ठुमरी का काव्य-संरचना उसकी भक्ति-सिद्धि को भाषा के स्तर पर पूर्ण करती है।

ठुमरी की भक्तिपूर्ण प्रस्तुति में चार मुख्य तत्व एक-दूसरे से संबंधित होते हैं:

कवि अथवा गीतकार, जो भक्ति पर आधारित भाषा और शब्द प्रदान करते हैं (कभी-कभी ये लोक कवियों, दरबारी कवियों या अज्ञात स्रोतों के होते हैं)।गायकएवं गायिका या पूरब-अंग के कलाकार, जिन्होंने ठुमरी के भाव को जीवंत किया,उनमें प्रमुख हैं - बीररगंज की रसूलन बाई, बनारस की गिरिजा देवी एवं बेगम अख्तर । सारंगी, तबला, हारमोनियम आदि वादकों का सूक्ष्म सहयोग जो भक्ति भाव को जीवंत करता है,वादन में थोड़ी-बहुत छेड़छाड़ इम्प्रोवाइजेशन के लिए खुली रहती है।

दरबार, घराना, मंदिर, सभा या मंच,जहाँ ठुमरी का प्रदर्शन होता है,वहाँ की पवित्रता एवं अनौपचारिकता प्रस्तुति के भक्तिपूर्ण स्वर को प्रभावित करती है।ठुमरी की भक्तिमयता प्राय: पारंपरिक गायकों की जीवन-भक्ति से व्यक्तिगत रूप से संबंधित होती है। अनेक कलाकारों का अपना भक्ति-आधारित व्यक्तित्व और शैली थी, जिसने ठुमरी की धारा को सशक्त बनाया।

ठुमरी के संरक्षण और विकास में गुरु-शिष्य परंपरा के साथ-साथ तवायफ़ समुदाय की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। तवायफ़ ने केवल ठुमरी को सुरक्षित नहीं रखा, बल्कि उसे कलात्मक और सौंदर्यात्मक स्तर पर भी निखारा। उनके महफ़िल में ठुमरी की भक्ति-भावना अत्यंत सूक्ष्म और संवेदनशील रूप से व्यक्त की गई। वहीं गुरु परंपरा में ठुमरी के शिक्षण में स्वर साधना, बोल प्रकटन, अलंकार और अनुकूलन की तकनीकें शामिल की गईं।

वाजिद अली शाह लखनऊ के शाश्वत संरक्षक थे ।उनकी दरबारी कविताएँ और संगीत-संस्कृति ने ठुमरी-साहित्य और भक्तियुक्त शिल्प को संवारा। गिरिजा देवी क्लासिक पूरब-अंग ठुमरी गायिकी की प्रमुख स्तंभ थीं। उनकी शैली में भक्ति और श्रृंगार का अगाध मिश्रण मिलता है। खासकर 'राधे मिलन' प्रकार की ठुमरियों में।बेगम अख्तर ठुमरी व ग़ज़ल में भाव-गहनता और पवित्रता का संयोजन प्रस्तुत करती थीं। उनकी प्रस्तुतियाँ अक्सर आध्यात्मिक-व्यक्तिगत भक्ति की अनुभूति कराती हैं।

इन कलाकारों के माध्यम से ठुमरी की भक्तिमयता का सार्वजनिक व व्यक्तिगत रूप स्पष्ट होता है।

समकालीन आलोचना ठुमरी के भक्तिपूर्ण रूप के विभिन्न पहलुओं पर विचार करती है:-

- संरक्षण बनाम परिवर्तन: रिकॉर्डिंग के तरीके और मंच प्रस्तुति ने ठुमरी के समय और लय की अनिश्चितता को प्रभावित किया; कुछ समीक्षक मानते हैं कि मीडिया के प्रभाव से ठुमरी की आध्यात्मिक गहराई पर असर पड़ा है।
- गैर-धार्मिक प्रदर्शनों और व्यापारिककरण: मंचन और रिकॉर्डिंग के व्यापारी दबावों ने कभी-कभी भक्ति के परिणामों को ऊपरी बना दिया।
- लैंगिक और सामाजिक विचारधारा: तवायफ़ों की खोज-नीति और उनकी कला

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.015

के प्रति पारंपरिक उपेक्षा पर आधुनिक अनुसंधान ने पुनर्समीक्षा की है-ठुमरी की भक्तिमयता में उनके योगदान को महत्वपूर्ण माना जा रहा है।

- फ्यूज़न और नया प्रयोग: वादन-शैली और शैलियों का मिश्रण ठुमरी के भक्तिमय स्वर को नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है - लेकिन पारंपरिक अभ्यास की गहराई को बनाए रखना एक चुनौती है।

ठुमरी एक गतिशील परंपरा है। इसकी भक्तिमयता संदर्भ के अनुसार लगातार परिवर्तित होती रहती है।अत: ठुमरी की भक्तिमयता उसे शास्त्रीय और लोक संगीत के बीच एक जीवंत, संवेदनशील और मानवता से भरा रूप प्रदान करती है। इसमें भक्ति केवल आध्यात्मिक पुकार नहीं है, बल्कि प्रेम, विरह और जीवन के सूक्ष्म अनुभवों का भी माध्यम है। ठुमरी ने पारंपरिक गुरु-तवायफ़ परंपराओं और दरबार-सभाओं के जरिए वह भाषा तैयार की है जिसके द्वारा श्रद्धा और सौंदर्य की अनुभूति समांतर रूप से व्यक्त होती है। समकालीन संदर्भों में ठुमरी के भक्तिमय पहलुओं को संरक्षित करते हुए, नई प्रयोगशीलता और तकनीकी प्रासंगिकता को कायम रखना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, पी. एल., भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत नाटक अकादमी नयी दिल्ली।
2. वी. एन. भातखंडे, क्रमिक पुस्तक मालिका (सीरीज़), हिंदुस्तानी संगीत का प्रतिष्ठित साहित्यिक संग्रह।
3 संगीत नाटक अकादमी, विविध प्रकाशन एवं कलाकार-जीवनी (गिरिजा देवी, बेगम अख्तर इत्यादि)।
4. रेजिनाल्ड मैसी, भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास (परिचयात्मक संदर्भ हेतु)।

अन्त:करण की शुचिता में हेतु संगीत : एक अध्ययन

डॉ. रामशंकर*, कृष्ण कुमार तिवारी**

सारांश -

संगीत कला को सर्वोत्कृष्ट उदात्त कला का स्थान प्राप्त है। यह कला भौतिक सम्पदा तो देती है। आत्मिक आनन्द का भी हेतु है। अन्त: करण चतुष्ट्य अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार शुद्धिकरण भी इसके माध्यम से सहज रूप में ही हो जाती है। अन्त: करण की शुद्धि के अनन्तर ईश्वर सन्निधान भी होने लगता है जो मानव मात्र का परम चरम लक्ष्य भी है।

मनुष्य, ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है। इसमें कुछ चीजें अगर अन्य जीवों से पृथक है तो कुछ विकारों का भी सृजन हुआ है। उन विकारों का निर्मलीकरण संगीतादि कलाओं के माध्यम से होता है।

संगीत का मूल नाद है और नाद की उत्पत्ति शरीर की अन्त: संरचना के माध्यम से हुई है। इस विधि को शारंगदेव अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर में लिखते हैं-

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मन: प्रेरयते मन:
देहस्थं वह्निमाहन्ति सा प्रेरयति मारुतम्!

अर्थात् जब कोई शब्द ध्वनि या नाद निकालने की कत्र्ता की इच्छा होती है तो वह सर्वप्रथम मन को प्रेरित करता है। फिर शरीर में स्थित अगिन तत्व तदनन्तर वायु को प्रेरणा मिलती है। इसके बाद -

ब्रह्मग्रन्थि स्थितस्सोऽयं क्रमादूध्र्व पथेचरन्।
नाभि हृत्कण्ठ मूर्धास्येष्वाभिर्भावयते ध्वनि:।।

ध्वनि की उत्पत्ति प्रक्रिया से अन्त:करण शुद्ध-विशुद्ध हो जाता है।

***सूचक शब्द -** अन्त: करण, चतुष्टय, विकार, नाद हेतु, सन्निधान, योग, अष्टांग आदि।*

सर्वप्रथम अन्त: करण को समझने का प्रयत्न करते हैं। मानव शरीर पाँच तत्त्वों से मिलकर बना है- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी भी लिखते हैं -

क्षिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम शरीरा।।

इस प्रकार हम यह कहते हैं कि पाँच तत्वों के सम्मिश्रण से यह मानव देह बनी हुयी है।

*सह-आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.016

कबीरदास जी भी एक जगह संकेत करते हैं कि -

पाँच तत्व का बना पिंजरा,
जा मैं बोल रही मैना।
कुछ लेना न देना मगन रहना आदि।

शरीर की संरचना दो रूपों में की गयी है -

1. बाह्य संरचना
2. आन्तरिक संरचना

शरीर में अवस्थित इन्द्रियाँ -

पाँच कर्मेन्द्रियाँ -

1. वाक् (वाणी)
2. पाद (पैर)
3. पाणी (हाथ)
4. पायु (गुदा)
5. उपस्थ (जननेन्द्रिक)

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ -

1. चक्षु (आँख)
2. श्रवण (कान)
3. नासा (नाक/घ्राण)
4. रसना (जीभ)
5. त्वक् (त्वचा)

पाँच वायु -

1. प्राण
2. अपान
3. व्यान
4. उदान
5. समान

अन्तः करण को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिसे अन्तः करण चतुष्टय भी कहते हैं, जो इस प्रकार है -

1. मन
2. बुद्धि
3. चित्त
4. अहंकार

श्री रामचरितमानस में भी लिखा है -

परम प्रेम पूरन दोऊ भाई।
मन बुद्धि चित्त अहमति बिसराई।।
(2/241/1)

अर्थात् जहाँ प्रेम होता है वहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का निर्मलीकरण होता है। मन के बारे में श्री मदभगवद्गीता में भी कहा गया है कि -

''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः''

अर्थात् मन ही सभी के बंधन और मुक्ति का कारण (हेतु) है। संगीत के माध्यम से मन को एकाग्र करके विषयों से उन्मुख हुआ जा सकता है, अन्तः करण को शुद्ध किया जा सकता है।

संगीत कला मन को स्थिर करके परमात्मा से जोड़ने के लिए उपयोगी कला के रूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त है।

मन के द्वारा विशिष्ट दिशा में विकसित क्रियाओं को उनके साहचर्य रखने वाले नियम व सिद्धान्तों के संकलन से अलग-अलग नाम दिए गए हैं। जैसे- श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से जीवन के नैतिक मूल्यों का निर्धारण करके प्रत्येक कार्य के परिणाम सुख-दुःख के प्रति किए गए तर्क को 'दर्शनशास्त्र' आदि से परिभाषित करते हैं। उपर्युक्त विषयों के मनन-चिंतन व मंथन की प्रक्रिया को ''मनोविज्ञान'' की संज्ञा दी गई है।

वैदिक काल में मनुष्य द्वारा सम्पन्न होने वाली प्रत्येक सात्विक क्रिया या रचना को कला के नाम से सम्बोधित किया गया है। भौतिक तथा आध्यात्मिक संसाधनों की सम्पूर्ति के लिए अन्तःकरण से उत्पन्न समर्थ कलाओं का व्याख्यान किया गया है।

मानव के कृतित्व व व्यक्तित्व से सम्पन्न होने के ही कारण विशिष्ट रचना कलाकृति कहलाती है जो अपने प्रारम्भ काल में आनन्द व संतोष का कारण व अवसान के समय रसोत्पत्ति का कारण बनती है। शरीर और कलाओं का सदा से ही अभेद रहा है। ललित कलाओं में अग्रगण्य होने के कारण संगीत में निहित लालित्य का अर्थ एवं उद्देश्य मानव के मन मस्तिष्क को आकृष्ट करना तथा उसमें तल्लीन हो जाना ही मानव मात्र का प्राप्तव्य है।

संगीत के द्वारा अहंकार शून्यता -

''सकल गुण भूषा च विनय:'' अर्थात् सभी गुणों का भूषण विनय है। विनय शब्द अहंकार का विपरीत शब्द है। संगीत शब्द में जो सम् उपसर्ग है वह आत्मबोध का द्योतक है। जब व्यक्ति आत्मबोध की तरफ अग्रसर होता है, तो अहं का अभाव हो जाता है। समरूपता एकरूपता आदि भाव संगीत के द्वारा मन में उत्पन्न होने लगते हैं।

संगीत के प्रभाव में आकर मानव विशेष व्यवहारों का प्रदर्शन करता है। जिससे उसकी मनोवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। संगीत की इसी शक्ति का अनुमान लगाकर आधुनिक या वर्तमान काल में चिकित्सा पद्धति का विकास हो रहा है। मानव देह में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं -

1. चिन्तन शक्ति
2. कल्पना शक्ति
3. सम्वेदना शक्ति

उपर्युक्त शक्तियाँ अदर्शित है क्योंकि यह मन को केंद्रित करके विद्यमान होती है। वर्तमान में हम देखते हैं कि संगीत चिकित्सा का प्रयोग बहुत मात्रा में हो रहा है। चिकित्सक भी इसको बताते है कि यह अत्यन्त लाभप्रद है। संगीत चिकित्सा का समानार्थक भाव ही है अन्त: करण शुचिता। जब अन्त:करण विशुद्ध रहेगा तो रोगी स्वभाविक रूप से स्वस्थ, प्रसन्न रहेगा।

षट् विकारों का शमन -

षट् अर्थात् छ: विकार जो शरीर की आन्तरिक संरचना के अन्तर्गत आते हैं। ये छ: विकार लक्ष्य प्राप्ति में बाधक हैं, छ: विकास अधोलिखित हैं-

1. काम
2. क्रोध
3. लोभ
4. मोह
5. मद
6. मत्सर

उपर्युक्त छ: विकार युवावस्था में अधिक मन को प्रभावित करते हैं। उसी समय मनुष्य को सकारात्मक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यह सकारात्मक ऊर्जा संगीत के द्वारा अल्प प्रयास में ही प्राप्त हो जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन भगवान कृष्ण से प्रश्न करते हैं -

''चंचलं हि मन: कृष्ण:'

अर्थात् मन अत्यन्त चंचल है इसको वश में करने का क्या उपाय है तब भगवान उत्तर में कहते हैं कि -

असंशयं माहाबाहो, मनो दुनिग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात् इसमें कोई संदेह नहीं है कि मन चंचल है। किन्तु निरन्तर अभ्यास से यह असम्भव कार्य सम्भव किया जा सकता है। अर्थात् मन को अभ्यास के द्वारा एकाग्र किया जा सकता है। वह अभ्यास उदात्त कलाओं का भी हो सकता है। संगीत हमारे अभ्यास प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाता

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.016

है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अर्थात् अन्त:करण को शुद्ध-विशुद्ध करता है।

हमारे शरीर में अग्नि तत्व और वायु तत्व विद्यमान हैं उसी के द्वारा नाद की उत्पत्ति होती है। संगीतरत्नाकर में लिखा भी है-

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्नि संयोगात्तेन नादोऽभिधीयते।।

नाद शब्द में जो 'न' है वह प्राण वायु का वाची है और 'द' वह अग्नि तत्व का, इन्हीं दोनों से मिलके नाद बना है नाद संगीत का मूल है और अन्त:करण शुद्धि का हेतु भी है।

संगीत की उत्पत्ति में नाद के बाद जो हेतु है वह श्रुति है। नान्यदेव के अनुसार-

श्रुतिः श्रयूत इत्येवं, ध्वनिरेषोऽभिधीयते।

अर्थात् विशेष प्रकार की जो ध्वनि जो सुनी जा सकती है। श्रुति कहलाती है। श्रुति को श्रवण इन्द्रिय (कान) के द्वारा सुना जाता है जो अन्त:करण से होते हुए इन्द्रिय का विषय बनती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संगीत, नाद से या श्रुति से उत्पन्न है जो हमारी अन्तः संरचना को विशुद्ध बनाता है।

निष्कर्ष -

सात्विक, राजस और तामस इन त्रिविध बुद्धि एवं विचारों का सम्मिश्रण मानव शरीर की आन्तरिक संरचना में परिलक्षित होता है। मन को भी दो भागों में बाँटा गया है। एक सूक्ष्म मन तथा स्थूल मन। मन में सुविचार तथा कुविचारों का आवागमन होता है। यह नैसर्गिक है। सुविचारों में वृत्ति तथा कुविचारों से निवृत्ति, संगीत कला के माध्यम से सहज रूप में हो जाती है।

विषयों का चिंतन हमें विषयी बनाता है किन्तु कलाओं के चिंतन व अभ्यास से मनुष्य की वृत्तियाँ ऊर्ध्वगामी होती है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की सृष्टि संगीत सृष्टि के समक्ष लघु हो जाती है। संगीत अत्यन्त व्यापक व गुरूतर विद्या है। सर्वोत्कृष्ट ललित कला के रूप में स्थापित है। मानव मात्र की प्रतिष्ठा संगीत के माध्यम से सकारात्मक ऊर्जा में परिणत हो जाती है।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् हरिनारायण सिंह 'हरीश' लिखते हैं कि -

संगीत हमारी वासनात्मक वृत्तियों को पवित्रता का जामा पहनाता है।

संदर्भिका -

1. गर्ग, डॉ. उमा, संगीत का सौन्दर्यबोध, 2000
2. दास गुप्ता, डॉ. लिपिका, संगीत में भुक्ति-मुक्ति, 2010
3. दास, रामसुख, गीता-प्रबोधिनी
4. गोस्वामी, तुलसीदास श्री रामचरितमानस
5. शर्मा, डॉ. मृत्यंजय, संगीत मैनुअल, 2011

तबला वादन और शिक्षण में कायदों का महत्व, विशेषता, प्रकार और स्वरूप

प्रो. प्रवीण उद्धव*, सदानंद प्रजापति**

परिचय

तबला, उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक प्रमुख अवनद्ध वाद्ययंत्र है, जो परंपरा, रचनात्मकता और सांगीतिक लयवद्धता का अनूठा संगम प्रस्तुत करता है। तबला वाद्य अपनी विस्तृत वादन सामग्रियों, शैली, घरानों के लिए प्रतिष्ठित वाद्य के रूप में स्थापित है। तबला वादन के लगभग 350 वर्षों की परंपरा अपने भीतर कई रंग रूप को समेटे हुए एक नई ऊंचाई की ओर अग्रसर है। तबला वाद्य एक तालवाद्य है किन्तु यह सिर्फ ताल प्रदर्शित करने तक ही सीमित नहीं रहा यह काव्यात्मक रचना, सांगीतिक एवं लयांग को बखूबी स्थापित और सौंदर्य के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम है। इस वाद्य की असीमित नाद उत्सर्जन क्षमता के कारण यह वाद्य अन्य सभी भारतीय एवं पाश्चात्य ताल वाद्य अपितु स्वर वाद्य और गायन शैलियों का अनुशरण और संगत करने में सक्षम है। तबला वाद्य की विशेषता न केवल इसके स्वरूप आकार-प्रकार में है अपितु नादात्मक उत्सर्जन के कारण यह वाद्य अत्यंत विशिष्ट है। इस वाद पर निरंतर रचनात्मक दृष्टि रखने वाले कलाकारों ने इसमें विशेष योगदान दिया है। निरंतर रचनात्मक और अनुसंधान करने से वाद्य स्वयं जीवंत होकर नादात्मक रूप से गुणी रचनाकारों का मार्ग प्रशस्त करता है। जिसके फल स्वरुप वाद्य के अनुरूप वादन प्रकार, शैली और निकास विकसित हो पाते हैं। पखावज तबले का पितृ साज है जिसमें व्यवस्थित काव्यात्मक रचना प्रकार तबला वाद्य पर विकसित हुआ। कायदा न केवल तबले का एक मौलिक वादन प्रकार है बल्कि यह एक अपने आप में संपूर्ण विषय है। कायदों की रचना तबले के प्रमुख वर्णों से हुई एवं कायदा इस वाद्य की विशेषता को भी दर्शाते हैं। तबले के सभी घरानों में कायदे को प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया जाता है। विस्तारशील रचनाओं में कायदा एकमात्र ऐसी रचना प्रकार है जिसमें भाषाई गुण, नाद विविधता, असीमित विस्तार क्रिया, घरानों की विविधता, रचनात्मकता, खाली भरी का तत्व, ताल का दिग् दर्शन, कविता पाठ का अनुभव प्रारंभ से अंत तक होता है, जो अन्य किसी रचना प्रकार में इतनी प्रबलता से प्रस्तुत नहीं होता है।

मूल शब्द - कायदा, विस्तार क्रिया, कायदा प्रकार

शोध निर्देशक : वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शोध छात्र : वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.017

तबला शिक्षण में कायदों का प्रयोग

किसी भी कलात्मक विधा का अध्ययन करने के पूर्व उस विधा के मूल तथ्यों को समझना अत्यंत आवश्यक है मूल का अर्थ यहां प्रकृति और व्यक्तित्व से है जब किसी विद्या का अध्ययन गहराई से करना हो तो हमें उसकी मूल प्रकृति को सर्वप्रथम समझना अति आवश्यक है जिससे हम सरलता से उस विधा को आत्मसाद कर उसके योग्य और अनुकूल बनकर उसे एक कलात्मक स्वरूप प्रदान कर सकते हैं और नए तथ्यों और शैलियों को विकसित कर सकते हैं। तबला वादन एवं शिक्षण में कायदे की भी कुछ ऐसी ही भूमिका है जिस प्रकार किसी भी भाषा की ध्वनि उत्सर्जन वर्णमाला और भाषाई गुना यानी स्वराघात, उच्चारण, स्वर का उतार चढ़ाव को समझे बिना उस भाषा के वास्तविक लहजे को आत्मसात नहीं कर सकते है। इस प्रकार तबला वाद्य की मूल प्रकृति को समझने के लिए एवं तबला वाद्य के अनुकूल हस्त संचालन, निकास, तन्त्र के द्वारा साधक तबला वाद्य पर काव्यात्मक रंग बिखेर सकता है जिसके लिए सर्व उपयुक्त रचना कायदा ही है कायदों का निर्माण वाद्य उपयुक्त नादों के द्वारा विशिष्ट निकास एवं शब्दबंधो का प्रयोग होता है जिससे साधक अपने वादन की कला को आगे ले जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कायदों के द्वारा तबला वादक अपने हस्त को संचालित कर वाद्य को उपयुक्त बनाता है। इसीलिए हमारी तबला वादन की परंपरा में कायदों अभ्यास की अनिवार्यता रखी गई है। जिसे कुछ विद्वान अभ्यास के लिए विशेष कायदों का प्रयोग करते हैं जिन्हें विशेष तौर पर अभ्यास के लिए बनाया गया है। पंडित सुधीर माईणकर जी ने अपनी पुस्तक तबला वादन में निहित सुन्दर में यह लिखा है की ''प्रारंभ में कायदों का निर्माण तबला सोलो वादन के लिए नहीं हुआ होगा, साथ संगत में जो शब्द प्रयोग किए जाते हैं उन शब्दों में स्पष्ट, वजन आए उन शब्दों में सौंदर्ययात्मक नादो का निर्माण हो इसलिए कुछ खंडबद्ध रचनाओं का निर्माण किया गया।'' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि कायदों के अभ्यास से वर्णों में स्पष्ट और गति तथा नाद में गोलाई और गहराई आती है। हर घराने में अभ्यास हेतु अलग-अलग कायदों का निर्माण किया गया है जो कभी-कभी किसी विशेष घराने के लिए भी हो सकते हैं। वही प्रस्तुतीकरण के लिए भी काव्यात्मक कायदे विभिन्न तालों, विभिन्न छंदों में विभिन्न घरानों की विशेषताओं के साथ बांधे गए है। जिनके अभ्यास से हस्त संचालन में सिद्धि और घरानों की विशेष नाद शैली, ध्वनि उत्सर्जन, काव्यात्मक पक्ष तथा रचनाओं में सृजनशीलता स्वत: ही साधक के अत: मन में स्थापित हो जाती है।

कायदों की विशेषता

सभी घराने में कायदे के अलग-अलग स्वरूप एवं मूल्य हैं जिनका उपयोग तबला स्वतंत्र वादन के साथ-साथ, संगत में भी प्रचुर मात्रा में किया जाता है। कायदा एक विस्तारशील रचना प्रकार है जिसे वादन क्रम में मध्य मध्य लय में बजाया जाता है फायदे के लिए सर्व उपयुक्त मध्य लय को माना गया है यह दो पद या चार पदों की एक पूर्ण रचना होती है। यह सूत्र बद्ध रूप प्रस्तुत होती है परंतु इसका विस्तारण असीमित है। जिस प्रकार शेरो शायरी और कविताओं में तुक बन्द, काफिया-रदीफ़ का प्रयोग होता है उसी प्रकार कायदों में अन्यपदिय शब्दों का इनमें काव्यात्मक बोध से उत्पन्न होता है, जिसे खाली भरी के माध्यम एक पूर्ण बंदिश के रूप में देखा जाता है से प्रस्तुत किया जाता है। कायदों का सबसे ज्यादा विस्तारण पश्चिमी घरानों में हुआ

क्योंकि सर्वप्रथम विस्तारशिल रचनाओं में कायदे का समावेश तबले में दिल्ली से शुरू हुआ होगा लगभग 1850 में सादिक अली द्वारा लिखित ग्रंथ शर्मा-ए-इशरत में पृष्ठ संख्या 143 पर दिल्ली घराने के कायदे लिखित है। पूरब बाज में बाकी की अन्य पूर्ण संकल्पित रचना जैसे गत, गत परन, चक्रदार, उठान, टुकड़ों आदि पर विशेष तौर पर कार्य किया। तबला वाद्य में विस्तार क्रिया में अत्यंत प्रभावशाली है जिसका कारण है की सभी काल में तबला वादकों के वादन में लगभग 70 से 80 प्रतिशत हिस्सा विस्तारक्षम रचनाओं का है जिसमें कायदा बहुत बड़ी भूमिका रखता है।

कायदे को जिस प्रकार राग संगीत में किसी विशेष राग में बंदिश को बांधकर उनमें स्वर विस्तार वादी-संवादी आदि द्वारा बंदिश का विस्तार किया जाता है उसी प्रकार कायदे में भी कुछ मुख्य वर्ण या बोल समूह को विशेष प्रयोग द्वारा कायदों का विस्तारण किया जाता है। हर घराने में कायदे का स्वरूप और मूल्य अलग-अलग है कुछ घराने में कायदे छोटे होते हैं तो कहीं दीर्घकर के होते हैं कहीं मुलायम बोल समूहों से बंधे हुए होते हैं तो कहीं जोरदार बोल समूह से इस प्रकार कायदों का विराट स्वरूप तबला वादन में देखने को मिलता है। कायदे को अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाओं से परिभाषित किया है -

"वह बोल समूह जिसकी रचना ताल के विभाग खाली भरी के आधार पर हुई हो और जिसके बोल का विस्तार भली-भांति हो सके उसे कायदा कहते हैं।" (पंडित नंदलाल शर्मा पथिक, तबला विज्ञान)

"कुछ नियमित और सुनिश्चित बोल के समूह का नाम कायदा है।" (पंडित सत्यनारायण वशिष्ठ)

"कायदा तबला वादन का वह महत्वपूर्ण प्रकार है जिसमें मुख्य और पहला अक्षर सवार होता है तथा मुख के बोलो का ही विस्तार जिसमें विशिष्ट कर्म आवश्यक होता है जो खाली भरी तथा खंड युक्त होता है।" (पंडित अरविंद मूलगांवकर, तबला)

"कायदा सुनियोजित एवं सुनिश्चित व्यंजन प्रधान शब्द या शब्द समूह और उसके सहायक स्वरमय अंतिम शब्द की बनी हुई विस्तारछम खंडबद्ध खाली भरी युक्त और कलाकार एवं कला पूर्ण ऐसी रचना जिसकी प्रस्तुति साधारणतया मध्य लय में होती है कायदा कहलाती है।" (पंडित सुधीर माईणकर, तबला वादन कला एवं शास्त्र)

कायदा एक सुव्यवस्थित और संरचित रचना होती है, जो ताल, तकनीक और काव्यात्मकता को विकसित करने में सहायक होती है। यह एक ऐसा माध्यम है, जिसमें एक तबला वादक अपनी लयबद्ध समझ, अंगुलियों की तकनीक और रचनात्मकता को साधता भी है और प्रस्तुत करता है। कायदों के अभ्यास से तबला वादक के सांगीतिक संस्कार तो सुदृढ़ होते ही हैं और बौद्धिक क्षमता भी विकसित होती है। तबला वादन में कायदों में एक निश्चित ढाँचे के भीतर रचनात्मकता और विस्तार की असीम संभावना होती है। अन्य बंदिशों जैसे पेशकार, टुकड़ा और गती के विपरीत, कायदा एक व्यवस्थित रूप से विकसित होने वाली संरचना होती है।

कायदों में संगठित विस्तार क्रिया

कायदे का मुख्य गुण इसका व्यवस्थित विस्तार है। इसे एक मूल संरचना और विचार के साथ से शुरू किया जाता है, जिसे विभिन्न विस्तार क्रिया पलटे आदि के माध्यम से विकसित किया जाता है। ये विस्तार सांगीतिक विचारधाराओं, विभिन्न प्रकार की गणनाओं और वादन शैली

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.017

में विविधताओं के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न घरानों में भी अलग-अलग प्रकार से विस्तार क्रिया पर बहुत कार्य हुआ है खास तौर पर दिल्ली अजराड़ा में कायदों की विस्तार क्रिया को विभिन्न आयामों से प्रस्तुत किया गया है इनका एक सिलसिलेवर सूत्र विस्तारण किया जाता है। तबला वादन कलात्मक और काव्यात्मक प्रक्रिया है जिसमें वादक को ताल के छंद, खाली भरी के तत्व और अंत्यपदिय शब्द बंधों को बरतते हुए विस्तारण की पूर्ण स्वतंत्रता है। वहीं कुछ घरानों में लोट पलट द्वारा भी कायदे का विस्तार किया जाता है। विस्तार क्रिया वाक्य की सृजनशीलता को भी दर्शाती है। वहीं यदि विस्तार का शास्त्रवत अभ्यास किया जाए तो उसे वादक और साधक की विस्तार क्रिया और सृजनशीलता में वृद्धि होती है। कायदे का विस्तार के निम्न स्वरूप हो सकता है -

1. मुख - पहले प्रकार मुख संज्ञा से संबंधित है कायदे की बनावट उसका विस्तार करने से पूर्व जिस पद्धति से पेश किया जाता है उसे मुख कहते हैं।

2. दोहरा - दोहरा शब्द हिंदी भाषा के दोहराना क्रिया से आया है, मुख की शुरू की पंक्ति तीन बार बजाकर अथवा पुनरावृत्ति करके इसे बजाया जाए तो उसे दौहरा कहते हैं।

3. आधा दोहरा - इसमें शुरू की पंक्ति के कुछ अक्षर तीन बार बजाएं जाते हैं।

4. विश्राम - विश्राम मतलब विश्रांति, इससे मुख में शुरू के अनेक अक्षर बजाकर एक दीर्घ विश्रांति ली जाती है व उस विचार का आगे विस्तार किया जारी रहता है।

5. आधा विश्रांति - इसमें विश्राम के शुरुआत में आधे अक्षर बजाने के बाद विराम होता है।

6. पलटे या बोलबांट - इसमें मुख के शुरू के अक्षर से कायदा का विस्तार किया जाता है।

7. बल पेंच - पलटे के कुछ आड़ या अनवट पलटे करने पर उन्हें बल पेच कहा जाता है।

8. तिहाई - इसमें मुख के बोलो का उपयोग करके अंत में छोटी सी पंक्ति तीन बार बजाकर कायदे समाप्त करते हैं कई बार इन दोनों का उपयोग करके चक्करदार तिहाई से कायदे का समापन किया जाता है।

लयबद्ध अनुशासन और कल्पनाशीलता

कायदा लयबद्ध अनुशासन को बनाए रखते हुए वादक को कल्पनाशीलता की स्वतंत्रता देता है। इसमें नियमबद्ध ढाँचे का पालन करना आवश्यक होता है, लेकिन साथ ही वादक को अपनी शैली और गति के अनुसार नए-नए विस्तार प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता भी होती है। कायदा एक विस्तारशील रचना होने के कारण इसमें कल्पना शीलता की आवश्यकता होती है जिसमें कायदे के रूप में एक तालाकार पूर्ण, लयबद्ध रचना को एक विचार के रूप में स्थापित करने के बाद कलाकार अपनी कल्पना शक्ति और सृजन शक्ति से सुंदर आकृति का निर्माण करता है जिसमें विभिन्न छन्द, गति, आकार प्रकार का समावेश होता है।

कायदों में तालबद्ध संतुलन

वैसे तो तबले के सभी वादन प्रकार तालबद्ध एवं संतुलित होते हैं तथा परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से ताल की क्रियाओं से सम्बन्धित होते हैं किंतु ताल की खंड लय के विशेष आकृति कायदे को अन्य रचनाओं से विशिष्ट बनाती है द्विपदी होने के कारण इनमें काव्यात्मक दिशा विशेष तौर पर देखने को मिलता है। कायदे में तालबद्ध संतुलन (तीलजीउपब इंसंदबम) अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। वादक को यह सुनिश्चित करना होता है

कि मूल मुखड़ा और उसके पलटे (विविधताएँ) ताल की संरचना को बनाए रखते हुए प्रस्तुत किए जाएँ। तबला वादन की एक प्रदीर्घ परंपरा है जिसमें तबले के विद्वान रचनाकारों ने तालांग को दर्शाने वाले विशिष्ट कायदों की भी रचना की है जिसके वादन और पढ़न्त में ताल का स्वरूप दिखाई देता है।

उदाहरण के लिए झपताल का यह कायदा ही झपताल की आकृति बनता है -

धाती धागे धिना गिना

धाती धागे धिना गिना

धाती धागे धिना गिना

कायदों में विविधता

तबला वाद्य और वादन की विशेषता और समृद्धि का आभास तबला वादन में प्रयुक्त कायदे की विविधता से किया जा सकता है। जितनी अधिक विविधताएँ होती हैं, उतना ही वादन रोचकता, काव्यात्मक बोध, संभावनाएं बनती है। तबला वादन में कायदे विभिन्न लय में होते हैं कुछ कायदे मध्यलय में बजाए जाते हैं वहीं कुछ तेज गति (द्रुत लय) में प्रस्तुत किए जाते हैं।

कायदे के प्रकार

कायदों के विभिन्न प्रकार दृष्टिगत है, जो उनकी संरचना, गति और वादन शैली पर आधारित होते हैं। मुख्य रूप से कायदे निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित किए जा सकते हैं -

कायदा (साधारण संरचना)

मूल यह प्राथमिक कायदा होता है, जिसमें बोलों के साथ सीधे-सीधे विस्तार किए जाते हैं। यह शिक्षार्थियों के लिए आदर्श होता है, क्योंकि यह ताल और तकनीक की समझ विकसित करने में सहायक होता है। मूल रूप से यह कायदा शिक्षार्थी को वर्णों की समझ और हाथ के संचालक को संतुलित करने के लिए प्राथमिक तौर पर सिखाए जाते हैं बोलता है इनका उद्‌देश्य अभ्यास में उचित नाद, निकास, रचना प्रकारों में स्पष्टता को बनाने और लय ताल को संस्कारित करने के लिए किया जाता है।

कायदा (जटिल संरचना)

इस प्रकार के कायदे में कठिन ताल संरचना और जटिल बोलों का समावेश होता है। इसमें विभिन्न प्रकार की गणनाओं और तकनीक का प्रयोग किया जाता है। इन कायदों में अनवट कायदे, विभिन्न जातियों के कायदे, विशिष्ट निकास, विभिन्न गति व छंद आधारित कायदे, गत कायदे, आदि सम्मिलित हैं जो प्राय मंच प्रदर्शन साथ संगत में पूर्व में किए गए कठिन अभ्यास के बाद प्रस्तुत किए जाते हैं यह काव्यात्मक रूप से अति विशिष्ट होते हैं उनकी संरचना में एक विशेष आकृति परिलक्षित होती है।

कायदों का वर्गीकरण

कायदों का वर्गीकरण के संबंध में बहुत से मत प्रचलित हैं किंतु विस्तारशील बोल, बोल बन्धों, शब्दाकृतियों के आधार पर निम्न वर्गीकरण हो सकते हैं -

1. एक स्थापित बोल बन्ध के कायदे - इस प्रकार के कायदों में एक ही स्थापित बोल जैसे तिट, तिरकिट, त्रक, धाति, आदि शब्द बन्धों और स्वरमय शब्दों से मिलकर बनते है, जैसे धातिट, धा तिरकित उदाहरण के लिए दिल्ली घराने का प्रचलित कायदा-

धा तिटधा तिटधाधा तिट धागे तिनागिना

2. दो स्थापित बोल बन्धों के कायदे - इस प्रकार के कायदों में दो स्वतंत्र बोलो जैसे तिट और तिरकित, ती और तिरकिट, त्रक और धिट आदि का प्रयोग होता है जिसमें व्यंजन प्रधान शब्द और स्वरमय शब्दों से मिलकर कायदों की रचना होती है उदाहरण दिल्ली घराने का एक

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.017

प्रसिद्ध कायदा जिसमें धाति और तिरकिट का सुंदर मिश्रण किया गया है-

धाति धागे नाधा तिरकिट धाती धागे तीन गिना

3. बहु विस्तारित व स्थापित शब्द बंदों के कायदे - इस प्रकार के कायदों में दो से अधिक स्थापित बोल, स्वरमय व्यंजनात्मक नादयुक्त व विस्तारशील बोल बन्धों का प्रयोग जिन कायदों में होता है। उदाहरण के लिए उस्ताद अमीर हुसैन खान साहब का एक कायदा-

धाऽघेघे तकधिंऽ ऽऽधिर धिरकिट
धाधाघेघे तकधिन तिनाकिन तागेतिट

विभिन्न अंग के कायदे

कायदे का स्वरूप उसे अन्य तबला रचनाओं से अलग बनाता है। यही कारण है की कायदे की एक विशेष प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत किया जाता है इसका आकार और प्रस्तुतीकरण अन्य सभी विस्तारशील रचनाओं से भिन्न है। विद्वानों ने अपनी सृजनशीलता और रचनात्मकता का पूर्ण प्रयोग कायदे में किया है रचनाकार की दृष्टि से कायदा एक विशेष रचना है तथा कलात्मक और सांकेतिक दृष्टि से रचनाकारों के आकर्षण का केंद्र भी है जिससे कायदे की समृद्धि और उसमें निहित असीमित संभावनाओं का आभास होता है। विद्वानों ने जहां विभिन्न जातियों, घरानों, निकास, छंद आदि में कायदे लिपिबद्ध किए हैं वही विशेष अंग के भी कायदे देखने को मिलते हैं जैसे लग्गी अंग के कायदे, परन अंग के कायदे, रेलांग के कायदे आदि।

निष्कर्ष

कायदा तबला वादन का अतिविशिष्ट वादन प्रकार है, जो वादक को अनुशासन, लयबद्ध निपुणता, तकनीकी और रचनात्मकता को यह उनकी रचनात्मक क्षमता को भी प्रकट करता है और सांगीतिक सूज-बूझ को बढ़ाते हैं। कायदे के विस्तार से वादक अपनी सृजन शक्ति को बढ़ाता है और लय आत्मसात तथा प्रदर्शित करने में सहायक सिद्ध होता है। इसकी विशेषता इसके संगठित विकास, तालबद्ध अनुशासन और विविधतापूर्ण स्वरूप में निहित है। इसके विभिन्न प्रकार इसे एक संपूर्ण कलात्मक रूप प्रदान करते हैं। खाली भरी का स्वरूप इसे एक काव्यात्मक रूप प्रदान करता है जिससे न केवल इसकी पूर्णता स्थापित होती है वही एक उद्‌देश्य के साथ इसका प्रस्तुतिकरण और विस्तारण किया जाता है। तबला वादकों के लिए कायदा न केवल तकनीकी अभ्यास का माध्यम है, बल्कि ताल के सौंदर्य को स्थापित कर सकता है। यही कारण है कि तबला की परंपरा में कायदा एक अनिवार्य, मूल्यवान, सुंदर और काव्यात्मक संरचना है। जिसके विराट स्वरूप का दिग्दर्शन कलाकार प्रतिदिन कर रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. माईणकर, पंडित सुधीर, तबला वादन कला एवं शास्त्र
2. मुगांवकर, पंडित अरविंद, तबला
3. प्रो. प्रवीण उद्धव, तबला काव्य के रूप रंग
4. प्रो. प्रवीण उद्धव, तबला साहित्य
5. प्रोफेसर प्रवीण उद्धव' साक्षात्कार
6. पंडित सुरेश तलवरकर साक्षात्कार'
7. श्रीवास्तव, गिरीश चंद्र, ताल परिचय भाग-3
8. शर्मा, पंडित नंदलाल, पथिक, तबला विज्ञान
9. मिस्त्री, डॉ आबान ए, पखावज और तबले के घराने एवं परंपराएं
10. शुक्ला, प्रो. योगमाया, तबले का उद्‌गम विकास एवं वादन शैलियां

ख्याल गायन में तान की भूमिका

डा. विवेक वर्मा

शोध सार

ख्याल गायन शैली ने गम्भीरता से हटकर, तान और उसको प्रकारों के विकसित रूपों को अंगीकार किया और सब गायन शैलियों पर हावी हो गई। भरतकोष में जिस तान की व्याख्या- "रागायैस्तन्यते प्राय: स्वरास्तेतान का मता: " अर्थात स्वरों के विस्तार करते हुये राग प्रदर्शन तान कहलाता है, यही तान आज ख्याल गायन की विशेषता बन गई है। इसी तान के बारे में अभिनव गुप्त का कथन है " तेन युक्ता सम्यगाहिता: तन्यते विचित्र क्रियते प्रयोग विस्तारो यैस्ते ताना इति " अर्थात ऐसा प्रयोग जिसमें राग के विस्तार में विचित्रता के प्रयोग किये जायें तान कहलाता है। सरल ढंग से तान की परिभाषा की जाये तो संगीत से प्रयुक्त लयबद्ध स्वरो के संयोग से एक सुन्दर लड़ी बन जाती है जो चमत्कारिक एवं वैचित्र्य प्रभाव उत्पन्न करती है इसे तान माना गया है। यह तान ख्याल गायन के लिये अत्यन्त उपयोगी तथा आकर्षक सिद्ध हुई। ख्याल शैली हर दृष्टि से सृजनात्मक तत्वों को प्रेरित करने के उद्देश्य से बनी है।

संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,चण्डीगढ़ ख्याल, गायन, शैली, तान, राग,स्वर

आधुनिक समय से तान ख्याल गायन शैली के प्रदर्शन का सर्वश्रेष्ट माध्यम माना जा सकता है। वैदिक काल से आज तक के समय में ऋचा गान, जाति गान, प्रबन्ध गान, ध्रुपद गान तथा खयाल गान आदि अनेकानेक गायन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ।समय के साथ कई शैलियाँ लुप्त हुई और कई शैलियाँ सृजनात्मक स्वरूप लेकर विकसित हुई परन्तु आधुनिक समय में ख्याल शैली सर्वाधिक प्रचलित हुई है। इसका एक प्रमुख कारण है कि ख्याल गायन ने हर शैली की विशेषताओं को समाहित करते हुये तान को विकसित किया। यद्यपि प्राचीन काल में भी तान को यक्षतान अथवा भरतकाल में मूर्च्छना के षाडव, औड़व भेदों को तान मानते हुये इसकाअस्पष्ट प्रचलन रहा है परंतु आज ख्याल गायन में इसका स्पष्ट और स्वतन्त्र स्वरूप परिलक्षित होने से यह ख्याल शैली की सहज परिचायक बन गई है। अत: जहाँ धुपद धमार आदि गायन शैलियों में, आलाप, मींड, सूत तथा लयकारियों व बोल बांट की प्रधानता रही,वहीं ख्याल गायन शैली ने गम्भीरता से हटकर, तान और उसको प्रकारों के विकसित रूपों को अंगीकार किया और सब गायन शैलियों पर हावी हो गई। भरतकोष में जिस तान की व्याख्या- "रागायैस्तन्यते प्राय: स्वरास्तेतान का मता: "1 अर्थात स्वरों के विस्तार करते हुये राग प्रदर्शन तान कहलाता है, यही तान आज ख्याल गायन की विशेषता बन गई है। इसी तान

संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,चण्डीगढ़

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.018

के बारे में अभिनव गुप्त का कथन है " तेन युक्ता सम्यगाहिता: तन्यते विचित्र क्रियते प्रयोग विस्तारो यैस्ते ताना इति "2 अर्थात ऐसा प्रयोग जिसमें राग के विस्तार में विचित्रता के प्रयोग किये जायें तान कहलाता है।

सरल ढंग से तान की परिभाषा की जाये तो संगीत से प्रयुक्त लयबद्ध स्वरो के संयोग से एक सुन्दर लड़ी बन जाती है जो चमत्कारिक एवं वैचित्र्य प्रभाव उत्पन्न करती है इसे तान माना गया है। यह तान ख्याल गायन के लिये अत्यन्त उपयोगी तथा आकर्षक सिद्ध हुई। ख्याल शैली हर दृष्टि से सृजनात्मक तत्वों को प्रेरित करने के उद्देश्य से बनी है। हिन्दी मुहावरा कोष के अनुसार[3]

ख्याल बांधना- कल्पना करना

ख्याल में रहना-याद में रहना

ख्याल रखना -ध्यान में रखना

ख्याल से उतर जाना- भूल जाना,

ध्यान से हटना ख्याली पुलाव पकाना-बिना अर्थ की बातें सोचना

अर्थात ख्याल का सीधा सम्बन्ध ध्यान अथवा कल्पना से लिया गया है। ख्याल की अन्य परिभाषाओ अथवा व्याख्याओं में भी ख्याल के अर्थ अनुमान,अंदाज,अटकल,विचार,भाव सम्मति, प्रवृति, भावना, मति, राय, स्मृति, संज्ञा, अंदाज, एक कविता आदि माने गये हैं, जिससे एक विशिष्ट प्रकार की सोच और कल्पना का आभास होता है और नयी नयी सृजनात्मक गतिविधियों को प्रेरित करता है। इस दृष्टि से तान को ख्याल का एक सृजनात्मक ऐसा विशिष्ट अंग माना जाता है जो स्वरों के अनेकानेक ढंगों के प्रयोग से तथा लयबद्ध होकर नवीनता तथा सृजनात्मकता को स्थापित करता है। यही कारण है कि आज के युग में 'तान' वस्तुत: ख्याल की विशिष्ट पहचान बन चुकी है जो सृजनात्मकता के अनेको रास्ते खोल ख्याल गायन को अत्यन्त चमत्कृत व सुन्दर रूप प्रदान करती है। तान ख्याल शैली को सुन्दर व मनमोहक बनाने वाले तीन प्रमुख घटकों - आलाप, बन्दिश तथा तान में से अत्यन्त प्रभावशाली घटक माना गया है। वस्तुत तान का स्वरुप बन्दिश और आलाप दोनों में देखा जा सकता है। अत यह ख्याल शैली के हर घटक को संचालित व प्रभावित करती है। ख्याल में प्रयोग होने वाले, बहलावा, इरादा, बोल आलाप, सरगम, आकार की तान, बोल तान इन सब रंजक तत्वों में तान की भूमिका अथवा उसकी स्पष्ट योजना परिलक्षित होती है।

ख्याल गायन में जब ले द्रुत लय की तरफ बढ़ती है तो तान का आनन्द देखते ही बनता है। गायक की तैयारी तान से ही आंकी जाती है और जब वह कल्पनानुसार तानों के विविध प्रकार अपनी क्षमता व सोच के अनुसार करता है तो तान एक चमत्कारपूर्ण स्वरूप को स्पष्ट करती हुई अद्भुत क्षमताओ का परिचय देती है। आवर्तन की दृष्टि से बड़े ख्याल का क्षेत्र बड़ा होता है, जिसमें लम्बी-लम्बी तानों को लिया जाता है। इसके विपरीत छोटे ख्याल मे जहाँ आवर्तन या क्षेत्र छोटा होता है वहाँ तेज लय की तानों द्वारा तथा उसके तानों को विभिन्न प्रकारों द्वारा सम पर आते हुये वैचित्र्य के भावो को प्रदर्शित किया जाता है। विभिन्न लयकारियों युक्त तानों का प्रयोग तथा द्रुत गति में तानों का प्रयोग, गायक की कण्ठ क्षमता, सृजनशीलता, अभ्यास, कल्पना एवं बुद्धिमता इन सब पर निर्भर करता है। गायक अपनी साधना से सरल भाव तानों का प्रयोग करते हुये अपनी गायकी को भाव पराकाष्ठा तक ले जाता है। बुद्धिमान गायक तानों के प्रयोग को राग के प्रकृति और चलन के अनुसार करते हैं जिससे सही भाव - निष्पत्ति होती है। इस दृष्टि से श्रृंगार रस के रागों

में सपाट और मूर्कीदार तानों का प्रयोग सही रहता है जबकि दरबारी, भैरव, मेघ आदि गम्भीर रागों में मूर्कीदार तानों की अपेक्षा गमकयुक्त तानों का प्रयोग अच्छा रहता है।

तान के मुख्य रूप से दो प्रकार मानें गए हैं -

1. सरलतान- इसे शुद्ध तान भी कहा जाता है।
2. कूट तान - इस तान में स्वरों का चलन वक्र रूप से होता है।

इन्ही तानों के प्रकारों में अनेकानेक तान के प्रकार जन्म लेते हैं जैसे अलंकार पर आधारित अलंकारिक तान, बन्दिश के बोल पर आधारित बोल तान, जिसमे सरगम हो वह सरगम तान, सपाट तान (सीधे स्वरों से जाना व आना) आदि। विशेष बात यह है कि तानों द्वारा जो नक्शा बनाया या खींचा जाता है उसी के आधार पर ख्याल शैली के घराने स्थापित है हैं। तानों की विशेषताओ के फलस्वरूप ही विभिन्न घरानों का जन्म हुआ है। हर घराना तान के लिये अपनी विशिष्टता के आधार पर अपनी पहचान बनाये हुए है। तान की विशिष्टता थे कारण ही दिल्ली के तानरस खां, नसीर अहमद खां, ग्वालियर घराने के मुहम्मद खां, हद्दू-हस्सू खां,पटियाला घराने के तान कप्तान फतेह अली खान आदि संगीतकार अपनी और अपने घराने की छाप छोड़कर अमर हो गये हैं।

तानों के कुछ विशिष्ट प्रकारों का विवरण इस प्रकार हैं -

1.सरल तान :- इसमें स्वरों के एक छोटे से समुदाय को बनाकर उसे आगे विकसित किया जाता है।

जैसे मिया की तोड़ी में-

सारे गग रेग रेसा, सारे गग रेग मेग रेग रेसा, साग रेग मंग मंध निनि धनि,धध मेघ मेग रेसा

अर्थात एक छोटे से स्वर समुदाय को आवश्यकतानुसार बनते हुए तान को विकसित किया जाता है। यह सरल तान के अन्तर्गत है।

2. फिरत् की तान:- जब किसी एक स्वर को केन्द्र मानकर उसको बार- बार दोहराते हुये तान का विकास किया जाय तो उसे फिरत की तान कहते हैं। जैसे-राग रागेश्वरी

मग मध, मग मघ निम गम धनि, गम धनि, मग मघ मनि धनि मध मम गग रेसा निसा

उपरोक्त, तान में मध्यम स्वरों के इर्द गिर्द अन्य स्वर घूमते दिखाई देते है इसे फिरत की तान कहेंगे जहाँ एक विशेष स्वर के इर्द –गिर्द अन्य स्वर तान के रूप में व्यवहत होते हैं।

3. अलंकारिक तान- जिस तान में अलंकार की अधिक से अधिक और स्पष्ट योजना दिखाई दे वह अलंकारिक तान कहलाती है। जैसे राग अहीर भैरव में यह तान प्रदर्शित करती है-

रेरे सानि धनि सारे,गग रेसा निसा रेग,मम गग रेसा रेग मप, पम गरे गमप

उपरोक्त तान में अलंकार की स्पष्ट झलक दिखाई देने से इसे अलंकारिक तान कहा जा सकता है।

4. सपाट तान :- यह तान सबसे कठिन तान मानी मानी गई है जो राग के आरोह-अवरोह को दर्शाती है। इसमें राग के स्वर को क्रमानुसार दिखाते हुये, मंद्र, मध्य, तार आदि तीनो, सप्तकों में विचरण करके आरोह-अवरोह किया जाता है। यह तान राग में विचरण करने का एक सुलभ मार्ग तैयार करके चलने का ढंग दर्शाती है। यथा राग बिलासखानी तोड़ी में सपाट तान का यववहार इस प्रकार किया जाता है-

i. धसा रेग पध सारे गरे निध मग रेग रेसा
ii. सारे गप धसा रेग मग रेग रेनि धम गरे निध सा।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.018

5. छूट की तान- इस तान में स्वरों के कुछ स्वर समुदायो को छोड़ दिया जाता है तथा दोनो या तीनो सप्तकों में तान को दर्शाया जाता है। जैसे- विलासखानी तोड़ी में

गग रेग गरे, नि नि ध ध नि नि ध ग गरे ग गरे नि नि धनि नि ध, गग रे ग ग रे नि नि ध नि नि ध

अचरक की तान :- इसमें दानेदार प्रतीत होती है जिसमें स्वर को दो,तीन या चार बार दोहराया जाता है। जैसे-

सासा सारे, रेरे रेग, गग गप, पप पनि, निनि नि सां

यह तान का एक जटिल प्रकार है जिसमे स्वरों के क्रम पर ध्यान न देकर स्वरों के वैचित्यपूर्ण व्यवहार को आधार माना जाता है। इसमें कभी ऊँचे स्वर तो कभी नीचे के स्वरों को अदभुत रूप से

तान में प्रयोग करते हुए तान दो विकसित किया जाता है। जैसे-शुद्धसारंग में

पम पसां निसांनिरे रेसा निसा पमे घप मेप रेमरेसानिसा पम पसां निरे निसा

8. गमक की तान- इस तान में स्वरो को गमकयुक्त ढ़ंग से प्रयोग किया जाता है। ध्रुपद तथा घमार में जहाँ टिकाव के साथ स्वरों का गमक युक्त प्रयोग होता है वैसे ही द्रुत लय में गमकयुक्त स्वरों के प्रयोग से तान का विकास किया जाता है।

9. बिना दानें की तान - इन तानों को बिना दानेदार स्वरों के घुमाव को लेते हुए तान का विकास किया जाता है जैसे तिलक कामोद तथा देसी आदि रागों में तान का स्वरूप परिलक्षित होता है।

गोरखधंधा तान :- यह तान दिल्ली घराने की विशेष तान मानी गई है। इस तान के अनुसार तीन या चार स्वरों को लयबद्ध ढंग से लेटे हुए अर्थात कम से कम स्वरों में उनके परस्पर बंद विविध संयोगों से तान का विकास किया जाता है।

मुद्रिततान:- यह तान भी दिल्ली घराना की देन है। इसके अनुसार मुंह बन्द, करके तान का व्यवहार किया जाता है। दिल्ली घराने के उस्ताद चान्द खाँ इस तान को बड़ी कुशलता से लेते थे।

ख्याल गायन शैली के अतिरिक्त टप्पा, तराना अथवा ठुमरी जैसी उपशास्त्रीय संगीत की शैलियों में भी तान का उतना ही महत्व है जितना ख्याल गायन शैली का।

टप्पा गायन शैली में बन्दिश के बोल तान के सदृश्य होते हैं और न्यास व टिकाव बहुत ही कम पाया जाता है। अत: इस विधा को वही प्रदर्शित कर सकता हैं जो तान अंग को सहज रूप में कह सकते हैं और तीनो सप्तको में तान की भांति बन्दिश को घुमाने में सक्षम हो। टप्पा और मियाँ शौरी एक दूसरे से इतने पर्याय बन गये हैं की अनेक विद्वान शोरी मियाँ को ही इसका आविष्कारक मानते हैं। परन्तु शोरी मियाँके लगभग 200-250 वर्ष पूर्व भी ख्याल और टप्पा गायन का उल्लेख मिलता है।4 अष्टछाप के प्रमुख कवि कृष्णदास जिनका जन्म समय 1496 ई. है, 1511ई.में वे बल्लभाचार्य जी से दीक्षित हुए। चौरासी वैष्णव की वार्ता के अन्तर्गत कृष्णदास जी के सामने एक वेश्या के नृत्य और ख्याल टप्पा गाने की चर्चा है।5 टप्पा में विविध प्रकार की तानों का व्यवहार होता रहा है वस्तुत टप्पा गायकी में गले की तैयारी और बन्दिश को ताननुमा ढगं से सहज रूप में कहने और तीनों सप्तको में ताननुमा ढंग से बन्दिश का व्यवहार करना प्रमुख लक्षण है। यह ख्याल गायकी के गाम्भीर्य से बहुत दूर है, जिसमें छोटी -2 दानेदार तानों की, चंचल प्रकृति की तानें, लच्छेदार तानें, मुर्की,जमजमा, खटका

युक्त ताने इनका प्रयोग अधिक रहता है। तान की प्राथमिकता के कारण टप्पा का चलन मध्य से द्रुत लय में ही रहता है।

इसी प्रकार ठुमरी में तान की एक अलग ढंग की विशेषता पाई जाती है। "प्रसिद्ध ठुमरी गायिका स्व.गिरिजा शंकर चक्रवर्ती के अनुसार ठुमरी शब्द की उत्पत्ति ठुमुक और रिझाना से हुई है।[6]" ठुमक लय और रिझाना भाव' का द्ग्योतक होने के कारण ठुमरी शब्द लयकारी और भावाभिव्यंजना दोनों को व्यक्त करता है।

"ठुमरी गायकी में गीत के बोल विशेष महत्त्व रखते हैं। बोल बनाव,कहन आदि पूरव अंग की ठुमरी की विशेषताये हैं। पंजाब अंग की ठुमरी में स्वर संयोजन, स्वर वैचित्र्य पर ध्यान दिया जाता है। इसलिए पंजाब अंग की ठुमरी में मुर्की, खटके, जमजमा और छोटी -छोटी तानों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है।" इन ठुमरियों में प्राय: स्वरों के शुद्ध, कोमल व तिव्रादी रूपों को क्रमश: एक के बाद एक का व्यवहार भी स्वतंत्रतापूर्वक किया जाता है। पंजाब अंग की ठुमरी को लोकप्रिय बनाने में उस्ताद बड़े गुलाम अली खां का विशेष हाथ रहा है। यद्यपि ये ख्याल शैली के गायक थे परन्तु कठिन से कठिन तान को सरलता से कहने के कारण तथा विचित्र स्वर संयोजन के कारण इनको ठुमरी गायन में विशेष प्रसिद्धि मिली जो इनकी मुश्किल तानों को सरलता पूर्वक कहने के कारण प्राप्त हुई।7

तान वास्तव में, एक ऐसी सांगीतिक क्रिया के रूप में अवतरित हुई जिसे पाकर समस्त संगीत समृद्धि की और ही नहीं अपितु सृजनात्मक दृष्टि से एक विशेष छाप छोड़ता गया, जिसके फलस्वरूप तान के प्रयोग वाली गायन शैलियों ने नये कीर्तिमान स्थापित करते हुये प्राचीन कई गायन शैलियों को पीछे छोड़ दिया। वस्तुत:तान के महत्व से ही विभिन्न और उत्कृष्ट घराने स्थापित हुए तथा तान की साधना करते हुये तथा तान की साधना करते हुए संगीतकार मरकर भी अमर हो गये।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. भरत कोष पृ. 244
2. अभिनव भारती IV पृ.- 23 (रामकृष्ण कवि) बड़ौदा संस्करण
3. तिवारी भोलानाथ, हिन्दी मुहावरा कोष, किताब महल, इलाहाबाद
4. तैलंग कृष्ण नारायण ,टप्पा संग्रह ,पृष्ठ -115
5. शर्मा सत्यभान,पुष्टिमार्गीय मंदिरों की संगीत परंपरा,
6. शुक्ल डॉ. शत्रुघ्न,ठुमरी की उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ -274
7. शुक्ल डॉ. शत्रुघ्न,ठुमरी की उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ -274

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.019

गायन में बंदिश : शास्त्रीय अनुशासन से सृजनात्मकता तक

ललित कुमार

सार

बंदिश हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की वह मौलिक रचना इकाई है, जो राग और ताल के अंतर्गत शैलीगत, भाषिक और आलंकारिक निर्देश प्रदान करती है। यह केवल एक गाया जाने वाला गीत नहीं है, बल्कि गुरु-परंपरा, शास्त्रीय अनुशासन, राग-विकास की विधि और मंचीय प्रस्तुति का भी आधार बनती है। बंदिश का इतिहास, संरचना, शैक्षणिक महत्व और इसका योगदान, विशेषकर यह कि शास्त्रीय अनुशासन सृजनात्मकता को केवल सीमित नहीं करता, बल्कि उसे दिशा देकर उत्पन्न करता है। आलेख में पारंपरिक स्रोतों (नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर, आदि) तथा आधुनिक सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोणों के आधार पर बंदिश का विश्लेषण किया गया है। बंदिश में हो रहे परिवर्तनों और समकालीन प्रयोगों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

प्रमुख शब्द - बंदिश, राग, ताल, गायन, गुरु-शिष्य परंपरा, सृजनात्मकता, नाद-दर्शन।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन में बंदिश वह आधार है जो राग के स्वरूप, भाव और प्रदर्शन की नीति को सुरक्षित करता है। सामान्यत: बंदिश को एक गीत या कला-रचना माना जाता है जिसका बोल स्वरगत विन्यास और ताल के अनुसार समयबद्ध ढांचा होता है। किंतु इसकी महत्ता इससे कहीं अधिक है। बंदिश वह रूपरेखा है जो विधागत अनुशासन, अभ्यास की विधि, और स्वतंत्र सृजन के लिए सीमाएँ निर्धारित करती है। शास्त्रीय परंपरा में अनुशासन को रचनात्मक स्वतंत्रता का विरोधी नहीं, बल्कि उसकी संरचना को स्पष्ट करने वाला माना गया है।

बंदिश का शब्द पारम्परिक रूप से एक स्थिर-रचना को दर्शाता है, जो गायन में मूल सामग्री का रूप धारण करता है।हिन्दुस्तानी परंपरा में ख्याल की बंदिशें सामान्यत:स्थायी और अन्तरा के रूप में होती हैं। इसका ऐतिहासिक उद्गम वैदिक नाददृष्टि,उद्गीत-परंपरा से जुड़ा हुआ है, जहां ध्वनि-बोध और साधना का समान महत्व था। शास्त्रीय ग्रंथों में, विशेष रूप से शारंगदेव के संगीत रत्नाकर में राग-विकास और गान-पद्धति का व्यवस्थित विवरण मिलता है, जो बंदिश-परंपरा के शैक्षिक पहलू को उजागर करता है। नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती में रस, नाद और मंचीय व्यवहार की चर्चा बंदिश की नाटकीय और भावात्मक भूमिका को स्पष्ट करती है।

बंदिश के तकनीकी तत्व इस प्रकार हैं:

लय/ताल (Rhythm/Time-cycle): बंदिश एक निश्चित ताल (तीन ताल ,एक ताल, झपताल आदि) में बंधी रहती है; ताल गायन के समय की समझ का आधार बनाती है।

पूर्व शोध छात्र : विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय ,दरभंगा

शब्द (Bol/Text): बंदिश का साहित्यिक पक्ष शब्दों द्वारा भावनाएँ, विषय या अलंकारिक संदेश प्रस्तुत होते हैं। शब्द गायन में सुर और लय से संलग्न होते हैं।

राग-रचना (संगीतात्मक ढांचा) : राग के नियमों के अनुसार बंदिश के सुरों का चयन, प्रमुख-अलंकार, प्रमुख-सप्तक आदि राग के प्रमुख चलन और पारंपरिक नयनाभिराम वाक्यांशों को सुरक्षित रखती है।

अभिव्यक्ति-लय (अलंकरण एवं इम्प्रोवाइजेशन संकेत) : मींड, खमाज़, अलंकारिक संकेत बंदिश में यह तय करती है कि कहाँ किस प्रकार का अलंकार प्रयोग होना चाहिए।

गुरु-शिष्य परम्परा में बंदिश प्राथमिक शिक्षण सामग्री होती है,जिसे निम्नवत देखा जा सकता है -

मापनीय अभ्यास के अंतर्गत कठिनाईयों के माध्यम से छात्र तकनीक, स्वर-शुद्धि, ताल अनुभव और लय कौशल प्राप्त करते हैं। यह शुरुआती अनुशासन का मूल है। हर बंदिश राग की विशिष्ट गतियों, शब्दों और प्रमुख स्वर-स्थानों का परिचय देती है। इससे छात्र राग को पहचानना सीखता है। बंदिश स्मृति और संग्रह के रूप में गुरु-परंपरा का एक साधन बन जाती है, पारिवारिक घराने विशेष बंदिशों के माध्यम से अपनी शैली को संरक्षित करते हैं। नैतिक और सांस्कृतिक नियम के अंतर्गत सीमाएँ अक्सर धार्मिक, नैतिक या प्रथागत संदर्भ में होती हैं। गुरु-शिष्य परंपरा में इनका उपयोग आचार-बंधन और प्रदर्शनों के अनुशासन को सिखाने के लिए किया जाता है। यह अनुशासन स्वतंत्र सृजनशीलता के लिए 'पूर्व-आवश्यकता' है। शुद्ध तकनीक और राग-धारणा के बिना प्रभावी इम्प्रोवाइजेशन असंभव है। अभिरुचि-सिद्धांत (रस) की व्याख्या यह दर्शाती है कि तकनीक में निपुणता के बाद ही भावों का प्रवाह स्वाभाविक होता है।

कई समीक्षक यह मानते हैं कि बंदिश सृजनात्मकता में रुकावट डालती है; लेकिन परंपरा के अनुपालन और संगीत-दार्शनिक विश्लेषण इस धारण को खंडित करते हैं। किसी भी कला में सीमाएँ नवाचार को उचित दिशा प्रदान करती हैं। बंदिश राग और ताल की सीमाओं के माध्यम से कलाकार को सृजन हेतु स्पष्ट केंद्रबिंदु प्रदान करती है। शॉपेनहावर के अनुसार, संगीत इच्छाओं की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है; परंतु परिणामस्वरूप कलाकार की अभिव्यक्ति तब ही अर्थपूर्ण होती है जब स्वर और मात्रा का अधिकार हो। बंदिश के शब्द-आधारित खेल (बोल-बाँट) और ताल की जटिलताएँ (लयकारी) इम्प्रोवाइजेशन के कई द्वार खोलती हैं। यही सृजनात्मक प्रयोगों का शास्त्रीय मंच है। बंदिश एक विषय को दिशा प्रदान करती है, और कलाकार उस विषय में परिवर्तन, विस्तार और बदलाव करके नई रचना उत्पन्न करता है। यही 'थीम-एंड-वैरिएशन' की विधि शास्त्रीय संगीत में व्यापक है। कई बार गुरु-परिवार द्वारा संरक्षित बंदिशें कलाकार को मंच पर उसका आधार देती हैं; वहीं पर वह बंदिश तत्कालिन रचना का आधार बनती है। इस प्रकार, बंदिश स्वतंत्रता का विरोध नहीं, बल्कि उसे सशक्त करने वाला संरचनात्मक साधन है।

ख्याल की बंदिशें लय के अनुसार होती हैं और इम्प्रोवाइजेशन के लिए संभावनाएँ पैदा कर देती हैं। स्थायी-अन्तरा संरचना राग के विकास के महत्वपूर्ण संकेत प्रस्तुत करती है। ख्याल में बंदिश अक्सर शब्दों की अर्थात्मक-चयन से भावनाएँ उत्पन्न करती है और ठहराव पैदा करती है। ध्रुपद: अधिक संरचनाबद्ध, मंत्रात्मक और दीर्घकालिक रचना; यहाँ बंदिश 'साधना' और

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.019

'स्थिरता' का प्रतीक है। ध्रुपद में बंदिश राग की गहराई और ताल की स्थिरता का ज्ञान देती है। ठुमरी: बंदिश यहाँ भावनात्मक लचीलापन प्रदान करती है; शब्दों और अलंकारों के जरिए भाव की सूक्ष्मता का प्रदर्शन होता है; ठुमरी की बंदिश प्रेम और विरह के गहरे भावों को व्यक्त करती है। हर शैली में बंदिश का कार्य और संरचना बदलते हुए भी मूल उद्देश्य राग और भाव का सही संतुलन समान रहता है।

भारतीय नाट्य-सौंदर्यशास्त्र में रस की उत्पत्ति का आधार केवल कविता और अभिनय नहीं है, बल्कि इसमें संगीतमय रचना भी शामिल है। बंदिश के शब्दों और स्वर में नाद-गुण और भाव-निर्माण के तत्व छिपे होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार रस का अनुभव तभी उत्पन्न होता है जब शब्द, लय और ध्वनि का मेल भाव-रूपी संसार को प्रस्तुत करता है। बंदिश इस मेल को सुव्यवस्थित करती है, शब्दों के अर्थ से भाव की दिशा निर्धारित होती है, स्वर-रचना से श्रोता का भावोन्नयन होता है, ताल के माध्यम से अपेक्षित मानसिक समय-सार प्राप्त होता है।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने संगीत की अद्वितीय भूमिका पर ध्यान केंद्रित किया है - Schopenhauer के अनुसार संगीत 'इच्छा' का प्रत्यक्ष संकेत है, यानी यदि बंदिश अधिक (सूत्रित) और संगठित होगी, तो संगीत का metaphysical प्रभाव अधिक स्पष्ट होगा)। समकालीन मनोवैज्ञानिक और संगीत-विशेषज्ञ जैसे Meyer यह प्रमाणित करते हैं कि संगीत और भावना का संबंध संरचनात्मक प्रत्याशा और उसके पूर्ण करने से संबंधित है। बंदिश वही प्रत्याशा उत्पन्न करती है और कलाकार पूर्णता के माध्यम से अर्थ स्थापित करते हैं।

बीसवीं सदी के बाद बंदिश पर कुछ आधुनिक परिवर्तनों का असर हुआ, रचनात्मकता के नए युग में। परिवर्तन भी संभव हैं। पारंपरिक बिंबों के साथ-साथ नए सामाजिक और वैचारिक शब्द बंदिश में अस्तित्व में आते दिखाई देते हैं। कुछ कलाकार बंदिश के ढांचे के भीतर रहकर पाश्चात्य शैली, जैज़ या लोक तत्वों को जोड़ते हैं, लेकिन संरचना का सम्मान करना आवश्यक है। स्टूडियो रेकॉर्डिंग के लिए बंदिश को संक्षिप्त या संशोधित किया जाता है, लेकिन मंचीय परंपरा अभी भी सुरक्षित है। संगीत अकादमियाँ गुरु-परंपरा से भिन्न तरीके से बंदिश सिखाती हैं। ये परिवर्तन संकेत करते हैं कि बंदिश लचीली है; वह अनुशासन और परंपरा को बनाए रखते हुए नए रचनात्मक प्रयोगों की संभावना प्रदान करती है। हालांकि, पारंपरिक अनुशासन की अनुपस्थिति से गहराई और सामर्थ्य में कमी आ सकती है, इसीलिए शास्त्रीय प्रशिक्षण आज भी बहुत जरूरी है।

अत: बंदिश केवल एक स्थिर गीत नहीं; वह शास्त्रीय अनुशासन, राग-विकास की शिक्षण-कौशल, तथा मंचीय सृजनात्मकता का समन्वय है। गुरु-परंपरा द्वारा प्रतिपादित अनुशासन बंदिश के माध्यम से प्रशिक्षु में तकनीकी अधिकार, भाव-समझ और रागीय संवेग पैदा करता है। दूसरी ओर बंदिश की सीमाएँ ही सृजनात्मकता के लिए दिशाएँ प्रस्तुत करती हैं,क्योंकि किसी भी रचनात्मक प्रक्रिया का महत्व तभी उजागर होता है जब उसका आधार दृढ़ और ज्ञात हो। अत: बंदिश शास्त्रीय अनुशासन और सृजनात्मकता के मध्य वह सेतु है जो परंपरा को आगे बढ़ाते हुए नव-रचनाओं को सम्भव बनाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अभिनवगुप्त, (1996), अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र पर टिप्पणी) चौखंबा विद्याभवन वाराणसी.
2. भरत मुनि. (2006)। नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती के साथ)। चौखम्बा संस्कृत श्रृंखला कार्यालय वाराणसी।
3. छांदोग्य उपनिषद. (2014), जी. प्रेस (सं.), छान्दोग्य उपनिषद (संस्कृत-हिन्दी) में।: गीता प्रेस, गोरखपुर
4. मेयर, एल.बी, (1956) संगीत में भावना और अर्थ, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, शिकागो
5. शोपेनहावर, ए. (1818/1969), इच्छा और प्रतिनिधित्व के रूप में विश्व (डाई वेल्ट अल्स विले अंड वोरस्टेलुंग), लीपज़िग ब्रॉकहॉस, (अंग्रेजी संस्करण: डोवर प्रकाशन, 1969)
6. शारंगदेव. (1978), संगीत रत्नाकर, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
7. शर्मा, पी. एल, (1978), भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत नाटक अकादमी नई दिल्ली

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.019

संगीत : ध्वनि, मस्तिष्क और अनुभूति का दार्शनिक तत्व

पूजा कुमारी

सार

संगीत केवल मनोरंजन की कला नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की चेतना, अनुभूति और अस्तित्व से जुड़ा एक गहन दार्शनिक माध्यम है। जब हम कहते हैं कि "संगीत एक दर्शन है", तो इसका अभिप्राय यह है कि संगीत जीवन, ब्रह्मांड, आत्मा और परम सत्य के बीच सेतु का कार्य करता है। भारतीय परंपरा में संगीत को नाद-ब्रह्म कहा गया है अर्थात् नाद ही ब्रह्म है। यह कथन स्वयं में एक दार्शनिक उद्घोष है, जो यह बताता है कि सृष्टि की मूल सत्ता ध्वनि है और संगीत उसी ध्वनि का सुसंस्कृत, साधित और अनुभूत रूप है।यह शोध-आलेख इस सिद्धांत को स्थापित करता है कि संगीत केवल एक कलात्मक अभिव्यक्ति या मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि यह एक संपूर्ण दर्शन है। भारतीय परंपरा में संगीत को नाद-ब्रह्म कहा गया है, जो यह दर्शाता है कि ध्वनि ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही ध्वनि है। भारतीय दार्शनिक परंपरा-वेद, उपनिषद, योग, भक्ति, तंत्र, रस-सिद्धांत के साथ-साथ पाश्चात्य विचार (प्लेटो, अरस्तू, शोपेनहावर आदि) के संदर्भ में संगीत के दार्शनिक पहलुओं का विश्लेषण करता है।

शब्द कुंजी *– संगीत, नाद-ब्रह्म, दार्शनिक, उपनिषद, योग, भक्ति, तंत्र।*

मानव सभ्यता की शुरुआत से संगीत और दर्शन एक-दूसरे के साथी रहे हैं। दर्शन जीवन, अस्तित्व और सत्य के सवालों से संघर्ष करता है, जबकि संगीत उन सवालों के जवाब को अनुभव के स्तर पर प्रकट करता है। जहाँ शब्द सीमित हो जाते हैं, वहाँ संगीत सामने आता है। इसलिए कहा गया है कि संगीत वह भाषा है जो आत्मा से सीधे आत्मा को संवाद करती है। दर्शन का लक्ष्य सत्य की खोज है, जबकि संगीत उस सत्य की अनुभूति का साधन बनता है। जहाँ दर्शन विचार के माध्यम से सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है, वहीं संगीत अनुभूति और रस के माध्यम से उसी सत्य को प्रत्यक्ष करता है। इस दृष्टि से संगीत और दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं।

दर्शन (Philosophy) शब्द ग्रीक भाषा के फिलो (प्रेम) और सोफिया (ज्ञान) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है-ज्ञान के प्रति प्रेम। भारतीय परंपरा में दर्शन को तत्त्वज्ञान कहा गया है, अर्थात् तत्त्वों का ज्ञान। उपनिषदों में कहा गया है-"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्तिरीयोपनिषद)यहाँ सत्य, ज्ञान और अनन्तता-तीनों का अनुभव केवल बौद्धिक नहीं, बल्कि अनुभूतिजन्य है। संगीत इसी अनुभूति का सशक्त माध्यम बनता है।

संगीत में भी तत्त्व हैं-स्वर, लय और ताल। ये तत्त्व केवल तकनीकी नहीं हैं, बल्कि दार्शनिक अर्थ भी रखते हैं।

शोध छात्र,वि. वि.संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.विश्वविद्यालय, दरभंगा

स्वर- चेतना और आत्मा का प्रतीक, लय-काल (समय) का प्रतीक, ताल-अनुशासन और ब्रह्मांडीय व्यवस्था का प्रतीक है। इस प्रकार संगीत की संरचना स्वयं में एक दार्शनिक संरचना है।भारतीय संगीत-दर्शन का मूल आधार नाद-ब्रह्म सिद्धांत है। नाद का अर्थ है ध्वनि और ब्रह्म का अर्थ है परम सत्ता। शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में कहा है-"नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद् वचः। वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनः ततो जगत्॥"अर्थात् नाद से वर्ण, वर्ण से पद और पद से वाक्य की उत्पत्ति होती है; सम्पूर्ण व्यवहार नाद पर आधारित है, अतः यह जगत भी नादाधीन है। यह सिद्धांत यह दर्शाता है कि संगीत केवल कला नहीं, बल्कि सृष्टि-तत्त्व की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि योग, तंत्र और भक्ति-तीनों मार्गों में नाद-साधना को विशेष महत्व दिया गया है।

भारतीय सोच में यह विश्वास मजबूत है कि सृष्टि का आरंभ नाद से हुआ। ऋग्वेद के श्लोकों में ध्वनि की रचनात्मक शक्ति को मान्यता दी गई है। उपनिषदों में ॐ को ब्रह्म का संकेत माना गया। इस प्रकार संगीत और दर्शन का संबंध सतही नहीं, बल्कि गहन है। उपनिषदों में प्रत्यक्ष रूप से संगीत का दार्शनिक विवेचन मिलता है। सामवेद को तो स्पष्ट रूप से गेय वेद कहा गया है। छांदोग्य उपनिषद में उद्गीथ (ॐ) को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।"उद्गीथमुपासीत" (छांदोग्यउपनिषद)ॐ का जप, उसका गान और उसकी ध्वन्यात्मक अनुभूति-तीनों संगीतात्मक हैं। यहाँ संगीत साधना का रूप ले लेता है, जो आत्मा को ब्रह्म से जोड़ती है।

भारतीय दर्शन षड्दर्शन के रूप में जाना जाता है-सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत। इन सभी के उद्देश्यों में आत्म-ज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि शामिल है। संगीत इन दर्शनों में सीधे या अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद है।सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष के द्वैत का उल्लेख करता है। संगीत में स्वर (चेतना) और नाद (प्रकृति) का यह द्वैत स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। योग दर्शन चित्तवृत्तियों के निरोध का प्रचार करता है, जिसे संगीत स्वाभाविक रूप से साध्य कराता है। वेदांत दर्शन अद्वैत की पुष्टि करता है-जहाँ श्रोता, संगीत और अनुभव का अंतर समाप्त होता है।

पतंजलि का योग-दर्शन चित्तवृत्तियों के निरोध की बात करता है। संगीत इस निरोध का सहज साधन बनता है। रागों की संरचना, आलाप की विस्तारशीलता और लय की एकाग्रता-ये सभी मन को एक बिंदु पर स्थिर करते हैं।

नादयोग में आहत और अनाहत नाद की चर्चा मिलती है। अनाहत नाद वह है जो बाह्य वाद्य से नहीं, बल्कि आंतरिक चेतना से उत्पन्न होता है। यह अवस्था गहन आध्यात्मिक अनुभूति से जुड़ी है।

भारतीय संगीत-दर्शन का आधार नाद-ब्रह्म सिद्धांत है। शारंगदेव की पुस्तक संगीत रत्नाकर में नाद को सृष्टि का मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। नाद को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया-आहत और अनाहत आहत ध्वनि जो वाद्य, गले या किसी भौतिक साधन से निर्मित होती है। अनाहत नाद जो बिना किसी बाहरी प्रभाव के अंतःचेतना में अनुभवित होता है। अनाहत नाद का अनुभव योग और ध्यान की उच्च स्तरीय स्थितियों में होता है। यही स्थिति दर्शन की अंतिम पराकाष्ठा है, जहाँ साधक सच्चाई का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

चारों वेदों में सामवेद को संगीत का मूल माना जाता है। सामवेद के श्लोक गान करने योग्य

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.019

हैं। छांदोग्य उपनिषद में उद्गीथ (ॐ) की पूजा को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति का साधन बताया गया है। ॐ की ध्वनि में अकार, उकार और मकार-इन तीनों के मिलन से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व होता है। यह दार्शनिक विचार संगीत के जरिए अनुभव किया जाता है।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र रस-सिद्धांत प्रस्तुत करता है। रस का अनुभव अंततः आनंद की अनुभूति है, जिसे अभिनवगुप्त ने ब्रह्मानंद-सहोदर कहा।संगीत में उत्पन्न रस श्रोता को आत्म-विस्मृति की अवस्था में ले जाता है-यही दार्शनिक अनुभव है, जहाँ अहं लुप्त हो जाता है।

पतंजलि का योग-दर्शन मन को स्थिर करने का रास्ता बताता है। नादयोग में संगीत साधना का एक साधन बनता है। स्वर-साधना, प्राणायाम और ध्यान—इन तीनों का समन्वय नादयोग में होता है। रागों का असर चित्त पर होता है। प्रातःकाल के राग मानसिक सफाई देते हैं, संध्या के राग वैराग्य और शांति का अहसास कराते हैं। ये सब दर्शन के व्यवहारिक पहलू हैं।

भक्ति आंदोलन में संगीत दर्शन का जनसुलभ रूप बन गया। शंकरदेव, विद्यापति, सूरदास, मीरा, नामदेव-सभी ने संगीत को भक्ति और दर्शन का माध्यम बनाया।श्रीमंत शंकरदेव के बरगीत केवल काव्य या संगीत नहीं हैं, बल्कि वैष्णव दर्शन की संगीतमय व्याख्या हैं। रागों के माध्यम से ईश्वर के सगुण-साकार रूप की अनुभूति कराई जाती है।मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में संगीत ने दर्शन का जनभाष्य उत्पन्न किया। सूरदास, मीरा, कबीर, विद्यापति, शंकरदेव,सभी ने संगीत को ईश्वर से जुड़ने का साधन माना।श्रीमंत शंकरदेव के बरगीत वैष्णव विचार के संगीतात्मक तत्व हैं। यहाँ संगीत की साधना है, सेवा है और उद्देश्य भी।

भरतमुनि का रस-सिद्धांत भारतीय कला का आधार है। अभिनवगुप्त ने रस को ब्रह्मानंद का सहोदर बताया। संगीत में उत्पन्न रस श्रोता को आत्मा से मुक्त करता है।श्रृंगार, करुण, शांत-ये रस केवल भाव न होकर, बल्कि दार्शनिक स्थितियाँ हैं। शांत रस में साधक अद्वैत का अनुभव करता है। तंत्र में मंत्र, यंत्र और तंत्र-तीनों में नाद का महत्व है। बीज मंत्र ध्वनि-शक्ति के संकेतक होते हैं। यहाँ संगीत शक्ति की साधना में तब्दील हो जाता है।

प्लेटो ने संगीत को आत्मा के नैतिक गठन का साधन माना। अरस्तू ने कैथार्सिस के सिद्धांत में संगीत की भूमिका स्वीकार की। शोपेनहावर ने संगीत को प्रत्यक्ष इच्छा (Will) की अभिव्यक्ति कहा।उनके अनुसार-Music is the direct copy of the will itself. यह विचार भारतीय नाद-ब्रह्म सिद्धांत से अद्भुत साम्य रखता है। प्लेटो ने संगीत को आत्मा के नैतिक संस्कार का माध्यम माना। अरस्तू ने संगीत के शुद्धिकरण प्रभाव को स्वीकार किया। शोपेनहावर ने संगीत को प्रकट इच्छा (Will) की अभिव्यक्ति बताया। उनके अनुसार संगीत दुनिया की छाया नहीं, बल्कि उसकी आत्मा है-यह धारणा भारतीय नाद-ब्रह्म सिद्धांत के बहुत करीब है।

संगीत मानव को अनुशासन, संवेदनशीलता, सह-अस्तित्व और करुणा का पाठ पढ़ाता है। यह व्यक्ति को समाज और ब्रह्मांड से जुड़ने में मदद करता है। इसी कारण संगीत एक व्यापक दर्शन है-जीने की कला। आज के भौतिकवादी युग में भी संगीत मानसिक शांति, ध्यान और आत्म-चिंतन का माध्यम बना हुआ है। संगीत-चिकित्सा (Music Therapy) इसका प्रमाण है कि संगीत मन और शरीर-दोनों पर दार्शनिक स्तर पर प्रभाव डालता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि संगीत केवल कला नहीं, बल्कि जीवन-दर्शन है। वह मनुष्य को बाह्य जगत से अंतर-जगत की ओर ले जाता है। संगीत विचार से अनुभूति और अनुभूति से सत्य की ओर अग्रसर करता है। इसलिए निस्संदेह कहा जा सकता है-संगीत और दर्शन एक ही सत्य के दो रूप हैं-एक विचार में, दूसरा अनुभूति में। संगीत मनुष्य को भीतर की यात्रा पर ले जाता है, जहाँ वह स्वयं को और ब्रह्म को एक रूप में अनुभव करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. शर्मा डॉ. प्रेम लता, भारतीय संगीत का इतिहास, प्रकाशक : संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष : 1978
2. महर्षि पतंजलि, योगसूत्र, प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष : 1981
3. शारंगदेव,संगीत रत्नाकर, प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष : 1978
4. भरतमुनि,बाबूलाल शास्त्री(सं.),नाट्यशास्त्र, प्रकाशक : चौखंबा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष : 1984
5. गौड़ तरुण, संगीत और भारतीय दर्शन(उपनिषद्, वेद, और पुराणों का योगदान), Asia-Pacific Holdings Private Limited,वर्ष -2012
6. .ए.ए.ज्नादोब,साहित्य ,संगीत और दर्शन,वाणी प्रकाशन,दिल्ली ,वर्ष -2016
7. जैन श्रीमती विजय लक्ष्मी,संगीत दर्शन, प्रकाशक : राजस्थानी ग्रन्थागार सोजती गेट के बाहर जोधपुर,वर्ष- प्रथम संस्करण, 1989 .

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.020

बुंदेली सांस्कृतिक परम्परा एवं बुंदेलखंड के लोकगीतों का वर्गीकरण

मंगल सिंह वर्मा

सारांश

भारत की विविध सांस्कृतिक धारा में बुंदेलखंड वह क्षेत्र है, जहाँ वीरता, भक्ति और लोकसंगीत की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती है। इस भूभाग की लोकपरम्पराएँ जनजीवन की आत्मा के समान हैं, जो समाज, धर्म, संस्कृति और अर्थव्यवस्था के विविध पक्षों को उजागर करती हैं। प्रस्तुत शोधाधारित आलेख में बुंदेली सांस्कृतिक परंपरा के ऐतिहासिक, सामाजिक और सांगीतिक आयामों का विश्लेषण करते हु लोकगीतों का वर्गीकरण किया गया है - जैसे वीररस प्रधान आल्हा गीत, ऋतु- गीत (फाग, कजरी), संस्कार गीत (सोहर, विवाह), श्रमगीत तथा भक्ति गीत । यह अध्ययन यह भी प्रतिपादित करता है कि बुंदेलखंड के लोकगीतों में केवल क्षेत्रीय भावनाएँ ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की व्यापक एकात्मता भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

मुख्य शब्द: बुंदेलखंड, सांस्कृतिक परम्परा, बुंदेली लोकगीत, वर्गीकरण, लोकसंस्कृति।

परंपरा की जीवित धारा

भारत जैसे बहुरंगी देश में प्रत्येक क्षेत्र अपनी विशिष्ट भाषा, कला और संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रीय एकता की नींव को सशक्त करता है। इन्हीं में से एक सजीव क्षेत्र है - बुंदेलखंड, जो ऐतिहासिक रूप से वीरता का प्रतीक और सांस्कृतिक दृष्टि से लोकजीवन की सरलता का प्रतिबिंब है। यहाँ की संस्कृति में धार्मिकता, वीरता, श्रृंगार और सामाजिक मर्यादा के विविध रंग परस्पर जुड़े हुए हैं।

बुंदेलखंड के लोकगीत सदियों से मौखिक परंपरा के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रेषित होते आए हैं। ये केवल मनोरंजन या समय व्यतीत करने का साधन नहीं, बल्कि सामूहिक स्मृति, इतिहास और लोकमानस के अनुभवों के सजीव अभिलेख हैं। गाँवों के हर उत्सव, ऋतु, संस्कार और संघर्ष में इन गीतों की स्वर- लहरियाँ गूंजती हैं—

भौगोलिक दृष्टि से बुंदेलखंड उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के सीमांत जनपदों - झाँसी, ललितपुर, जालौन, बांदा, चित्रकूट, टीकमगढ़, छतरपुर, सागर और दमोह में फैला है। यहाँ की "बुंदेली संस्कृति" केवल रीति-रिवाजों का समूह नहीं, बल्कि लोकमानस की संवेदना और लोकसंगीत की जीवंत परंपरा है।

प्रसिद्ध लोकसाहित्यकार डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में—

शोधार्थी : संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

"बुंदेलखंड की मिट्टी में लोकगीत उतने ही गहरे पैवस्त हैं जितनी गहराई में यहाँ के लोग अपनी भावनाएँ जीते हैं।"

यही कारण है कि बुंदेली लोकसंस्कृति भारतीय सांस्कृतिक चेतना को गहराई से प्रभावित करती आई है।

बुंदेली सांस्कृतिक परंपरा : ऐतिहासिक, भौगोलिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य भारत के मध्यभाग में स्थित बुंदेलखंड एक प्राचीन और ऐतिहासिक भू-प्रदेश है, जिसका नाम "विंध्याचल" पर्वत श्रृंखला से सम्बद्ध है। भूवैज्ञानिक दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यंत प्राचीन है, जिसने यमुना, नर्मदा, चंबल, केन, बेतवा, पहूज और धसान जैसी नदियों को जन्म दिया। इन नदियों ने क्षेत्र की कृषि, निवास और संस्कृति को आकार दिया। वीर महाराज छत्रसाल बुंदेला ने इसे राजनीतिक पहचान दी तथा सांस्कृतिक उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर किया ।

यह भूमि वीरता, भक्ति और लोकसाहित्य की त्रिवेणी मानी जाती है। कवि केशवदास, इंद्रजीत सिंह, संत प्राणनाथ, कवि नथू और असंख्य लोकगायक इस सांस्कृतिक परंपरा के गौरव - स्तंभ रहे हैं।

इतिहास में बुंदेलखंड ने केवल वीरता ही नहीं, बल्कि साहित्य, संगीत, कला और स्वतंत्रता संग्राम में भी अविस्मरणीय योगदान दिया है।

आल्हा ऊदल की वीरता और छत्रसाल महाराज का जुझारूपन वीरांगना लक्ष्मीबाई और राजा मर्दन सिंह की शौर्यगाथाएँ गोस्वामी तुलसीदास का चित्रकूट से संबंध और रामचरितमानस की रचना इन घटनाओं ने बुंदेलखंड को भारत की सांस्कृतिक चेतना में विशेष स्थान प्रदान किया ।

बुंदेलखंड का सामाजिक आधार कृषि और ग्राम्य जीवन है। यहाँ के त्योहार दीपावली, होली, गणगौर, सावन और नवरात्रि - सिर्फ धार्मिक पर्व नहीं, बल्कि सामाजिक एकता और सामूहिक उत्सव के प्रतीक हैं। (2)

भाषा, लोक संस्कृति और परंपरा

संस्कृति किसी समाज की संपूर्ण जीवन-दृष्टि को प्रकट करती है। इसमें आचार, विचार, दर्शन, धर्म, कला, भाषा और इतिहास सब सम्मिलित हैं। भाषा और संस्कृति का संबंध अत्यंत घनिष्ठ होता है। बुंदेली भाषा में लोकसंस्कृति की गहराई और लय दोनों ही विद्यमान हैं, जो इसे जीवंत बनाती हैं।

डॉ. बासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार

"लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। "

बुंदेली संस्कृति में प्रकृति के साथ गहरा सामंजस्य दिखाई देता है - नदियों, पेड़ों, पर्वतों, देवताओं, नाग देवता और हनुमान जी की उपासना यहाँ की धार्मिक चेतना का अंग है। नदियों, तालाबों और वृक्षों की पूजा यहाँ की प्राकृतिक संवेदनशीलता को दर्शाती है। (3)

लोकगीत : समाज का सांस्कृतिक दस्तावेज़

लोकगीत किसी भी समाज की सांस्कृतिक स्मृति और जीवन-दर्शन के प्रतिबिंब होते हैं। बुंदेलखंड के लोकगीतों में जीवन के हर पक्ष जन्म से मृत्यु तक, श्रम से उत्सव तक, और प्रेम से विरह तक की अभिव्यक्ति मिलती है।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये अनाम सृजन हैं - अर्थात् समाज ही इनका रचयिता है।

बुंदेली लोकगीतों में भाषा की मिठास, ग्रामीण जीवन की सहजता और मानवीय भावनाओं की गहराई का सुंदर संगम है।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.020

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है

"लोकगीत वह दर्पण है, जिसमें समाज अपनी आत्मा को देख सकता है।" (5)

लोकगीतों का वर्गीकरण

बुंदेली लोकगीत जीवन के विविध अवसरों और भावनाओं से जुड़े हुए हैं। इन्हें अवसर, विषयवस्तु और भावधारा के आधार पर कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है -

1. वीररस के लोकगीत - आल्हा परंपरा—"आल्हा" बुंदेलखंड की पहचान और गौरव है। यह वीरता, देशभक्ति और आत्मसम्मान का प्रतीक लोककाव्य है। आल्हा-ऊदल की युद्धगाथा में मातृभूमि के प्रति निष्ठा और नैतिकता का संदेश मिलता है।

"अल्हा गावत वीर बनायें,
रण में गूंजे ढोल-नगाड़ा। "

इन गीतों का गायन मेलों, अखाड़ों और चौपालों में होता है और यह लोकसमाज के साहस का जीवंत प्रतीक हैं।

2. ऋतु एवं उत्सव गीत फाग, कजरी,- झूला

(क) फाग गीत - होली के अवसर पर गाए जाने वाले ये गीत हास्य, श्रृंगार और उल्लास से भरे होते हैं।

"फागुन आयो रे, रंग बरसे गगन से । "

(ख) कजरी गीत - सावन में गाए जाने वाले ये गीत नारी के विरह और प्रतीक्षा की भावनाओं को व्यक्त करते हैं।

"कजरी गावे सावन में, बिरहन रोवे छाँव में।"

(ग) झूला गीत का संगम हैं—सावन में झूला झूलते समय युवतियों द्वारा गाए जाने वाले गीत प्रकृति और प्रेम

3. संस्कार गीत सोहर, विवाह, करवा चौथ

(क) सोहर गीत - शिशु जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले गीत मातृत्व की प्रसन्नता और सामाजिक साझेदारी को दर्शाते हैं।

"लल्ला पैदा भयो रे, धन्य भयो कुल सारा।"

(ख) विवाह गीत - हल्दी, बारात, फेरे और विदाई जैसे अवसरों पर गाए जाने वाले गीत हास्य, करुणा और लोकरीति के मिश्रण से भरे होते हैं।

"लेके दुलहिन चली सखियाँ, सजी गगरी संग सिन्दूर।"

4. श्रम एवं कृषिकर्म गीत

कृषि बुंदेलखंड के जीवन का मूलाधार है। खेतों, कुओं और चक्कियों पर गाए जाने वाले गीत श्रम को उत्सव में बदल देते हैं।

"हल जोते किसान, गावे धरती माता का नाम। "

ये गीत श्रमिक एकता और धरती के प्रति आदर की भावना का प्रतीक हैं।

5. भक्ति एवं धार्मिक गीत

देवी-देवताओं और लोकदेवताओं की आराधना से जुड़े गीत भक्ति रस से ओतप्रोत हैं। माँ शारदा, हरदौल बाबा, राम-कृष्ण और अन्य स्थानीय देवताओं के भजन इनका हिस्सा हैं।

"राम नाम सुमिरत मन भायो, मिट गयो जग का संदेह। "

6. स्त्री जीवन और भावनात्मक गीत

सावन, करवा चौथ या पति वियोग के अवसरों पर गाए जाने वाले गीत स्त्री-मन की कोमल भावनाओं का सजीव चित्रण करते हैं।

"सखी मोरे साजन परदेश गए, मन को लागे ना चैन ।"

7. लेद - बुंदेली लोकसंगीत की विशिष्ट शैली

"लेद" श्रृंगार प्रधान बुंदेली शैली है, जो प्राय: राग यमन में गाई जाती है। मुख्य प्रकार

लेद, ख्याल / ठुमरी - दादरा की लेद और अद्धा की लेद ।

उदाहरण: "धना सपरत बेलाताल मछरिया,
माथे की बिंदिया ले गई।"

पारंपरिक लोकगीतों की विविधता-

धमार की

गीत

अवसर / विवरण

लमटेरा

सावन-कजरी

पाई

चौकड़िया

चार पंक्तियों वाला छोटा गीत, हर ऋतु में गाया जाता है

तीर्थयात्रा या देवी स्थलों पर सामूहिक रूप से

राधा-कृष्ण

वियोग विषयक

वर्षा ऋतु में प्रेम और प्रकृति का चित्रण

देवी-गीत

नवरात्रि पर्व पर देवी उपासना हेतु

कार्तिक गीत

कृष्ण-राधा संवाद पर आधारित

होली गीत

फाल्गुन-च

- चैत्र में उल्लास का प्रतीक

ढिमरयाई

शुभ अवसरों पर सभी जातियों द्वारा गाए जाने वाले गीत

बिलवारी

चैत्र मास में फसल कटाई के समय सामूहिक गायन

लोकगीतों का सामाजिक और ऐतिहासिक महत्व

बुंदेली लोकगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज की सामूहिक चेतना, इतिहास और नैतिक मूल्यों के संवाहक हैं। इनमें स्त्री-जीवन के भाव, कृषक के श्रम, वीरता की महिमा और सामाजिक एकता का अद्‌भुत समन्वय है।

भाषिक दृष्टि से भी ये गीत बुंदेली बोली को समृद्ध बनाते हैं और उसे साहित्यिक मान्यता प्रदान करते हैं।

डॉ. रघुवीर शर्मा ने कहा है.

"लोकगीत समाज की आत्मा हैं; इनके बिना इतिहास अधूरा है।"

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संरक्षण की आवश्यकता:

वर्तमान डिजिटल युग में जब पश्चिमी संगीत और लोकप्रिय संस्कृति का प्रभाव तीव्रता से बढ़ रहा है, तब लोकगीतों का अस्तित्व संकट में है। नई पीढ़ी धीरे-धीरे अपनी लोकधरोहर से दूर होती जा रही है। इसलिए इनका संरक्षण अत्यंत आवश्यक है। (7)

संरक्षण के उपाय:

1. शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में लोकसंगीत और लोकसंस्कृति के अध्ययन को शामिल किया जाए।
2. लोकगायकों, वादकों और कलाकारों को सरकारी स्तर पर प्रोत्साहन प्रदान किया जाए।
3. रेडियो, यूट्यूब और डिजिटल माध्यमों पर बुंदेली लोकगीतों के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा मिले।
4. विश्वविद्यालयों और स्थानीय संस्थानों में लोककला महोत्सव नियमित रूप से आयोजित हों। (8)

निष्कर्ष

बुंदेलखंड की सांस्कृतिक परंपरा और बुंदेली लोकगीत भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। इनमें वीरता, भक्ति, श्रृंगार, श्रम और सामाजिक संबंधों की एक अद्वितीय समरसता है। ये गीत सामूहिक स्मृतियों को जीवित रखते हुए संस्कृति की निरंतरता बनाए रखते हैं।

जरूरत इस बात की है कि इनका दस्तावेजीकरण, शोध और संरक्षण गंभीरता से किया जाए, क्योंकि बुंदेली लोकगीतों में न केवल मानव जीवन की सहजता बल्कि प्रकृति की लय और भावनाओं की गहराई भी निहित है। यदि हम इन लोकपरंपराओं को सहेज पाएँ, तो यह हमारी सांस्कृतिक अस्मिता को जीवित रखेगी और आने वाली पीढ़ियों को अपनी मिट्टी की पहचान से जोड़े रखेगी।

"लोक ही लोककला का जीवन है,
जहाँ लोक नहीं, वहाँ संस्कृति मौन है। "

संदर्भ सूची

1. वर्मा, रामकुमार - बुंदेलखंड की लोकसंस्कृति, साहित्य भवन, झाँसी।
2. बुंदेली लोक साहित्य,परंपरा और इतिहास प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त।
3. बुंदेली भाषा, संस्कृति और साहित्य डॉ. कन्हैया लाल शर्मा 'कलश'।
4. पांडेय, अजय (2020), "बुंदेलखंड के लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन", भारतीय लोक साहित्य पत्रिका, खंड 15 अंक 21
5. द्विवेदी, हजारीप्रसाद - हिन्दी साहित्य का आदिकाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
6. झा, एस. (2019), बुंदेली लोकगीतों की परम्परा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
7. शर्मा, रघुवीर – भारतीय लोकसाहित्य की परंपरा, प्रयाग साहित्य भवन, इलाहाबाद ।
8. मिश्र, कैलाशचंद्र - लोकगीतों का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

भारतीय ज्ञान परंपरा में वेदों की भूमिका

डॉ. शीला झा

भारतीय ज्ञान परंपरा का आधार वेद हैं-एक ऐसी संचित परंपरा जो भाषाई, दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक पहलुओं में अद्वितीय है। 'वेद' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान' (ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया) और यह शब्द स्वयं से यह दर्शाता है कि इन ग्रंथों को कितनी गहरी और व्यापक ज्ञानात्मक परंपरा माना गया। वेद केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं हैं, वे भारतीय संस्कृति के ज्ञान-स्रोत हैं जिनमें ब्राह्मणीय विधान, आराधना की प्रथाएँ, आध्यात्मिक चिंतन और व्यावहारिक ज्ञान जैसे ज्योतिष, गणितीय संकेत, भाषा विज्ञान के प्रारंभिक तत्व निहित हैं।

वेद चार श्रेणियों में वर्गीकृत किए जाते हैं: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन्हें सामूहिक रूप से 'श्रुति' कहा गया है। वह साहित्य जो सुनने वालों (श्रवण) द्वारा ग्रहण किया गया और पीढ़ियों तक मौखिक रूप से सुरक्षित रहा। श्रुति के साथ स्मृति ग्रंथ (उपनिषद, संहिता, विधान-ग्रंथ) का विकास हुआ। ऋग्वेद मुख्यत: प्राचीनतम और सर्वाधिक प्राचीन सूक्त-समूहों का संग्रह है। मुख्यत: संहिता में देवताओं की स्तुतियाँ और यज्ञ का आह्वान किया जाता है। यजुर्वेद में यज्ञ-प्रक्रियाओं के सूत्र, मंत्र और कर्म-निर्देश तथा यज्ञकर्म का तकनीकी पक्ष की चर्चा की गई है। सामवेद में संगीतात्मक रूप में ऋग्वेद से ली गई छंद-रचनाएँ, स्वर-संयोजनों का महत्त्व दर्शाया गया है। अथर्ववेद में घरेलू उपाय, तंत्र-आधारित ज्ञान, औषधि-संबंधी सूत्र और जनजीवन से जुड़ी मान्यताएँ मिलती है। प्रत्येक वेद के साथ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद तथा सूत्रकृतियाँ जोड़कर वेद-शास्त्र का एक व्यापक तंत्र बनता है जिसका उद्देश्य ज्ञान के धार्मिक और सामाजिक उपयोग को व्यवस्थित करना था।

वेदों की वाणिज्यिक परंपरा बेहद विशेष है। वैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों के अनुसार वेदों का संकलन और मौखिक रक्षा की प्रक्रिया बहुत सख्त और व्यवस्थित थी। अनुष्ठानिक पाठ, छंदबद्ध स्मृति प्रणाली, क्षेपणीय (सूत्र-जैसे) नियम और शिक्षक-छात्र परंपराआदि। इसके कई परिणाम हुए-

सटीक शब्द-समूहों का संरक्षण: शुद्ध उच्चारण (स्वर, मात्रा) और छंद-संरचना की पालना।

तकनीकें : पद-परिवर्तन, उपक्रम और पुष्ट-उपाय जो लंबे श्लोकों को स्मरण में रखने में सहायक थे।

शिक्षण-व्यवस्था : गुरुकुल प्रणाली के भीतर वेद-अध्ययन का उन्नत प्रशिक्षण।

वेदों की वाणिज्यिक परंपरा अत्यंत अद्वितीय है। वैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों के अनुसार वेदों का संग्रह और मौखिक संरक्षण की प्रक्रिया अत्यंत कठोर और संगठित थी। अनुष्ठानिक ग्रंथ, छंदबद्ध स्मृति प्रणाली, क्षेपणीय (सूत्र-जैसे)

संगीत शिक्षिका,+2 राजेन्द्र गर्ल्स स्कूल ,दरभंगा

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.021

नियम और गुरु-शिष्य परंपरा इसमें प्रमुख थे। इसके अनेक परिणाम सामने आए।

वेदों का शैक्षिक और भाषायी योगदान

वेदों का संरक्षण भाषा-विज्ञान और व्याकरण की आवश्यकता का निर्माण करता है। वेदों की भाषा - वैदिक संहिताएँ, पाणिनि जैसे महान व्याकरणाचार्यों के विकास को प्रेरित करती हैं। वेदों से निकला योगदान निम्नवत है -

- शब्द-निर्माण और व्याकरण का विकास: वैदिक शब्द-रूपों का विश्लेषण और पाणिनि के अष्टाध्यायी जैसे ग्रंथों का आधार।
- छंद-शास्त्र और कल्पना: मेट्रिकल ढाँचे (छंद) और संगीतात्मकता (सामवेद) ने कविता के निर्माण को मार्गदर्शित किया।
- भाषाई स्थिरता और परिवर्तन: वैदिक संस्कृत ने बाद की शास्त्रीय संस्कृत के लिए भाषाई मानक स्थापित किया।

इस प्रकार वेद भारतीय भाषा की परंपरा का आधार बन गए।

वेदों का दार्शनिक योगदान

उपनिषदों के माध्यम से वेदों में दर्शन का गहन विस्तार होता है। यहाँ आत्मा (आत्मन्), ब्रह्म, मोक्ष, कर्म, और ज्ञान के सिद्धान्तों का विवरण मिलता है। उपनिषदों ने अनेक दार्शनिक दृष्टियों को उत्पन्न किया-

- आत्म-धारणा और आत्म-बोध: आत्मा की निरंतरता, जीव और संसार का संबंध।
- ब्रह्म-आत्म का एकत्व: अद्वैत विचारधारा की आरंभिक पृष्ठभूमि।
- मोक्ष और मुक्ति के सिद्धांत: कर्म और ज्ञान के जरिए बंधनों से स्वतंत्रता की प्राप्ति।
- न्यायतत्त्व और तर्कशक्ति: प्रश्नोत्तर प्रणाली और तर्क का प्रयोग

ये उत्तरवर्ती दार्शनिक विद्यालयों (जैसे मीमांसा, वेदांत) के लिए नींव बने।विशेषत: मीमांसा (कर्मकांड की सत्यता पर विचार) और वेदांत (उपनिषद्-प्रेरित आत्मज्ञान) ने भारतीय दर्शन का विस्तार किया जो बाद में विभिन्न धाराओं में फलित हुआ।

वेदों का वैज्ञानिक और तकनीकी योगदान

वेदों में कई संकेत मौजूद हैं जो बताते हैं कि प्राचीन भारतीयों का अनुभव-आधारित ज्ञान परिष्कृत था। हालाँकि वेद आधुनिक विज्ञान की भाषा में नहीं लिखे गए हैं, फिर भी इनमें निम्नलिखित क्षेत्रों के प्रारंभिक तत्व पाए जाते हैं:

- ज्योतिष और आकाश विज्ञान- ऋग्वेद तथा अन्य ग्रंथों में ग्रहों की गणना, नक्षत्रों के सूत्रों और कैलेंडर सिस्टम के विवरण पाए जाते हैं। यज्ञ समय-गणना और कृषि से जुड़ी समय-निर्धारण के लिए आकाशीय जानकारी का प्रयोग किया गया।
- आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र- अथर्ववेद में चिकित्सा के लिए औषधियों के उपयोग और रोगों के उपचार के विवरण मिलते हैं; इसके बाद शास्त्रीय आयुर्वेद का विस्तार हुआ।
- कृषि और पर्यावरण साक्षरता- ऋतुओं, जलवायु, और कृषि चक्रों का विवरण तथा पर्यावरण के प्रति जागरूक विधियाँ प्राप्त होती है।
- गणितीय और संख्या-प्रणाली के प्रतीक- संख्यात्मक संदर्भ, गणना कार्य और मापन प्रक्रियाओं के पुरानी संकेतमिलते हैं।

इन संकेतों से यह समझा जा सकता है कि वेद भारतीय वैज्ञानिक परंपरा के प्रारंभिक स्रोतों में शामिल किए जा सकते हैं, जबकि समकालीन दृष्टिकोण से उनके विश्लेषण और अनुवाद में सतर्कता जरूरी है।

सामाजिक-धार्मिक संरचना पर वेदों का प्रभाव

वेदों ने वैदिक समाज के सांस्कृतिक और संस्थागत संरचना का निर्माण किया। यज्ञ-निर्भर सामाजिक व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था की धारणा का प्रारंभ और सामाजिक-नियमन के नियमों का आरंभिक आधार वेदों में मौजूद है।

- यज्ञ और समाज- यज्ञ एक धार्मिक क्रिया के साथ-साथ सामाजिक सम्मेलन, आर्थिक आदान-प्रदान और सामुदायिक व्यवस्था का केंद्र भी रहा।
- कूटनीति, नीति और कानून के प्रारंभिक स्वरूप- किसी हद तक शासन के अनुष्ठानों और सामुदायिक नियमों का मार्गदर्शन करता है ।
- वर्ण-व्यवस्था- कई शोधकर्ताओं के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की प्राथमिक संरचना कार्य के आधार पर थी, जो बाद में व्यवस्थित एवं जातिगत स्वरूप में बदल गई।वेदों की कथाएँ और नियमों ने भारतीय समाज की सोच और सामाजिक-संरचना पर स्थायी प्रभाव डाला।

वेद और उपनिषदः ज्ञान का अंतर्मुखी रूप

उपनिषद, जो वेदों के अंतिम खंड (आरण्यक/ उपनिषद्) के रूप में उभरे, वेदों के आंतरिक अर्थ, ब्रह्म-आत्म-सम्बन्ध और मुक्ति के प्रश्नों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। उपनिषदों ने इन्द्र-हिरण्यगर्भ, मण्डूक्य, चैत्यरिंद्र तथा अनेक अन्य सूक्तों के माध्यम से गहन चिंतन-प्रवृत्ति विकसित की। उपनिषदों की प्रवृत्ति 'ज्ञान-मार्ग' (ज्ञान-योग) की तरफ ले जाती है। व्यक्ति का केंद्र बिंदु है- आत्म-निरीक्षण, विवेक और तर्क से मुक्ति की प्राप्ति। उपनिषदों की भाषा और विचारधारा ने बाद के भौतिक तथा आध्यात्मिक स्कूलों को आकार दिया-जैसे सांख्य, योग, न्याय-दर्शन और वेदांत।

वेदों का साहित्यिक व काव्यात्मक आयाम

ऋग्वेद में कविताओं की एक समृद्ध परंपरा विद्यमान है। हिमालय की प्राकृतिक छवियां, देवताओं की स्तुति, ऋषियों की आत्म-व्याख्या और सामाजिक उत्सवों का प्रभावशाली चित्रण। सामवेद ने जब इन्हें संगीत में ढाला, तब काव्य-संगीत का एक नया दौर शुरू हुआ। वैदिक छन्द और मेट्रिकल विविधताएँ बाद की संस्कृत साहित्य, त्रिवेणी (नाट्य), और लोक-कथानक शैलियों की नींव बनीं। यही कारण है कि भारतीय काव्य-परंपरा का विकास वेदों से निकटता रखता है।

आधुनिक युग में वेदों पर कई आलोचनाएँ सामने आई हैं।

- ऐतिहासिक-वैज्ञानिक विश्लेषण: वेदों की तिथि, लिखावट के उपयोग और सांस्कृतिक विस्तार पर चर्चाएँ।
- नैतिक और सामाजिक विश्लेषण: वर्ण व्यवस्था तथा यज्ञ-केंद्रित सामाजिक ढांचे पर आश्चर्य।
- विवरण और अनुवाद की चुनौती: वैदिक भाषा की जटिलता और अर्थ के हस्तांतरण में बाधाएँ।

इन आलोचनाओं ने वेद-चर्चा को और अधिक विचारणीय बना दिया है और आधुनिक

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.021

विचार विमर्शों में वेदों की भूमिका का पुन: मूल्यांकन करना आवश्यक हो गया है।

वेद की प्रासंगिकता

वेदों की प्राचीनता और मौखिक स्वरूप उन्हें एक ऐतिहासिक-आध्यात्मिक स्रोत बनाते हैं। लेकिन उनकी वर्तमान उपयोगिता केवल संस्कृत-प्रदर्शन तक सीमित नहीं है:

नैतिक-आध्यात्मिक शिक्षा: आत्म-चिंतन, विवेकशीलता और जीवन के आदर्श से समकालीन नैतिक शिक्षा को प्रेरणा मिल सकती है।

पारिस्थितिकी और सतत जीवन के संकेत: प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का सिद्धांतस्थापित करता है।

भाषाई और शैक्षिक अध्ययन: वैदिक भाषा, छंद विज्ञान और मौखिक परंपराओं का अनुसंधान आज भी भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान और शिक्षा में लाभकारी है।

संस्कृतिक-संवाद: भारत के सांस्कृतिक इतिहास को समझने के लिए वेद अनिवार्य स्रोत हैं।

वेद-ज्ञान का नवप्रयोग

वेदों के संदर्भ में वर्तमान में कई शोध दिशाओं में प्रगतिशील हैं: भाषाई अध्ययन, कम्प्यूटेशनल अनुसंधान (टेक्स्ट-माइनिंग), तुलनात्मक धर्मशास्त्र, सांस्कृतिक इतिहास, और पुरातत्त्विक अध्ययन। ये शोध वेदों की साधारण-संशोधित समझ से हट कर उनकी जटिलताओं और ऐतिहासिक परतों को उजागर करते हैं।

अत: वेद भारतीय ज्ञान की परंपरा के धार्मिक और बहु आयामी ज्ञान के स्रोत हैं। वेदों की मौखिक परंपरा, भाषाई योगदान, दार्शनिक विचार और सामाजिक-आचार व्यवस्था पर उनका प्रभाव अनिवार्य और गहरा रहा है। उपनिषदों में दार्शनिक जनमानस के रूप में विकसित चिंतन ने भारतीय विचारधारा को नई दिशाएँ प्रदान कीं।

आधुनिक युग में, जबकि विधियों और तर्कों का स्वरूप बदल चुका है, वेदों की ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रासंगिकता बनी रहती है,चाहे वह भाषाई अध्ययन हो, पारिस्थितिकीय चिंतन या आध्यात्मिक अन्वेषण। उनकी समकालीन मूल्य इस पर निर्भर करेगी कि हम उनका विश्लेषण हैं।आधुनिक विज्ञान-समाज की दृष्टि से, शुद्ध आध्यात्मिक अध्ययन के रूप में, या इन दोनों को मिलाकर करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद संहिता. (विविध संस्करण). सायणभाष्य सहित। पुणे: आनंदाश्रम।
2. यजुर्वेद (शुक्ल/कृष्ण). (विविध संस्करण). वाराणसी: चौखम्बा।
3. सामवेद संहिता. (विविध संस्करण). मैसूर: महाराजा संस्कृत सीरीज़।
4. अथर्ववेद संहिता. (विविध संस्करण). कोलकाता: एशियाटिक सोसायटी।
5. पाणिनि. अष्टाध्यायी. काशिका वृत्ति सहित।
6. यास्क. निरुक्त. वाराणसी: चौखम्बा।
7. जैमिनि. मीमांसा सूत्र.
8. दासगुप्ता, एस. (1951). A History of Indian Philosophy. Cambridge.
9. चट्टोपाध्याय, डी. (1986). लोकायत: प्राचीन भारतीय भौतिकवाद. दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग।
10. शर्मा, चन्द्रधर. (2000). भारतीय दर्शन. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।
11. वात्स्यायन, कपिला. (2001). भारतीय कला और सौंदर्यशास्त्र. दिल्ली: साहित्य अकादेमी।
12. ओलिवेल, पी. (1998). The Early Upanishads. Oxford University Press.

पंडित भोलानाथ भट्ट जी का सांगीतिक योगदान बिहार के संदर्भ में

प्रो. के शशि कुमार*, डॉ. अंजू बाला**

साराश

भारतीय शास्त्रीय संगीत की परंपरा में बिहार का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इस परंपरा को सुदृढ करने में पंडित भोलानाथ भट्ट जैसे विद्वान कलाकारों की भूमिका उल्लेखनीय है। यह लेख पंडित भोलानाथ भट्ट जी के संगीत, व्यक्तित्व, गायन शैली, शैक्षणिक योगदान तथा बिहार की सांस्कृतिक परंपरा में उनके अमूल्य योगदान का उल्लेख किया गया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में खयाल गायकी को सबसे अधिक विकसित और अभिव्यक्ति पूर्ण गायन शैली माना जाता है। इस शैली का विकास उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हुआ जिनमें विहार का विशेष स्थान है।

सूचक शब्द : *बिहार, भोलानाथ भट्ट, संगीत, खयाल, दरभंगा, भारतीय, शास्त्रीय, गायकी, संस्कृति, राग*

पंडित भोलानाथ जी का संक्षिप्त परिचयः

पंडित भोलानाथ भट्ट जी बिहार के एक प्रतिष्ठित ख्याल गायक थे। वे शास्त्रीय संगीत की परंपरागत शिक्षा से प्रशिक्षित थे और गुरु शिष्य परंपरा में आस्था रखते थे। उनका जीवन पूर्णतः संगीत साधना को समर्पित रहा। उन्होंने सगीत को केवल कला नहीं बल्कि अनुशासन, साधना और संस्कृति का माध्यम माना।

पंडित भोलानाथ भट्ट जी का जन्म सन 1884 में बिहार राज्य के दरभंगा जिले में हुआ था। उनके पिता पंडित मोतीलाल भट्ट स्वयं एक कुशल ध्रुपद गायक थे। परिवार का वातावरण पूर्णता संगीतमय था। यही कारण था कि बाल्यावस्था से ही भोलानाथ भट्ट जी को संगीत के संस्कार सहज रूप से प्राप्त हुए। पिता और पितामह से उन्होने प्रारंभिक संगीत शिक्षा मिली जिससे उनकी नींव अत्यंत सुदृढ बनी।

गुरु परपरा और संगीत शिक्षाः

पंडित भोलानाथ भट्ट जी गुरु शिष्य परंपरा के सशक्त समर्थक थे। उन्होंने अपने शिष्यों को केवल राग और ताल ही नहीं सिखाए बल्कि संगीत के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों से भी परिचित कराया। वह मानते थे कि संगीत के शिक्षा में अनुशासन धैर्य और निरंतर अभ्यास अनिवार्य है।

गायन शैली और संगीत दृष्टिः

पंडित भोलानाथ भट्ट जी की गायन शैली गंभीर और अनुशासन से युक्त थी। उनके ख्याल गायन की प्रमुख विशेषताएं निम्न है

(पूर्व संकाय प्रमुख) : संगीत एवं मंच कला संकाय, गायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय
(पूर्व शोध छात्रा) : संगीत एवं मंच कला संकाय, गायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.022

१. राग के शुद्धता : यह राग की संरचना और स्वरूप को पूरी निष्ठा से प्रस्तुत करते थे। उनके गायन में राग की पहचान स्पष्ट रूप से उभरती थी, जिससे श्रोता राग के भाव को सहज रूप से अनुभव कर पाते थे।

२. आलाप और बोल आलाप : उनके आलाप में गहराई और ठहराव था। बोल आलाप में शब्द और स्वर का सुंदर समन्यय देखने को मिलता था जो उनकी विद्वता को दर्शाता था।

३. तान और लयकारी : इनकी गायकी में लय, ताल एवं तान, इन तीनों चीजों का सामंजस्य वड़े ही सुंदर ढंग से पयोग करते हुए देखने को मिलता था। वे लय और ताल का सतुलन बनाए रखते हुए तानों का प्रयोग करते थे. जिससे इनकी गायकी सौदर्यपूर्ण एवं प्रानावशाली बनता था।

गुरु परंपरा और संगीत शिक्षाः

पंडित भट्ट जी ने अनेक महान गुरुओं से विधिवत संगीत शिक्षा प्राप्त की। ध्रुपद - धमार की शिक्षा उन्हें भैया गणपत राव से मिली, जबकि ठुमरी की शिक्षा मोहिउद्दीन खाँ से प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उन्होंने उस्ताद वजीर खाँ, उस्ताद मीतू खाँ, और उस्ताद बुंदु खाँ जैसे महान संगीतजों से भी संगीत की बारीक शिक्षा ली।

उनके शिक्षा केवल एक शैली तक सीमित नहीं थी, बल्कि धुपद, धमार, खयाल, ठुमरी, दादरा, टप्पा, भजन, कजरी, चैती आदि सभी विधाओं में वे समान रूप से दक्ष थे।

जीवन संघर्ष और साधना का कलः

पिता के देहांत के बाद परिवार की समस्त जिम्मेदारियां पंडित भोलानाथ भट्ट जी पर आ गई। आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने संगीत साधना नहीं छोड़ी। पत्री के निधन के बाद वे मानसिक रूप से अत्यंत व्यथित हुए, किंतु अंततः संगीत को ही जीवन का आधार बनाकर पुनः साधना में प्रवृत हुए। वे अपने मामा के संरक्षण में रहे, जो स्वयं उस समय के एक उच्च कोटि के संगीतज्ञों में से एक थे। यहां रहकर उनकी संगीत साधना और अधिक परिपक्व हुई।

संगीत यात्राएं और अनुभवः

पडित भोलानाथ भट्ट जी ने कोलकाता, रामपुर, ग्वालियर जैसे प्रमुख संगीत केंद्रों की यात्राएं की। इन यात्राओं का उद्देश्य केवल प्रदर्शन नहीं था, बल्कि विभिन्न घरानों के शैलियों को समझना और उसे आत्मसात करना था। कोलकाता में उन्होंने अपनी प्रतिभा से वहाँ उपस्थित विद्वानों को चकित कर दिया। उनकी टप्पा गायकी इतनी तीव्र और अलकारिक होती थी कि अनेक गायक उसकी सरगम भी नहीं कर पाते थे।

ठुमरी और टप्पा में विशेष योगदानः

पंडित भट्ट जी की ठुमरी गायकी अत्यंत भावपूर्ण, रसात्मक और सौंदर्यपूर्ण थी। विशेष कर राग भैरवी और पीलू में उनकी ठुमरिया। श्रोताओं को भावविभोर कर देती थी। उनकी टप्पा गायकी में द्रुत लय, स्पष्ट उच्चारण और अलंकारों की प्रचुरता मिलती है जो उन्हें विशिष्ट बनाती है।

रचनात्मक प्रतिभाः

पंडित भोलानाथ भट्ट एक विलक्षण रचनाकार भी थे वे "दास" उपनाम से अपनी रचनाएं करते थे। 18 रागों पर आधारित उनकी रागमाला रचना भारतीय शास्त्रीय संगीत में अद्वितीय मानी जाती है। उनकी रचनाएं न केवल शास्त्रीय दृष्टि से समृद्ध थी, बल्कि उनमें भाव और भक्ति का अद्भुत समन्वय भी देखने को मिलता है। इनके द्वारा रचित अनेक तालबद्ध

बंदिशें गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से प्रचलित रही हैं। उनके द्वारा कुछ परंपरागत रूप में गायी-सिखायी जाने वाली बंदिशें उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं-

उदाहरण 1 : राग यमन तीनताल (16 मात्रा)

स्थायी

सकल बन फूल रही डारि रे,
श्याम सनेहि सुदृढ आधारि रे।

अंतरा

नैनन में छवि बसि गई मोहन की,
भोलानाथ गुण गावे अपारि रे॥
लय - मध्य
वादी - ग
संवादी - नि
आरोह निरे गम'ध नि सां
अवरोह: सा निधपम' ग रे सा
स्थायी (स्वर-निबद्ध)
सकल बन फूल रही डारि रे
धा (सम) - नि रे ग । म' म रे सा ।
श्याम सनेहि सुदृढ आधारि रे।
निरे गम' । पम' गरे । सा - ||
अंतरा (स्वर-निबद्ध)
नैनन में छवि बसि गई मोहन की,
पधनिसां सांनिधप। म' गरे गम'पम' ग ||
भोलानाथ गुण गावे अपारि रे॥
निरे गम' । पम' गरे ।
सा - (सम) ||

उदाहरण 2 : राग खमाज झपताल (10 मात्रा)

स्थायी

आज सजन घर आए, रंग रसीले मन भाए।

अंतरा

नैनों में सपने साजे, भोलानाथ प्रेम लुटाए॥
2 लय - मध्य
वादी - ग,
संवादी - नि
आरोह: सागमपधनिसां
अवरोह : सां नि (कोमल) धपमगरेसा

स्थायी

(स्वर-निबद्ध) आज सजन घर आए,
सा (सम) गम ।
पमग रंग रसीले मन भाए।
मगरेसा । ग-1।
अंतरा (स्वर-निबद्ध)
नैनों में सपने साजे,
पधनिसां सांनिध।
भोलानाथ प्रेम लुटाए ॥
पमगरे । सा (सम) ||

गुरु के रूप में योगदानः

इलाहाबाद (वर्तमान में प्रयागराज) को उन्होंने अपनी स्थाई कर्मभूमि बनाया। यहां उन्होंने अनेक योग्य शिष्यों को प्रशिक्षित किया जिन्होंने आगे चलकर भारतीय शास्त्रीय संगीत का व्यापक प्रचार प्रसार किया। उनकी शिक्षण शैली अत्यंत मौलिक थी। वे गायन के दौरान ही नई बंदिशों की रचना कर देते थे, जो उनकी विलक्षण प्रतिभको दर्शाती है।

आकाशवाणी एवं राष्ट्रीय सम्मान

आकाशवाणी ने उनकी प्रतिभा को विशेष मान्यता दी। वे नियमित कलाकार रहे और उन्हें विशेष श्रेणी में स्थान प्रदान किया गया। इससे उनकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और भी सुदृढ्ढ हुई।

१६ मई १९७० को प्रयागराज में इस महान संगीतज्ञ की आत्मा, परमात्मा में विलीन हो गई। उनकी इच्छा अनुसार उनका पार्थिव शरीर त्रिवेणी संगम के पवित्र धारा में प्रवाहित किया गया।

उप सहारा

पंडित भोलानाथ भट्ट भारतीय शास्त्रीय संगीत के ऐसे स्तंभ थे जिन्होंने परंपरा और नवाचार के बीच संतुलन स्थापित किया। उनका योगदान केवल एक ख्याल गायक के रूप में ही नहीं बल्कि एक सच्चे संगीत साधक और शिक्षक के रूप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका जीवन संघर्ष, साधना और समर्पण की प्रेरणादायक कथा है।

बिहार के सांस्कृतिक विरासत में उनका योगदान अस्थाई और प्रेरणास्पद है। उनका योगदान न केवल बिहार बल्कि सपूर्ण भारतीय संगीत जगत के लिए अमूल्य धरोहर है। आज भी उनकी गायकी, रचनाएं और शिक्षण परंपरा शास्त्रीय संगीत के विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए मार्गदर्शक बनी हुई है।

सदर्भ (References)

1. शर्मा, ओ. पी भारतीय शास्त्रीय सौगीत का इततहास
2. ठाकुर, रामाश्रय ख्याल गायकी परंपरा और विकास
3. गजेंद्र नारायण सिंह बिहार की संगीत परंपरा
4. भट्ट, भोलानाथ. (1985). बिहार की संगीत परंपरा और लोकधारा। पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी।
5. भट्ट, भोलानाथ. (1992). भारतीय शास्त्रीय संगीत: सिद्धांत और व्यवहार। वाराणसी: चौखंबा प्रकाशन।
6. झा, रामावताव र. (2001). बिहार का शास्त्रीय एवं लोकसंगीत। पटना: राष्ट्रभाषा परिषद्।
7. पाण्डेय, रामनरेश. (1998). लोकगीत और लोकजीवन। इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन।
8. मिश्र, विद्याधर. (2005). भोजपुरी लोकगीत परंपरा। वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन।
9. तिवारी, भोलानाथ. (1990). भारतीय लोकसंगीत। नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
10. दुबे, श्यामाचरण. (1982). भारतीय लोकसंस्कृति। नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
11. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (सम्पा.). (2010). बिहार की सांगीतिक विरासत। पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।

बनारस घराने में ठुमरी-दादरा की वंशावली

डॉ. अमृता जोशी'

सारांश

भारतीय शास्त्रीय संगीत की समृद्ध परंपरा में बनारस घराने की ठुमरी-दादरा गायकी का एक विशिष्ट और अपरिहार्य स्थान है। प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य बनारस घराने की ठुमरी के ऐतिहासिक विकास, इसकी उत्पत्ति और इसके 'पूरब अंग' की अनूठी विशेषताओं का सूक्ष्म विश्लेषण करना है। बनारस की ठुमरी अपनी भाव-प्रधानता, 'बोल-बनाव की शैली और काक प्रयोग के लिए विश्वविख्यात है। शोध आलेख में इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि किस प्रकार यह गायकी अवध के दरबारों से निकलकर काशी की आध्यात्मिक और सास्कृतिक गलियों में पल्लवित हुई। लेख में लखनऊ और बनारस की शैलियों के बीच के सूक्ष्म तकनीकी अंतरों को स्पष्ट करते हुए, बनारस के विभिन्न उप-घरानों जैसे पियरी घराना, तेलियाना घराना आदि की वंशावली पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, विशिष्ट रागों और बंदिशों के माध्यम से इस गायकी के क्रियात्मक पक्ष को भी स्वरलिपि सहित विवेचित किया गया है। यह आलेख यह सिद्ध करता है कि बनारस की ठुमरी केवल एक मनोरंजन की विधा नहीं, बल्कि मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त करने का एक गहन आध्यात्मिक साधन है, जो सदियों की गुरु-शिष्य परंपरा का प्रतिफल है।

मुख्य शब्द: ठुमरी, बनारस घराना, पूरब अग, बोल-बनाव, वंशावली, कथक।

प्रस्तावना

उत्तर भारतीय संगीत की लोकप्रिय गीत विधाओं में ठुमरी का स्थान सर्वोपरि है। यह स्वर और ताल के सहयोग से गीत के बोलों की भावाभिव्यक्ति की वह कला है, जिसे 'पदार्थाभिनय' के रूप में भी जाना जाता है। प्रारंभ में संगीतज्ञ इसे हेय दृष्टि से देखते थे, किंतु इसकी कलात्मकता ने शीघ्र ही इसे शास्त्रीय गौरव प्रदान किया । बनारस घराने की ठुमरी, जिसे 'पूरब अंग' की ठुमरी कहा जाता है, अपनी मंद लय, ठहराव और रंजकता के कारण अन्य शैलियों से भिन्न है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ठुमरी के उद्भव के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत है। सामान्य धारणा है कि 19वीं शताब्दी में अवध के नवाब वाजिद अली शाह के काल में लखनऊ दरबार से इसका जन्म हुआ। नवाब वाजिद अली शाह स्वयं 'अख्तर पिया उपनाम से ठुमरी रचना करते थे। परंतु ऐतिहासिक साक्ष्य यह भी बताते हैं कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नवाब आसफुद्दौला के समय भी ठुमरी के संकेत मिलते हैं।

मूल तर्क

यह आलेख इस प्रश्न का अन्वेषण करता है कि लखनऊ की 'बोल-बॉट' प्रधान ठुमरी से अलग चनारस की बोल-बनाव प्रधान ठुमरी ने अपनी स्वतंत्र पहचान किस प्रकार विकसित की और इसमें काशी के विभिन्न उप-घरानो का क्या योगदान रहा?

बनारस की ठुमरी गायकी, यहाँ की मिटटी, लोकतत्वों (चैती, कजरी) और कथक नृत्य की परपरा के सम्मिश्रण से निर्मित एक ऐसी स्वतंत्र वशावली है. जिसने ठुमरी को शास्त्रीय मर्यादा और आव-प्रवणता के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया है।

विषय वस्तु

1. ठुमरी का स्वरूप और बनारसी शैनी का विकास ठुमरी मूलत: एक श्रृंगार प्रधान विधा है, जिसमें रस', 'प्राण' और 'श्री' का अद्‌भुत संगम होता है। बनारस में ठुमरी का स्वतंत्र विकास अपेक्षाकृत लखनऊ के बाद, 19वीं शताब्दी के अंत और 20 शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। काशी प्राचीन काल से ही संगीत और संस्कृति का केंद्र रही है। यहाँ के मंदिरों, घाटों और रईसों की महफिलों में संगीत की अनवरत धारा प्रवाहित होती रही है।

बनारस में ठुमरी गायकी के विकास में कथक नर्तकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। काशी के कथक गुरुओं ने तवायफों को गायन और नृत्य की शिक्षा दी, जिससे गायकी में 'अदाकारी' का समावेश हुआ। पंडित बिंदादीन महाराज और महाराज कालिका प्रसाद जैसे महान कलाकारों का बनारस से गहरा संबंध था, जिन्होंने यहाँ ठुमरी की नींव को सुद्ध किया ।

2. पूरब अंग और बोल-बनाव: बनारसी ठुमरी की विशेषताएँ गायकी के आधार पर ठुमरी के दो मुख्य भेद माने जाते हैं:

1. बोल-बॉट की ठुमरी: यह गति प्रधान होती है और इसमें लयकारी का चमत्कार अधिक होता है। यह लखनऊ की विशेषता है।
2. बोत्र-बनाव की ठुमरी: यह साहित्य प्रधान और भाव पधान होती है। इसमे शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए स्वरों का विभिन्न प्रकार से विस्तार किया जाता है।

ठुमरी शैनियों का तुननात्मक वर्गीकरण

विशेषता बोन-बाँट (नखनऊ अंग) बोन-बनाव (बनारस/पूरब अंग)

मुख्य तत्व	लयकारी और छद	भाव और साहित्य
प्रस्तुति	नृत्य के साथ खड़े होकर	बैठकर भाव-प्रदर्शन
नय	मध्य और द्रुत	विलंबित और शांत
प्रभाव	चपलता और चमत्कार	ठहराव और रंजकता

बनारस की ठुमरी में 'काकु' प्रयोग सर्वश्रेष्ठ विशेषता है, जिससे सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति होती है। इसमे रागों का मिश्रण अत्यंत सावधानी से किया जाता है। मुख्य रूप से भैरवी, पीलू, खमाज, गारा, झिंझोटी, और तिलक कामोद जैसे रागों का प्रयोग होता है।

3. काशी के प्रमुख उप-धराने और वंशावनी बनारस की ठुमरी गायकी किसी एक परिवार तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसमें कई धाराओं (उप-घरानों) का संगम हुआ:

पियरी घराना: इस घराने के प्रवर्तक पंडित दिलाराम मिश्र थे (16वीं शताब्दी)। इनके वशजों ने ठुमरी, टप्पा और ख्याल को समृद्ध किया ।

शिवदास-प्रयाग जी घराना: पंडित शिवदास और पयाग जी ने काशी नरेश के दरबार में कला का प्रदर्शन किया और इस परपरा को आगे बढ़ाया ।

जगदीप मिश्र घराना: श्री जगदीप मिश्र आजमगढ़ के निवासी थे और बनारस अंग की ठुमरी गायकी के प्रथम गायको में गिने जाते थे।

तेनियाना घराना काशी के तेलियाना (शिवाला) मोहल्ले में उस्ताद आशिक अली खाँ और मुश्ताक अली खाँ ने बीन और दुपद के साथ-साथ ठुमरी की निजी शैली विकसित की ।

मथुराजी मिश्र घराना: इनके पूर्वज पसासी के 'मिसिर' कहलाते थे। इस घराने ने टप्पा-ठुमरी के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान दिया ।

4. बंदिश विश्लेषण एवं स्वरलिपि बनारस की ठुमरी में बोलों के उच्चारण और उनके अर्थ विस्तार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उदाहरण के लिए, राग मिश्र खमाज में निबद्ध यह प्रसिद्ध बंदिश देखें:

स्थायी: पिराये मोरी औखया, राजा हमसे न बोलो "

अंतरा: "रात कहे पिया झुलनी गढ़ा दूँ,

होत बिहान विसर गयी बतिया।"

यहाँ पिराये शब्द पर गायक विभिन्न स्वरों के माध्यम से पीडा और उलाहना का आव प्रकट करता है।

स्वरलिपि (राग मिश्र खमाज दादरा ताल):

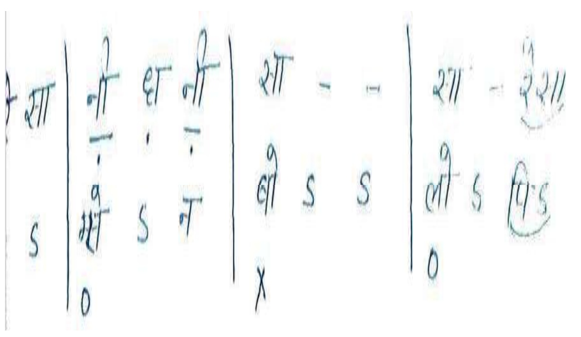

इसी प्रकार बाबुल मोरा नैहर छूटो ही जाय' जैसी कालजयी बंदिशें बनारस के कलाकारों द्वारा अत्यंत करुण रस के साथ गायी जाती है।

5. बोकतत्वों का प्रभाव बनारस की ठुमरी अपनी जड़ो से जुड़ी है। इसमें उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों की बोलियों जैसे भोजपुरी, अवधी और बघेली का गहरा प्रभाव है।

चैती, कजरी, सावन, और झूमर जैसी लोक विद्याओं ने ठुमरी को एक नया आयाम दिया है।

निष्कर्ष

बनारस घराने की ठुमरी-दादरा गायकी भारतीय शास्त्रीय संगीत का वह अमूल्य रत्न है, जिसमें शास्त्र की कठोरता और लोक की सरलता का अद्भुत समन्वय मिलता है। इस शोध आलेख के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि बनारस ने ठुमरी को केवल एक विधा के रूप में नहीं, बल्कि 'पूरब अंग' की एक स्वतंत्र संस्कृति के रूप में जीवित रखा है। यहाँ की वंशावली में गुरु-शिष्य परंपरा का अटूट क्रम आज भी विद्यमान है, जिसने उस्ताद मौजुद्दीन खाँ, पंडित महादेव प्रसाद मिश्र और गिरिजा देवी जैसे महान कलाकार समाज को दिए है।

महत्व: यह शोध भारतीय कला के क्षेत्र में इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तकनीक से परे 'भाव' की प्रधानता को पुनर्स्थापित करता है। बनारस की ठुमरी मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त करने का एक श्रेष्ठ माध्यम है।

भविष्य का कार्यक्षेत्र: आगामी शोध में बनारस घराने की ठुमरी पर अन्य घरानों (जैसे पटियाला या गया) के तुलनात्मक प्रभाव और आधुनिक समय में इसके बदल स्वरूप पर विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.023

संदभक ग्रंथ सूची

1. भातखंडे, विष्णु नारायण; क्रमिक पुस्तक मालिका, भाग-3।
2. जौहरी, डॉ. रेनू; भारतीय सांगीतिक जगत् में वाराणसी का योगदान ।
3. मिश्र, पंडित कामेश्वर नाथ; *काशी की संगीत परमपरा* ।
4. मिश्र, शम्भू नाथ; सात सुर सिाईस दायरे ।

पत्रिकाएँ:

1. अग्रवाल, शशिप्रभा; "शास्त्रीय संगीत में ठुमरी का स्थान", संगीत माशसक, मई-1963।
2. दुबे, सुदामा प्रसाद; "क्षितिज", संगीत मासिक, जनवरी-फरवरी 1947।
3. मिश्र, पंडित विजय शंकर; "ठुमरी (शीर्षक)", संगीत कला विहार, मार्च 2009।
4. शर्मा, कादम्बरी; "गायन में शब्द का महत्त्व", संगीत कला विहार, फरवरी-1981।

पंडित रविशंकर का 'सितार और ऑर्केस्ट्रा के लिए कंसर्टो': भारतीय राग परंपरा और पश्चिमी सामंजस्य का सृजनात्मक संवाद''

मीना कुमारी*, प्रोफेसर (डॉ) राजेश शाह**

सारंस

बीसवीं शताब्दी के संगीत जगत में पंडित रविशंकर एक ऐसे प्रकाश-स्तंभ के रूप में उभरे, जिन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत को वैश्विक मंच पर स्थापित किया। उनकी रचनात्मक यात्रा का एक महत्वपूर्ण पड़ाव 1971 में लंदन सिम्फनी ऑर्केस्ट्रा के साथ प्रस्तुत 'सितार और ऑर्केस्ट्रा के लिए कंसर्टो' (Concerto for Sitar & Orchestra) है। यह शोध पत्र इस ऐतिहासिक रचना का गहन संरचनात्मक और सैद्धांतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह जाँचना है कि पंडित रविशंकर ने भारतीय रागों की जटिल और सूक्ष्म मेलोडिक संरचनाओं को पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा की हार्मोनिक और पॉलीफोनिक परंपरा के साथ किस प्रकार एकीकृत किया।

इस विश्लेषण में रागों के पारंपरिक तत्व - जैसे आलाप, जोड़, झाला, वादी-संवादी संबंध और रस को ऑर्केस्ट्रा के वाद्य-विन्यास, बनावट (texture) और प्रतिध्वनि (counterpoint) जैसी तकनीकों के संदर्भ में परखा गया है। शोध में यह पाया गया है कि पंडित रविशंकर ने पश्चिमी सामंजस्य के पारंपरिक त्रय-केंद्रित दृष्टिकोण को अपनाने के बजाय, राग के आंतरिक स्वरूप एवं नियमों का पालन करते हुए एक अभिनव 'मेलोडी-केंद्रित सामंजस्य' (melody-based harmony) का निर्माण किया, जो आगे चलकर 'मेलहार्मनी' जैसी अवधारणाओं का अग्रदूत सिद्ध हुआ। यह रचना केवल दो संगीत परंपराओं का सतही विलय नहीं है, बल्कि एक गहन संरचनात्मक संवाद है, जिसमें दोनों प्रणालियों की आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए एक नई सौंदर्यशास्त्रीय भाषा का सृजन किया गया है।

मुख्य शब्द: पंडित रविशंकर, सितार कंसर्टो, राग, ऑर्केस्ट्रा, प्रतिध्वनि (काउंटरपॉइंट), मेलहार्मनी, भारतीय शास्त्रीय संगीत, पश्चिमी शास्त्रीय संगीत, सांस्कृतिक संवाद, राग खमाज, राग सिंधी भैरवी।

1. परिचय

भारतीय शास्त्रीय संगीत, जिसकी जड़ें वेदों तक जाती हैं, मुख्य रूप से एक मेलोडिक (melodic) या स्वर-प्रधान प्रणाली है। इसकी आत्मा 'राग' में बसती है, जो केवल स्वरों का एक पैमाना नहीं, बल्कि एक जीवंत सत्ता है, जिसका

*शोध छात्रा, वाद्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, ईमेल : meenakumari1091@gmail.com; मोबाइल: 9369834051

**शोध निर्देशक, विभागाध्यक्ष, वाद्य विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अपना व्यक्तित्व, भाव (रस) और प्रस्तुति का समय होता है। इसके विपरीत, पश्चिमी शास्त्रीय संगीत की परंपरा सामंजस्य (harmony) और प्रतिध्वनि (counterpoint) पर केंद्रित रही है, जहाँ कई स्वतंत्र स्वर-रेखाएँ एक साथ मिलकर एक ऊर्ध्वाधर (vertical) संगीतमय संरचना का निर्माण करती हैं। इन दो महान संगीत प्रणालियों को, जिन्हें अक्सर "तेल और पानी" की तरह अमिश्रणीय माना जाता था, एक साथ लाने का साहसिक और ऐतिहासिक प्रयास पंडित रविशंकर ने अपने 'सितार और ऑर्केस्ट्रा के लिए कंसर्टी' में किया।

1971 में पंडित रविशंकर और कंडक्टर आंद्रे प्रेविन के संचालन में लंदन सिम्फनी ऑर्केस्ट्रा के साथ रिकॉर्ड की गई यह रचना, विश्व संगीत के इतिहास में एक मील का पत्थर है। यह उस दौर में आई जब शंकर, जॉर्ज हैरिसन के साथ अपने जुड़ाव के कारण, पश्चिम में भारतीय संगीत के सबसे बड़े ध्वजवाहक बन चुके थे। यह कंसर्टो उनके पूर्व के चैम्बर संगीत प्रयोगों- जैसे वायलिन वादक यहूदी मेनुहिन के साथ 'वेस्ट मीङ्ग ईस्ट' एल्बम का एक सामंजस्यपूर्ण और वृहत विस्तार था। इस रचना के माध्यम से पंडित रविशंकर ने न केवल सितार को एक एकल वाद्य के रूप में पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा के समक्ष स्थापित किया, बल्कि भारतीय रागदारी संगीत के सैद्धांतिक ढाँचे को एक सिम्फोनिक कैनवास पर अंकित करने की चुनौती भी स्वीकार की।

यह शोध पत्र इस कंसर्टी का एक बहु-आयामी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह केवल एक संगीत-समीक्षा नहीं, बल्कि एक अकादमिक अध्ययन है, जो निम्नलिखित प्रश्नों पर केंद्रित है-

1. पंडित रविशंकर ने राग के मेलोडिक नियमों (जैसे आरोह-अवरोह, वर्जित स्वर, पकड़) को 100-सदस्यीय ऑर्केस्ट्रा के लिए किस प्रकार अनुरूपित किया?
2. उन्होंने भारतीय संगीत के आलाप, जोड़ और झाला जैसे संरचनात्मक तत्वों को कंसर्टी के प्रारूप में कैसे ढाला?
3. क्या उन्होंने पश्चिमी काउंटरपॉइंट के सिद्धांतों का पालन किया, या राग की प्रकृति के अनुरूप एक नई प्रतिध्वन्यात्मक भाषा विकसित की?
4. यह रचना आगे चलकर विकसित हुई 'मेलहार्मनी' (Melharmony) और 'राग हार्मनी' (Raga Harmony) जैसी अवधारणाओं का पूर्वाभास किस प्रकार कराती है?

2. सैद्धांतिक पृष्ठभूमिः दो संगीत सिद्धांतों का वैश्विक संवाद

पंडित रविशंकर के कंसर्टी के विश्लेषण से पूर्व, भारतीय और पश्चिमी संगीत प्रणालियों के मूलभूत अंतर को समझना आवश्यक है। यह अंतर केवल वाद्ययंत्रों या प्रस्तुति शैली का नहीं, बल्कि उनके मूल दर्शन और संरचनात्मक सिद्धांतों का है।

2.1 भारतीय राग प्रणालीः एक स्वरपूर्ण ब्रह्मांड

भारतीय शास्त्रीय संगीत की इकाई 'राग' है। 'राग' शब्द संस्कृत की 'रज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'रंगना' या 'मन को प्रसन्न करना'। यह स्वरों का ऐसा संयोजन है जो श्रोता के चित्त का रंजन करता है। प्रत्येक राग की अपनी विशिष्ट संरचना होती है, जिसमें निम्नलिखित तत्व शामिल होते हैं-

स्वर और सप्तक:

आधुनिक भारतीय संगीत में सप्तक में सात शुद्ध (सा, रे, ग, म, प, ध, नि) और पाँच विकृत (कोमल रे, ग, ध, नि तथा तीव्र म) मिलाकर कुल 12 स्वर होते हैं। राग इन्हीं स्वरों के विशिष्ट चयन पर आधारित होता है।

आरोह-अवरोह:

प्रत्येक राग में स्वरों का एक निश्चित चढ़ने (आरोह) और उतरने (अवरोह) का क्रम होता है, जो रैखिक (linear) या वक्र (non-linear) हो सकता है।

वादी और संवादी:

राग में एक 'राजा' स्वर (वादी) और एक 'मंत्री' स्वर (संवादी) होता है, जिन पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। ये स्वर राग के चरित्र को निर्धारित करते हैं।

पकड़:

स्वरों का एक छोटा, विशिष्ट समूह जो तुरंत राग की पहचान कराता है।

समय और रस:

परंपरागत रूप से प्रत्येक राग को दिन या रात के एक विशेष प्रहर में गाया-बजाया जाता है तथा यह किसी विशेष भाव या 'रस' (जैसे श्रृंगार, करुण, वीर) से जुड़ा होता है।

सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय संगीत क्षैतिज (horizontal) रूप से विकसित होता है। यहाँ एक समय में एक ही मुख्य स्वर-रेखा (melody) होती है, जिसे तानपूरे के ड्रोन (drone) का आधार प्राप्त होता है। अलंकरण (गमक, मींड, कण) और आशुरचना (improvisation) इसकी आत्मा हैं।

2.2 पश्चिमी सामंजस्य और प्रतिध्वनि: एक ऊर्ध्वाधर संरचना

पश्चिमी शास्त्रीय संगीत, विशेष रूप से बारोक (Baroque) काल के बाद, ऊर्ध्वाधर (vertical) आयाम पर केंद्रित रहा है। इसकी प्रमुख अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं-

सामंजस्य (Harmony):

एक ही समय में कई स्वरों का एक साथ बजना, जिससे कॉर्ड्स (chords) का निर्माण होता है। यह संगीत को गहराई और बनावट प्रदान करता है। पश्चिमी संगीत का आधार त्रय-केंद्रित (triad-centric) सामंजस्य है, जैसे C-E-G कॉर्ड।

प्रतिध्वनि (Counterpoint):

दो या दो से अधिक स्वतंत्र, किंतु आपस में सामंजस्यपूर्ण रूप से आश्रित, मेलोडिक रेखाओं का एक साथ चलना। यह तकनीक पालेस्ट्रिना (Palestrina) के समय में विकसित हुई और योहान सेबास्टियन बाख (J. S. Bach) के कार्यों, विशेष रूप से फ्यूग (fugue), में अपने चरम पर पहुँची।

काउंटरपॉइंट के अध्ययन के लिए 'स्पीशीज़ काउंटरपॉइंट' (Species Counterpoint) नामक एक शैक्षणिक प्रणाली विकसित की गई, जिसे योहान जोसेफ फुक्स (Johann Joseph Fux) ने अपने ग्रंथ Gradus ad Parnassum (1725) में संहिताबद्ध किया। इसमें विभिन्न प्रकार की गतियों (contrary, parallel, oblique) तथा डिसोनेंस (dissonance) के प्रबंधन के कठोर नियम निर्धारित हैं।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.024

2.3 संवाद की चुनौतियाँ

इन दोनों प्रणालियों का विलय अनेक सैद्धांतिक चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है। भारतीय रागों के सूक्ष्म-स्वर (श्रुति) और गमक (oscillations), पश्चिमी संगीत के स्थिर और समान स्वभाव वाले (equal-tempered) स्वरों के साथ सीधे तौर पर संगत नहीं होते। किसी राग का विशिष्ट आरोह-अवरोह या वर्जित स्वर, पश्चिमी कॉर्ड-प्रोग्रेशन (chord progression) के तर्क का खंडन कर सकता है। उदाहरण के लिए, कर्नाटक पद्धति के राग बिलावरी का आरोह (SRGPDS) और अवरोह (SNDPMGR S) भिन्न हैं, जिससे मानक G-B-D कॉर्ड का प्रयोग, भले ही B (नि) अवरोह में उपस्थित हो, राग की प्रकृति के विरुद्ध होगा। पंडित रविशंकर का यह कंसर्टो इन्हीं चुनौतियों का सामना करने और उनका रचनात्मक समाधान खोजने का एक अभूतपूर्व प्रयास था।

3. 'सितार और ऑर्केस्ट्रा के लिए कंसर्टो': एक संरचनात्मक विश्लेषण

यह कंसर्टो चार भागों (movements) में विभाजित है, जिनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट राग पर आधारित है। पंडित रविशंकर ने अपने गुरु उस्ताद अलाउद्दीन ख़ान को समर्पित इस रचना में, ख़ान साहब की एक बंदिश 'राग माज खमाज' को भी सम्मिलित किया है। इसकी संरचना पश्चिमी कंसर्टो के प्रारूप का अनुसरण करती है, किंतु इसकी आंतरिक आत्मा पूर्णतः भारतीय है।

3.1 प्रथम भाग (First Movement): राग खमाज

कंसर्टो की शुरुआत राग खमाज से होती है। खमाज एक श्रृंगार-रस प्रधान तथा चंचल प्रकृति का राग है, जिसका प्रयोग प्रायः ठुमरी जैसी उपशास्त्रीय विधाओं में किया जाता है। पंडित रविशंकर ने इस भाग को पारंपरिक भारतीय शास्त्रीय प्रस्तुति की संरचना- आलाप, जोड़ और झाला- में ढाला है।

*3.1.1 आलापः राग की स्थापना***

इस भाग की शुरुआत सितार के धीमे और ध्यानपूर्ण आलाप से होती है। यहाँ ऑर्केस्ट्रा पृष्ठभूमि में एक ड्रोन (drone) का प्रभाव उत्पन्न करता है, जो तानपूरे की प्रतिध्वनि है। स्ट्रिंग सेक्शन (वायलिन, सेलो) लंबे, स्थिर नोट्स बजाते हैं, जो राग के आधार स्वर 'सा' और 'प' को स्थापित करते हैं। यह इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण है कि किस प्रकार पंडित रविशंकर ने ऑर्केस्ट्रा का उपयोग एक भारतीय संगीत तत्व को पुनः सृजित करने के लिए किया। सितार धीरे-धीरे खमाज के स्वरों को, विशेष रूप से कोमल निषाद (नि) के विशिष्ट प्रयोग के साथ, उजागर करता है, जिससे राग का वातावरण निर्मित होता है। यहाँ ऑर्केस्ट्रा और सितार के बीच संबंध प्रश्न-उत्तर जैसा नहीं, बल्कि आधार और उस पर चित्रित होती रंगोली जैसा प्रतीत होता है।

3.1.2 जोड़ और झालाः लय और प्रतिध्वनि का विकास

जैसे ही 'जोड़' खंड प्रारंभ होता है, संगीत में एक लयबद्ध गति आती है और ऑर्केस्ट्रा की भूमिका अधिक सक्रिय हो जाती है। वुडविंड (बांसुरी, ओबो) और स्ट्रिंग्स, सितार द्वारा प्रस्तुत की जा रही छोटी-छोटी स्वर-श्रृंखलाओं की नकल (imitation) करते हैं अथवा उन पर प्रतिधुन (counter-melodies) प्रस्तुत करते हैं। यह एक प्रकार का 'मुक्त काउंटरपॉइंट' है, जो बाख की फ्यूग जितना कठोर नहीं, किंतु

विभिन्न वाद्य-वर्गों के बीच जीवंत संवाद स्थापित करता है। 'झाला' के तीव्र खंड में यह संवाद अपने चरम पर पहुँच जाता है। सितार अपनी तीव्र गति की झाला बजाता है, जबकि ऑर्केस्ट्रा विशेषत: पर्कशन (जैसे तबले के स्थान पर बॉन्गो का प्रयोग) और पिज़िकाटो स्ट्रिंग्स (pizzicato strings)- एक जटिल लयबद्ध जाल बुनते हैं। यहाँ ऑर्केस्ट्रा केवल सामंजस्य प्रदान नहीं करता, बल्कि सितार के साथ लयबद्ध प्रतिध्वनि (rhythmic counterpoint) में संलग्न होता है। यह भारतीय ताल और पश्चिमी पॉलीरिदम (polyrhythm) का एक अनूठा संगम है।

3.2 द्वितीय भाग (Second Movement): राग सिंधी भैरवी

दूसरा भाग राग सिंधी भैरवी पर आधारित है, जो भैरवी थाट का एक करुण तथा भक्ति-रस प्रधान राग है। यह भाग अपेक्षाकृत छोटा और अधिक गीतात्मक (lyrical) स्वरूप का है। यहाँ पंडित रविशंकर ऑर्केस्ट्रा की हार्मोनिक क्षमताओं का अत्यंत सूक्ष्मता से प्रयोग करते हैं। सिंधी भैरवी में सभी बारह स्वरों का प्रयोग संभव है, जिससे हार्मोनिक संभावनाएँ विस्तृत हो जाती हैं। इस भाग में सितार एक भावपूर्ण, करुण धुन प्रस्तुत करता है, जबकि ऑर्केस्ट्रा - विशेष रूप से फ्रेंच हॉर्न और बांसुरी - एक उदास और कोमल पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। यहाँ सामंजस्य सीधे-सीधे राग के स्वरों से उत्पन्न होता है और किसी भी बिंदु पर यह राग की मेलोडिक रेखा पर हावी नहीं होता। एक विश्लेषण के अनुसार, सिंधी भैरवी में कोमल ऋषभ (Rb) का प्रयोग इसे पश्चिमी 'फ्रिजियन मोड' (Phrygian mode) के निकट ले जाता है, जिससे एक विशिष्ट विषादपूर्ण ध्वनि उत्पन्न होती। पंडित रविशंकर ने इस समानता का उपयोग ऑर्केस्ट्रा के लिए ऐसी हार्मोनिक बनावट रचने में किया जो पश्चिमी श्रोताओं को परिचित लगे, किंतु राग की भारतीय आत्मा को अक्षुण्ण बनाए रखे।

3.3 तृतीय भाग (Third Movement): राग अड़ाना

यह कंसर्टो का सबसे छोटा किंतु सर्वाधिक ऊर्जावान भाग है, जो कान्हड़ा अंग के वीर-रस प्रधान राग अड़ाना पर आधारित है। इसकी तीव्र लय और नाटकीयता इसे कंसर्टो का अत्यंत रोमांचक खंड बनाती है। यहाँ सितार और ऑर्केस्ट्रा के मध्य एक तीव्र 'सवाल-जवाब' अथवा जुगलबंदी का स्वरूप उभरता है। इस भाग में ब्रास सेक्शन (ट्रम्पेट, ट्रॉम्बोन) तथा पर्कशन का प्रभावशाली प्रयोग किया गया है, जो संगीत को सिम्फोनिक भव्यता प्रदान करता है। प्रतिध्वनि (counterpoint) का प्रयोग यहाँ सबसे स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। सितार एक तीव्र तान प्रस्तुत करता है और ऑर्केस्ट्रा के विभिन्न खंड उस तान के टुकड़ों को दोहराते हैं, उलटते हैं (inversion) अथवा उसके विरुद्ध नई धुनें प्रस्तुत करते हैं। यह प्रक्रिया फ्यूग की 'स्ट्रेट्टो' (stretto) तकनीक से साम्य रखती है, जिसमें विषय (subject) के प्रवेश एक-दूसरे पर अध्यारोपित होते हैं, जिससे संगीतमय तनाव में वृद्धि होती है। यद्यपि यह एक औपचारिक फ्यूग नहीं है, तथापि इसकी भावना और तकनीक स्पष्ट रूप से प्रतिध्वन्यात्मक है।

3.4 चतुर्थ भाग (Fourth Movement): राग माज खमाज

अंतिम भाग राग माज खमाज पर आधारित है, जो उस्ताद अलाउद्दीन ख़ान की एक रचना से प्रेरित है। यह भाग पहले भाग के खमाज में पुन: लौटता है, किंतु अधिक परिपक्व और

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.024

विकसित स्वरूप में। इस खंड में कंसर्टो के सभी तत्व - गीतात्मकता, लयबद्ध जटिलता और ऑर्केस्ट्रा की भव्यता - एक साथ साकार होते हैं। इस भाग में पंडित रविशंकर ने सितार के लिए आशुरचना (improvisation) की पर्याप्त स्वतंत्रता छोड़ी है, जो भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक अनिवार्य अंग है। ऑर्केस्ट्रा एक निश्चित संरचनात्मक ढाँचा प्रदान करता है, जिसके भीतर सितार वादक को अपनी रचनात्मकता व्यक्त करने का अवसर मिलता है। यह पश्चिमी कंसर्टो की 'कैडेंज़ा' (cadenza) की अवधारणा के समकक्ष है, किंतु इसकी जड़ें भारतीय संगीत की आशुरचनात्मक परंपरा में निहित हैं। रचना का समापन एक भव्य और लयबद्ध तिहाई के साथ होता है, जिसमें पूरा ऑर्केस्ट्रा सितार के साथ सम्मिलित होता है। यह क्षण दो महान संगीत परंपराओं के सफल संगम का सशक्त प्रतीक बनकर उभरता है।

4. संवाद और नवाचार: काउंटरपॉइंट से मेलहार्मनी तक

पंडित रविशंकर का यह कंसर्टो केवल रागों का ऑर्केस्ट्रा अनुरूपण नहीं है; यह सामंजस्य और प्रतिध्वनि की एक नई अवधारणा का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। जैसा कि आगे चलकर संगीतज्ञों- जैसे चित्रवीणा एन. रविकिरण और रॉबर्ट मॉरिस ने 'मेलहार्मनी' के सिद्धांत को औपचारिक रूप प्रदान किया, उसका मूल विचार यह है कि सामंजस्य को राग के मेलोडिक नियमों से ही उत्पन्न किया जाना चाहिए।

मेलहार्मनी के सिद्धांत तीन मूलभूत आधारों पर स्थापित हैं-

1. राग की भावात्मक प्रकृति को अभिव्यक्त करने वाले कॉर्ड्स अथवा काउंटरपॉइंट का निर्माण।
2. त्रय (triads) के यांत्रिक प्रयोग से परहेज़, जो राग के नियमों का उल्लंघन करते हों।
3. यह सुनिश्चित करना कि कॉर्ड्स और प्रतिध्वनि पश्चिमी दृष्टिकोण से भी सुरीले और संगत प्रतीत हों।

पंडित रविशंकर का यह कंसर्टो, मेलहार्मनी के औपचारिक रूप से परिभाषित होने से कई दशक पूर्व ही, इन सिद्धांतों को सहज रूप में व्यवहार में उतारता है। उन्होंने ऑर्केस्ट्रा का प्रयोग एक 'सुपर-इंस्ट्रूमेंट' के रूप में किया, जो तानपूरे का ड्रोन, तबले की लय और सारंगी की प्रतिधुन- इन सभी भूमिकाओं को एक साथ निभाने में सक्षम है। उन्होंने पश्चिमी काउंटरपॉइंट के कठोर नियमों (जैसे स्पीशीज़ काउंटरपॉइंट) को शब्दश: लागू करने के बजाय, उसकी संवादात्मक भावना को अपनाया। ऑर्केस्ट्रा की विभिन्न स्वर-रेखाएँ एक-दूसरे से संवाद करती हैं, किंतु उनका व्याकरण राग के नियमों द्वारा निर्धारित रहता है।

एक समीक्षक के शब्दों में-

"पंडित रविशंकर का कंसर्टो एक संगीत परंपरा को दूसरी में ढालने का एक सम्मोहक, लगभग पाठ्यपुस्तक-सदृश आदर्श उदाहरण है... वे पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा का कल्पनाशील उपयोग करते हैं। कभी-कभी वे समकक्षताओं की खोज करते हैं- बॉन्गो तबले का कार्य करते हैं; दो हार्प सितार की प्रतिध्वनि करते हुए सेक्शन बजाते हैं; स्ट्रिंग्स तानपूरे के ड्रोन को भर देती हैं।"

यह रचना यह दर्शाती है कि सामंजस्य केवल ऊर्ध्वाधर कॉर्ड्स का संकलन नहीं है, बल्कि क्षैतिज मेलोडिक रेखाओं की परस्पर क्रिया से भी उत्पन्न हो सकता है। यह दृष्टिकोण शेंकरियन विश्लेषण (Schenkerian analysis) के कुछ विचारों से मेल खाता है, जो संगीत को मूलभूत

मेलोडिक संरचनाओं के विस्तार के रूप में देखता है। इस प्रकार, पंडित रविशंकर का यह कंसर्टो भारतीय मेलोडी और पश्चिमी हार्मनी के बीच एक सेतु का निर्माण करता है, जो दोनों परंपराओं को समृद्ध करता है।

5. निष्कर्ष

पंडित रविशंकर का 'सितार और ऑर्केस्ट्रा के लिए कंसर्टो' दो महान संगीत परंपराओं के बीच एक गहरे, संतुलित और सम्मानजनक संवाद का प्रतिनिधित्व करता है। यह केवल एक सतही 'फ्यूज़न' नहीं है, बल्कि एक गहन संरचनात्मक एकीकरण है, जिसमें भारतीय राग प्रणाली की आत्मा को पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा के विशाल कैनवास पर सफलतापूर्वक अंकित किया गया है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि पंडित रविशंकर ने राग के मेलोडिक तर्क को सर्वोपरि रखा। उन्होंने पश्चिमी हार्मनी को राग पर आरोपित करने के स्थान पर, राग के स्वरों और वाक्यांशों से ही एक नवीन मेलोडी-केंद्रित हार्मनी का निर्माण किया। ऑर्केस्ट्रा का उपयोग उन्होंने केवल संगति के लिए नहीं, बल्कि एक विस्तारित भारतीय संगीत समूह के रूप में किया, जिसमें विभिन्न वाद्य-वर्ग प्रतिध्वनि (counterpoint), ड्रोन और लयबद्ध जटिलताओं के माध्यम से सितार के साथ जीवंत संवाद स्थापित करते हैं।

आलाप-जोड़-झाला जैसी पारंपरिक भारतीय संरचनाओं को कंसर्टो के पश्चिमी प्रारूप में ढालकर, उन्होंने ऐसा रूप निर्मित किया जो दोनों परंपराओं के श्रोताओं के लिए सुगम और अर्थपूर्ण सिद्ध हुआ। यह कंसर्टो आगे चलकर विकसित हुई 'मेलहार्मनी' और 'राग हार्मनी' जैसी सैद्धांतिक अवधारणाओं का एक व्यावहारिक पूर्वसंकेत भी है। इस रचना ने यह सिद्ध किया कि मेलोडी और हार्मनी का संबंध विरोधाभासी होने के बजाय सहजीवी हो सकता है। इसने भविष्य के संगीतकारों और संगीतविदों के लिए अंतर-सांस्कृतिक सहयोग के नए मार्ग प्रशस्त किए तथा यह प्रमाणित किया कि संगीत वास्तव में एक सार्वभौमिक भाषा है, जो सांस्कृतिक सीमाओं को पार करने की क्षमता रखती है। अंततः, यह कृति पंडित रविशंकर की दूरदर्शी प्रतिभा और संगीत के प्रति उनके असीम समर्पण का स्थायी प्रमाण है, जो आज भी विश्व भर के संगीतकारों और श्रोताओं को प्रेरित करता है।

संदर्भ सूची (References)

[1] Clayton, Martin. Time in Indian Music: Rhythm, Metre, and Form in North Indian Rag Performance. Oxford University Press, 2000.

[2] Jairazbhoy, Nazir Ali. The Rags of North Indian Music: Their Structure and Evolution. Popular Prakashan, 1995.

[3] Shankar, Ravi. My Music, My Life. Mandala Publishing, 1968.

[4] Slawek, Stephen. "Ravi Shankar and the Sitar." Asian Music, Vol. 17, No. 2, 1986, pp. 61-74.

[5] Bor, Joep. The Raga Guide. Nimbus Records, 1999.

[6] Rowell, Lewis. Music and Musical Thought in Early India. University of Chicago Press, 1992.

[7] Arnold, Alison. The Garland Encyclopedia of World Music, Vol. 5: South Asia. Routledge, 2000.

[8] Powers, Harold S. "Mode." The New Grove Dictionary of Music and Musicians. Macmillan, 1980.

[9] Shankar, Ravi. Raga Mala. Ragamala Music, 1995.

[10] Cook, Nicholas. Music: A Very Short Introduction. Oxford University Press, 1998.

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.024

[11] Nettl, Bruno. The Study of Ethnomusicology. University of Illinois Press, 2005.
[12] Hood, Mantle. "The Challenge of Bi-Musicality." Ethnomusicology, Vol. 4, No. 2, 1960.
[13] Danielou, Alain. Northern Indian Music. Barrie & Jenkins, 1968.
[14] Malm, William P. Music Cultures of the Pacific, the Near East, and Asia. Prentice Hall, 1996.
[15] Becker, Judith. Deep Listeners: Music, Emotion, and Trancing. Indiana University Press, 2004.
[16] Piston, Walter. Harmony. W. W. Norton & Company, 1987.
[17] Jeppesen, Knud. Counterpoint: The Polyphonic Vocal Style of the Sixteenth Century. Dover Publications, 1992.
[18] Schulenberg, David. The Music of J. S. Bach. Oxford University Press, 2006.
[19] Fux, Johann Joseph. Gradus ad Parnassum. Vienna, 1725.
[20] Levy, Mark. "Intonation in Indian Classical Music." Ethnomusicology, Vol. 24, No. 3, 1980.
[21] Sambamoorthy, P. South Indian Music, Vol. III. Indian Music Publishing House, 1969.
[22] Shankar, Ravi. Concerto for Sitar and Orchestra. Boosey & Hawkes, London.
[23] Morris, Robert. "Melharmony: Harmonic Concepts for Indian Music." Journal of Music Theory, 1985.
[24] Ravikiran, N. "Melharmony and Raga-Based Harmony." Lecture Notes, Madras, 1998.
[25] Clayton, Martin & Leante, Laura. "Cross-Cultural Musical Analysis." Music Analysis, Vol. 32, 2013.
[26] Bor, Joep. "Sindhi Bhairavi." In The Raga Guide. Nimbus Records.
[27] Powers, Harold S. "Phrygian Mode and Cross-Cultural Modal Parallels." Music Theory Spectrum, 1976.
[28] Bhatkhande, V. N. Hindustani Sangeet Paddhati, Vol. IV. Sangeet Karyalaya, Hathras.
[29] Tovey, Donald Francis. Essays in Musical Analysis. Oxford University Press, 1935.
[30] Sen, Dipak Kumar. Pt. Allauddin Khan and His Legacy. Sangeet Natak Akademi, New Delhi.
[31] Neuman, Daniel. The Life of Music in North India. University of Chicago Press, 1991.
[32] Ravikiran, N. "From Melody to Harmony: The Melharmony Concept." Sruti Magazine, 2002.
[33] Morris, Robert. "Raga Harmony Reconsidered." Music Theory Online, 2001.
[34] Lavezzoli, Peter. The Dawn of Indian Music in the West. Continuum, 2006.
[35] Forte, Allen. Tonal Harmony in Concept and Practice. Holt, Rinehart and Winston, 1979.

गुरमत संगीत के क्षेत्र में भाई शमिंदरपाल सिंह जी का योगदानः सारंदा वाद्य के संदर्भ में

जसप्रीत कौर

भूमिका

संसार की सभी कलाओं में संगीत एक सर्वश्रेष्ठ कला है, जिसके माध्यम से कलाकार अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करता है। प्रभु-भक्ति के माध्यम से परमात्मा को प्राप्त करने का संगीत एक महत्वपूर्ण मार्ग है। भारत में प्रचलित संगीत को शास्त्रीय संगीत कहा जाता है, जिसका उद्‌देश्य प्रभु की स्तुति करते हुए उसमें लीन होना है। जब संगीत को शास्त्रों एवं नियमों के अनुसार, रागों के अंतर्गत तथा तालों में बाँधकर प्रस्तुत किया जाता है, तब उसे शास्त्रीय संगीत कहा जाता है। इसी शास्त्रीय संगीत का एक अविभाज्य अंग गुरमत संगीत है। इस परंपरा में प्रयुक्त संगीत भी शास्त्रीय संगीत की भाँति ही नियमों और विधानों के अनुसार गाया जाता है। इसका उद्‌देश्य भी प्रभु की स्तुति कर उसमें लीन होना है, परंतु गुरमत संगीत की अपनी एक विशिष्ट परंपरा है, जिसके कारण यह शास्त्रीय संगीत से कुछ भिन्न भी है। गुरमत संगीत का शास्त्रीय संगीत से सामंजस्य स्थापित करने वाला सबसे बड़ा उदाहरण श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी में निहित रागात्मक संगीत है। इसमें अंकित बाणी को जब श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी की निर्धारित राग-प्रणाली एवं ताल-अनुशासन के अनुसार गाया जाता है, तब उस संगीत को "गुरमत संगीत" कहा जाता है। गुरमत संगीत एक ऐसा आध्यात्मिक संगीत है, जिसके माध्यम से सिख गुरुओं तथा समस्त मानवता के संदेशों को लोगों तक पहुँचाया गया। यह संगीत मात्र एक धार्मिक परंपरा नहीं था, बल्कि आध्यात्मिक जागरूकता का एक सशक्त माध्यम भी था। गुरमत संगीत की शुरुआत का मुख्य उद्‌देश्य यह था कि गुरवाणी के संदेश को जन-जन तक पहुँचाकर उन्हें आध्यात्मिकता के मार्ग पर अग्रसर किया जा सके। सिख गुरु साहिबानों ने उस समय समाज में व्याप्त दुर्दशा में परिवर्तन लाने हेतु संगीत को एक प्रभावशाली साधन के रूप में अपनाया। इस भक्ति-भावपूर्ण संगीत का प्रमुख उद्‌देश्य गुरबाणी-संगीत एवं रागों के माध्यम से आध्यात्मिक संदेश को लोगों तक पहुँचाना तथा श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी में निहित उपदेशों को संगीत के माध्यम से श्रवण कराकर समाज में शांति और सद्‌भाव का प्रसार करना था।

सिख धर्म के प्रवर्तक एवं प्रथम गुरु, श्री गुरु नानक देव जी ने संगीत को धार्मिक जागरूकता और मानवता के संदेश के प्रचार हेतु एक प्रभावी माध्यम के रूप में प्रयोग किया। उन्होंने संगीत और भक्ति के महत्व को अनुशासित एवं आध्यात्मिक जीवन से जोड़ते हुए लोगों को सत्य और भक्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। श्री गुरु नानक देव जी के पश्चात अन्य गुरु साहिबानों ने भी गुरबाणी की रचना की तथा कीर्तन परंपरा में तंत्री वाद्यों का विकास कर इसे एक नवीन पहचान प्रदान की।

कीवर्डः- *गुरमत संगीत, सारंदा वाद्य, भाई शर्मिंदरपाल सिंह, तंत्री वाद्य, शब्द-कीर्तन परंपरा ।*

पी.एच.डी. शोधार्थी संगीत विभाग इटरनल यूनिवर्सिटी, बड़ू साहिब हिमाचल प्रदेश-173101
ई-मेल: jaspreetsaranda1997@gmail.com, फोन नं.:-90151-55110

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.025

गुरमत संगीत के अद्‌भुत वाद्य "सारंदा" का इतिहास :-

भारत की संगीत प्रणाली में गुरमत संगीत को एक विशिष्ट रूप में पहचान मिलती है, तथा इसमें तंत्री वाद्यों का विशेष महत्व है। इस परंपरा को गुरु साहिबानों द्वारा विकसित किया गया और आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए तंत्री वाद्यों का प्रयोग किया गया। कीर्तन गायन की इस महान परंपरा का आरंभ श्री गुरु नानक देव जी से हुआ, जिसे और गुरु साहिबानों ने भी निरंतर आगे बढ़ाया। गुरु काल के पश्चात भी रबाबियों एवं रागियों ने इस परंपरा को संरक्षित रखा। गुरमत संगीत की कीर्तन परंपरा में प्रयुक्त, गुरु साहिबानों द्वारा आविष्कृत तीन प्रमुख वाद्य हैं- सारंदा, ताऊस और दिलरुबा।

गुरमत संगीत के तंत्री वाद्यों में प्रथम स्थान रबाब का है। इसके पश्चात सारंदा वाद्य का अविष्कार हुआ। गुरमत संगीत में इस वाद्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह गज़ से बजाया जाने वाला वितत श्रेणी का वाद्य है तथा सारंगी का एक परिवर्तित रूप माना जाता है। प्राचीन काल में सारंगी का व्यापक प्रचार था, किंतु वेश्याओं के कोठों पर बजाए जाने के कारण इसे घृणापूर्ण दृष्टि से देखा जाने लगा। इसी कारण गुरु घर में सारंगी से मिलते-जुलते एक नए वाद्य का आविष्कार हुआ, जिसे "सारंदा" नाम दिया गया।

सरंदा वाद्य की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, जैसे-

1. प्रो. तारा सिंह जी के अनुसार सारंदा वाद्य का आविष्कार गुरु अमरदास जी ने किया। 3

2. संगीत विद्वान डॉ. गुरनाम सिंह 'कानून-ए-मौसिकी' ग्रंथ का संदर्भ देते हुए लिखते हैं कि गुरु अमरदास जी ने सारंदा नामक वाद्य का आविष्कार किया। 4

3. विदुषी बेगम शाहिँदा ने भी इस वाद्य का आविष्कारक गुरु अमरदास जी को ही माना है। 5

4. भाई कान् सिंह नाभा के अनुसार, उत्कृष्ट स्वर प्रदान करने वाले, गज़ से बजाए जाने वाले इस वाद्य की रचना श्री गुरु अर्जन देव जी ने की। गुरु अर्जन देव जी ने अपनी परिकल्पना के अनुसार इस वाद्य को बनवाकर सिख रागियों को प्रदान किया तथा उन्हें इसका वादन सिखाया।

5. डॉ. जसबीर कौर द्वारा रचित पुस्तक से प्राप्त जानकारी के अनुसार, सिखों के पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जन देव जी ने कीर्तन की संगत के लिए इस वाद्य का प्रयोग किया।7अत: इन संदर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस वाद्य का प्रारंभिक आविष्कार संभवत: गुरु अमरदास जी द्वारा किया गया होगा, किंतु इसका अधिकतम प्रचार-प्रसार श्री गुरु अर्जन देव जी ने किया और इसे आगे कीर्तन करने वाले सिंहों को सौंपा। इस वाद्य का प्रयोग रबावियों द्वारा भी किया जाता रहा। कीर्तन परंपरा में सारंदा एक अत्यंत मनमोहक वाद्य है।

अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भाई करम सिंह, भाई लाभ सिंह, भाई संगत सिंह, रागी प्रो. चतर सिंह आदि अनेक सिख संगीतकारों के अतिरिक्त ब्रह्मज्ञानी बाबा शाम सिंह जी ने श्री हरिमंदर साहिब में लगभग सत्तर वर्षों तक इस वाद्य के साथ कीर्तन किया। आधुनिक समय में इस वाद्य का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हो गया है, जिसके कई कारण हैं। जैसे- इस वाद्य में परदे नहीं होते, अत: इसकी वादन तकनीक अत्यंत कठिन है और विभिन्न तारों पर वादन के लिए कठोर अभ्यास एवं साधना की आवश्यकता होती है। दूसरा प्रमुख कारण यह है कि आजकल कीर्तन संगत के लिए हारमोनियम का प्रयोग अधिक होने लगा है, जो सारंदा की तुलना में बजाने में सरल है। तीसरा कारण इसकी

गंभीर ध्वनि है, जो कीर्तन गायन के लिए तो उपयुक्त है, किंतु लोक-संगीत एवं ढाड़ी वारों के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती। इसी कारण संगीतकारों का रुझान इस वाद्य की ओर कम होता गया है। सारंदा, सारंगी वाद्य में ही कुछ परिवर्तन करके गुरमत संगीत के अनुकूल तैयार किया गया वाद्य है। इसकी ध्वनि गंभीर होती है, क्योंकि इसमें सारंगी जैसी तीक्ष्णता नहीं पाई जाती। इसके स्वतंत्र वादन की परंपरा विकसित नहीं हो सकी, किंतु गायन के साथ संगत के लिए यह वाद्य अत्यंत उपयुक्त है। शब्द-कीर्तन के लिए सारंदा एक सर्वथा अनुकूल और श्रेष्ठ वाद्य माना जाता है। गुरु काल के समय तंत्री वाद्यों के साथ कीर्तन करने की परंपरा में अनेक उच्च कोटि के रबाबी-रागी हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं- भाई मरदाना जी, भाई सजादा जी, भाई रजादा जी, भाई सादू जी, भाई बादू जी, भाई सत्ता जी, भाई बलवंड जी, भाई पांधा जी, भाई बुल्ला जी, भाई केदार जी, भाई झाजू जी, भाई मुकंद जी, भाई किदारा जी, भाई बाबक जी, भाई छबीला जी, भाई अब्दुल्ला और नथमल्ल जी, भाई बनवाली जी, भाई परस राम जी, भगत भगवान जी, भाई फेरू जी, भाई गोड़ा जी, भाई मदू जी, भाई सदू जी आदि । इन सभी ने गुरु काल के दौरान गुरु साहिबानों की महान कीर्तन परंपरा को उनके समक्ष ही समृद्ध एवं पुष्पित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

गुरु काल से चली आ रही तंत्री वाद्यों के साथ कीर्तन करने की यह परंपरा आधुनिक समय में भी निरंतर जारी रही है। इसमें योगदान देने वाले कीर्तनकारों के नाम इस प्रकार हैं- भाई कपूर सिंह (सारंदा और ताऊस), भाई राय सिंह (ताऊस), भाई गोखा सिंह (ताऊस), भाई भाग सिंह (सारंदा), भाई टहल सिंह (सारंदा), बाबा शाम सिंह जी (सारंदा), भाई देवा सिंह जी (सारंदा), भाई शरदा सिंह जी (ताऊस), भाई वसावा सिंह जी (ताऊस), भाई नरायण सिंह जी (ताऊस), रागी भाई ज्वाला सिंह (ताऊस), भाई अवतार सिंह जी (ताऊस), भाई गुरचरण सिंह (ताऊस), भाई हीरा सिंह जी (सितार और रवाब), भाई संता सिंह जी (रबाब, सारंदा और ताऊस), भाई सुंदर सिंह (सारंदा), रागी भाई प्रेम सिंह (सारंदा), महंत गज्जा सिंह जी (वीणा और ताऊस), भाई समुद सिंह जी (ताऊस), भाई ज्ञान सिंह (दिलरुबा), भाई हरि सिंह (सारंदा), भाई सरन सिंह (सारंदा), प्रो. करतार सिंह (रबाब), डॉ. गुरनाम सिंह (ताऊस), भाई शमिंदरपाल सिंह जी (सारंदा, सारंगी, ताऊस, दिलरुबा), भाई संदीप सिंह जी (ताऊस और दिलरुबा), भाई अनूप सिंह (सारंदा), भाई सिरीपाल सिंह जी (ताऊस) आदि। इन सभी ने लगभग बीसवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक तंत्री वाद्यों के साथ कीर्तन करने की पारंपरिक शैली को प्रचलित रखने में विशेष योगदान दिया है। इनमें से अनेक कीर्तनकारों ने सारंदा वाद्य के साथ कीर्तन की सेवा निभाई है। आज के समय में यह वाद्य लुप्तप्राय होता जा रहा है, किंतु वर्तमान काल में कुछ कीर्तनकारों ने इसके संरक्षण के लिए विशेष प्रयास किए हैं, जिनमें भाई शर्मिंदरपाल सिंह जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तथापि वे सारंगी और ताऊस जैसे वाद्यों का भी वादन करते हैं, परंतु गुरु साहिबानों द्वारा आविष्कृत तंत्री वाद्य सारंदा के प्रचार-प्रसार में उनका अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने इस वाद्य के प्रचार और संरक्षण हेतु विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों पर शब्द-कीर्तन की सेवाएँ अर्पित की हैं।

भाई शर्मिंदरपाल सिंह जी का जीवन परिचय, पृष्ठभूमि एवं शिक्षा :-

सिख जगत की प्रतिष्ठित विभूति, प्रसिद्ध

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.025

सारंगी वादक एवं कीर्तनकार भाई शमिंदरपाल सिंह जी का नाम अत्यंत सम्मानित और उच्च कोटि के कलाकारों में अग्रणी रूप से लिया जाता है। अपने सम्माननीय पिता जी की पितृकुल से प्राप्त संगीत विरासत के कारण उन्हें संगीत की प्रतिभा स्वाभाविक रूप से प्राप्त हुई। उनके ननिहाल में रागी भाई शाम सिंह तथा मामा अजय सिंह एवं गुरदयाल सिंह जैसे संगीतज्ञों के अतिरिक्त, उनके पिता की ओर से भी उन्हें समृद्ध सांगीतिक परंपरा का संस्कार मिला।

भाई शमिंदरपाल सिंह जी का जन्म 25 जून 1961 ई. को श्री मुक्तसर साहिब में माता सुरजीत कौर एवं पिता भाई हरचंद सिंह जी के गृह में हुआ। उनके पिता अपने समय के एक श्रेष्ठ कीर्तनकार और कवि थे। उन्होंने संगीत की प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता जी से प्राप्त की। इसके पश्चात उन्होंने मास्टर बोहड़ सिंह मलोट से लगभग दस वर्षों तक ढाडी संगीत की विधिवत शिक्षा प्राप्त की और इस परंपरा के साथ गहराई से जुड़े रहे। इसके उपरांत उन्होंने अपने दोनों भाइयों- सरदार हरदेव सिंह जी एवं सरदार गुरतेज सिंह जी के साथ मिलकर अपना ढाडी जत्था स्थापित किया। इस जत्थे में भाई शर्मिंदरपाल सिंह जी सारंगी का वादन करते, जबकि उनके दोनों बड़े भाई ढड के साथ वारों का गायन करते थे। इस जत्थे के माध्यम से उन्होंने विभिन्न प्रतिष्ठित मंचों पर ढाडी कला का प्रचार-प्रसार किया। विद्यालय स्तर पर आयोजित विभिन्न सांगीतिक प्रतियोगिताओं में भी उन्होंने अपने ढाडी जत्थे के साथ भाग लिया। विद्यालय के प्रधानाचार्य करतार सिंह ढिल्लों के आग्रह पर तीनों भाइयों के ढाडी जत्थे ने जालंधर दूरदर्शन केंद्र में ऑडिशन दिया, जहाँ उनकी प्रस्तुति से समस्त स्टाफ अत्यंत प्रभावित हुआ। इसके पश्चात उनके जत्थे द्वारा गाई गई वारें रेडियो पर भी प्रसारित की गईं और लंबे समय तक उन्होंने ढाडी जत्थे के रूप में कार्य किया। उच्च विद्यालय की शिक्षा के दौरान उन्होंने सितार वाद्य की शिक्षा ग्रहण की तथा स्नातक बी.ए. की डिग्री उन्होंने सितार वादन के साथ प्राप्त की। इसी अवधि में उनकी भेंट मुरादाबाद के प्रसिद्ध सारंगी वादक उस्ताद लतीफ अहमद ख़ान साहिब से हुई। उनके वादन से प्रभावित होकर उस्ताद जी ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने उस्ताद लतीफ अहमद ख़ान जी से सारंगी की शिक्षा प्राप्त की।

इसके पश्चात उच्च शिक्षा के अंतर्गत उन्होंने वर्ष 1984-86 में ए.पी.जे. कॉलेज ऑफ फाइन आर्ट्स, न्यू जवाहर नगर, जालंधर से सारंगी वादन में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। वे ए.पी.जे. कॉलेज ऑफ फाइन आर्ट्स से मास्टर डिग्री प्राप्त करने वाले प्रथम सिख सारंगी वादक हैं। इसी अवधि में उन्हें श्री भैणी साहिब में आफताब-ए-सितार, पद्म विभूषण सुप्रसिद्ध सितार वादक उस्ताद विलायत ख़ान साहिब के सान्निध्य में बैठकर सीखने का अवसर भी प्राप्त हुआ। सतगुरु जगजीत सिंह जी के निर्देशानुसार उन्हें पद्म विभूषण उस्ताद साबरी ख़ान जी के पास दिल्ली भेजा गया, जहाँ उन्होंने लगभग सात-आठ वर्षों तक उनके निवास पर रहकर सारंगी की विधिवत और गहन तालीम प्राप्त की। 10

योगदान :-

सरदार शमिंदरपाल सिंह जी ऑल इंडिया रेडियो, जालंधर के "टोप-ग्रेड" कलाकार हैं। शास्त्रीय संगीत के सशक्त कलाकार होने के साथ-साथ उन्होंने गुरमत संगीत में भी एक रागी के रूप में अपनी भूमिका अत्यंत कुशलता से निभाई है। उन्होंने भाई निर्मल सिंह जी खालसा,

भाई अमरीक सिंह जी जख्मी, भाई गुरमीत सिंह जी शांत, भाई बलवीर सिंह जी तथा भाई बख्शीश सिंह जी (पटियाला वाले) जैसे अनेक प्रतिष्ठित कीर्तनकारों के साथ कीर्तन संगत की है। सारंगी वादन में निपुणता प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने अपने परिवार से प्राप्त कीर्तन की विरासत को समृद्ध करने हेतु तथा गुरु साहिबानों द्वारा आविष्कृत तंत्री वाद्य "सारंदा" के साथ शब्द-कीर्तन करने की परंपरा को जीवित रखने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने तख्त श्री हजूर साहिब नांदेड़; श्री अकाल तख्त साहिब अमृतसर; श्री आनंदपुर साहिब सहित अनेक प्रमुख धार्मिक स्थलों पर शब्द-कीर्तन की सेवा निभाई है। इसके अतिरिक्त गुरुद्वारा गुरु ज्ञान प्रकाश, जवद्दी कलां लुधियाना में भी उन्होंने लंबे समय तक कीर्तन सेवा अर्पित की है।

इस अवधि में उन्हें अनेक सिख संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया, जिनमें प्रमुख हैं-

1. जवद्दी टकसाल, लुधियाना द्वारा गुरमत संगीत अवार्ड (2008)
2. मालवा विरासत मंच, श्री मुक्तसर साहिब द्वारा वर्ष 2011 में विशेष सम्मान
3. इटली में गुरमत संगीत के प्रति विशेष सम्मान।
4. शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के सिख मिशनरी कॉलेज द्वारा विशेष सम्मान।
5. शहीद सिख मिशनरी कॉलेज के द्वारा दो बार सम्मान।
6. नदौन, हिमाचल प्रदेश में कीर्तन कार्यक्रम के दौरान सम्मान आदि।[11]

इसके अलावा भाई शमिंदरपाल सिंह जी ने मंजी साहिब दीवान हॉल, श्री अमृतसर में भी लगभग आठ से दस वर्षों तक कीर्तन सेवा निभाई है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने विदेशों में भी अनेक गुरुद्वारों- जैसे (श्री गुरु सिंह सभा गुरुद्वारा, कॉटनहैम स्ट्रीट न्यूकैसल, इंग्लैंड); (गुरु नानक गुरुद्वारा, बेडफोर्ड इंग्लैंड); (पीटरबरो यूनाइटेड किंगडम); (गुरु नानक गुरुद्वारा, हाई स्ट्रीट, स्मेथविक इंग्लैंड) आदि गुरू घरो में भी शब्द-कीर्तन की उपस्थिति दर्ज कराई है। साथ ही उन्होंने ऑस्ट्रेलिया, इटली एवं लंदन के लगभग सभी प्रमुख गुरुद्वारों में भी कीर्तन सेवा निभाई है।

भाई शमिंदरपाल सिंह जी ने संगीत विद्यार्थियों के लिए गुरमत संगीत की अनेक कार्यशालाएँ भी आयोजित कीं, जिनमें प्रमुख हैं-

1. गुरमत संगीत की पहली दो कार्यशालाएँ जवद्दी टकसाल, लुधियाना में।
2. खालसा अकैडमी, लखन कलां (कपूरथला) में गुरमत संगीत कार्यशाला।
3. श्री हजूर साहिब में बाबा जोतइंदर सिंह जी के विद्यालय में पंद्रह दिनों तक निरंतर गुरमत संगीत कार्यशाला।
4. जम्मू में गुरमत संगीत की कार्यशाला।[12]

इसके अतिरिक्त भाई शमिंदरपाल सिंह जी की शब्द-कीर्तन की सीडीज़, जैसे "मेरे माधौ जी", सोशल मीडिया पर भी उपलब्ध हैं, जो संगत को कीर्तन से जोड़ने की दिशा में उनके द्वारा किया गया एक विशेष और सराहनीय प्रयास है

विश्लेषण :-

भाई शमिंदरपाल सिंह जी ने गुरु साहिबानों द्वारा आविष्कृत तंत्री वाद्यों में केवल सारंदा वाद्य के माध्यम से ही नहीं, बल्कि रबाब, ताऊस और दिलरुबा जैसे वाद्यों के संरक्षण एवं प्रचार में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वर्तमान समय में ऐसे बहुत कम संगीतकार और कीर्तनकार हैं, जो एक ही वाद्य तक सीमित न रहकर अनेक वाद्यों पर वादन अथवा कीर्तन करते हों। आजकल

कीर्तन संगत के लिए हारमोनियम का प्रयोग अधिक होने लगा है, जो इन पारंपरिक वाद्यों की तुलना में बजाने में सरल है। इसी कारण गुरु साहिबानों द्वारा प्रचलित किए गए ये तंत्री वाद्य धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। परंतु भाई शमिंदरपाल सिंह जी ने अपने निरंतर प्रयासों के माध्यम से गुरु साहिबानों की तंत्री वाद्यों के साथ कीर्तन करने की परंपरा को संरक्षित रखने हेतु सार्थक कदम उठाए हैं।

भाई शमिंदरपाल सिंह जी ने इन वाद्यों के माध्यम से केवल गुरमत संगीत तक ही स्वयं को सीमित नहीं रखा, बल्कि सारंदा वाद्य के प्रचार-प्रसार को आगे बढ़ाने के लिए शास्त्रीय संगीत में भी इसके स्वतंत्र वादन को प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त वे इन वाद्यों का निर्माण स्वयं अपने हाथों से भी करते हैं। अत: उनके इस योगदान को नई पीढ़ी तक पहुँचाना अत्यंत आवश्यक है, ताकि इन वाद्यों के साथ-साथ, गुरु साहिबानों द्वारा स्थापित तंत्री वाद्यों से कीर्तन करने की परंपरा को भी सुरक्षित रखा जा सके।

उद्‌देश्य :-

1. गुरमत संगीत की परंपरा में भाई शमिंदरपाल सिंह जी द्वारा किए गए कीर्तन के योगदान को उजागर करना।
2. उनके योगदान के माध्यम से गुरमत संगीत में गुरु साहिबानों द्वारा आविष्कृत तंत्री वाद्य "सारंदा" के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देना।
3. भाई शर्मिंदरपाल सिंह जी द्वारा स्वयं निर्मित किए जाने वाले वाद्यों के विषय में संगीत के विद्यार्थियों को जानकारी प्रदान करना।

शोध विधि :-

इस शोध कार्य को समयबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप से पूर्ण करने हेतु साक्षात्कार विधि, टेलीफोन द्वारा वार्तालाप, पूर्ववर्ती शोध कार्यों में उपलब्ध सामग्री, सोशल मीडिया, ऐतिहासिक पुस्तकों तथा महान विद्वान भाई कान् सिंह नाभा द्वारा रचित ग्रथ महान कोश का सहारा लिया गया है।

निष्कर्ष :-

यह संपूर्ण शोध कार्य भाई शमिंदरपाल सिंह जी द्वारा गुरमत संगीत में किए गए योगदान को समर्पित है। उन्होंने अपने जीवनकाल में अन्य तंत्री वाद्यों से संगीत प्रस्तुतियाँ देने के साथ-साथ, गुरु साहिबानों द्वारा आविष्कृत वाद्य सारंदा के माध्यम से कीर्तन परंपरा में अत्यंत मूल्यवान योगदान दिया है। उनके इस योगदान के प्रयास से सिख गुरुओं द्वारा स्थापित तंत्री वाद्यों के साथ कीर्तन करने की परंपरा को संरक्षित रखा जा सकता है। उनके द्वारा गायी गईं कीर्तन बंदिशों की स्वर-लिपि तैयार कर भविष्य के लिए सुरक्षित किया जाना चाहिए ताकि आने वाली पीढ़ी को इन वाद्यों तथा भाई शमिंदरपाल सिंह जी जैसे महान संगीतकारों के कार्य और योगदान का ज्ञान हो सके। अत: इस प्रकार के और भी शोध कार्य किए जाने चाहिए, जिससे इन लुप्तप्राय वाद्यों का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार संभव हो सके ।

संदर्भ सूची एवं टिप्पणियाँ :-

1. "जोशी, उमेश, "भारतीय संगीत का इतिहास", राम गोपाल शर्मा, कनॉट प्लेस: नई दिल्ली, 1957, पृष्ठ संख्या 39.
2. कौर, प्रो. मनजीत, "गुरमत संगीत परंपरा", ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी पब्लिकेशन, पटियाला, 2005, पृष्ठ संख्या 1.
3. सिंह, प्रो. तारा एवं कौर, सुरजीत, "वादन कला", पब्लिकेशन ब्यूरो: पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2004, पृष्ठ संख्या 276.
4. सिंह, डॉ. गुरनाम, "गुरमत संगीत: विभिन्न परिप्रेक्ष्य", पब्लिकेशन ब्यूरो: पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, पृष्ठ संख्या 40.

5. रहामिन फ़ैज़ी बेगम, शाहिंदा, "इंडियन म्यूज़िक", पब्लिशर्स: अल्फा एडिशन, 1914, पृष्ठ संख्या 77.
6. भाई कन्हैया सिंह नाभा, "गुर शब्द रतनाकर: महान कोश", पब्लिकेशन ब्यूरो: पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2014, पृष्ठ संख्या 644.
7. डॉ. जसबीर कौर, "गुरमत संगीत की ऐतिहासिक विलक्षणता", भाई चतर सिंह जीवन सिंह, 2006, पृष्ठ संख्या 61.
8. गगनदीप सिंह, "गुरमत संगीत में रागी भाई ज्वाला सिंह जी का योगदान", पी.एच.डी. शोध-प्रबंध, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2009.
9. सिंह, भाई सुखवंत, "गुरु नानक संगीत पद्धति ग्रंथ: भाग दूसरा", संत ज्ञानी अमीर सिंह जी प्रकाशक, लुधियाना, 2006, पृष्ठ संख्या 344.
10. जसप्रीत कौर (पी.एच.डी. शोधार्थी, बड़ू साहिब), "उस्ताद शमिंदरपाल सिंह जी के साथ निजी वार्तालाप", (सरदार शमिंदरपाल सिंह जी का निवास स्थान), जालंधर, दिनांक 02-08-2024.
11. जसप्रीत कौर (पी.एच.डी. शोधार्थी, बड़ू साहिब), "उस्ताद शमिंदरपाल सिंह जी के साथ निजी वार्तालाप", (सरदार शमिंदरपाल सिंह जी का निवास स्थान), जालंधर, दिनांक 02-08-2024.
12. जसप्रीत कौर (पी.एच.डी. शोधार्थी, बड़ू साहिब), "उस्ताद शमिंदरपाल सिंह जी के साथ टेलीफोन द्वारा वार्तालाप", दिनांक 02-03-2025, समय: रात्रि 8:45 बजे ।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.026

मिथिला लोकचित्रकला : एक अनूठी शैली

प्रो. पुष्पम नारायण

सारांश

मिथिला की लोकचित्रकला में एक ओर जहाँ निराली सादगी और भोलापन है वही आधुनिकतम कला की दो प्रमुख विशिष्टिताएँ भी अनायास ही मुखर है। प्रथमतः तो वृत्त, त्रिकोण, आयत आदि आकारों का संतुलन, डिजाइन एवं अलंकरण उन प्रयोगों का आभास करा देता हैं, जिन पर आधुनिक कलाकार, जो पेरिस और मेक्सिकों की आर्ट गैलेरी में आत्मीयता की तलाश करते हैं, अजंता और मुगल शैली की रमणीयता जिन्हे खेण लगती है, एकेडमिक शैली का यथातथ्य जिन्हें फोटोग्राफी जान पड़ती है, प्रभाववादियों का रंग सौष्ठव उन्हें बचकाना प्रतीत होता है। वैसे कलाकार भी इन पर निछावर हो जाते हैं, जो अद्ध-चेतना के गह्वरों के निवासी हैं। इसके अतिरिक्त मिथिला के ये लोकचित्र संकेतों के कलात्मक वाहन हैं।

शब्द कुंजी - लोकचित्रकला, मिथिला, महिलाएँ, रंग, शिल्पकला

मिथिला लोक चित्रकला शैली की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चित्रण कार्य संपूर्णतः पारिवारिक नारी वर्ग द्वारा सामान्य गृह कला के रूप में किया जाता है। जिस अंगुली ने कभी ड्राइंग पेन्सिल नहीं छुआ, जिसके लिए अजंता एवं एलोरा की बात परी देश की कथा हो और जिसने कभी कोई कला-कृति न देखा हो तब भी वह कालिख, सिंदुर, सीम के रस के सहारे ऐसी अनुपम संस्कृति जीवित रखे हुए है। मिथिला में विशिष्ट समारोहों के अवसरो पर घर-आँगन चित्रकारियों से खिल उठता है। महिलाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी व्रत, त्योहार एवं धार्मिक उत्सव के अवसर पर इसे प्रदर्शित कर सुरक्षित रखे हुए है।

मिथिला की लोकचित्रकला में एक ओर जहाँ निराली सादगी और भोलापन है वही आधुनिकतम कला की दो प्रमुख विशिष्टिताएँ भी अनायास ही मुखर है। प्रथमतः तो वृत्त, त्रिकोण, आयत आदि आकारों का संतुलन, डिजाइन एवं अलंकरण उन प्रयोगों का आभास करा देता हैं, जिन पर आधुनिक कलाकार, जो पेरिस और मेक्सिकों की आर्ट गैलेरी में आत्मीयता की तलाश करते हैं, अजंता और मुगल शैली की रमणीयता जिन्हे स्त्रेण लगती है, एकेडमिक शैली का यथातथ्य जिन्हें फोटोग्राफी जान पड़ती है, प्रभाववादियों का रंग सौष्ठव उन्हें बचकाना प्रतीत होता है। वैसे कलाकार भी इन पर निछावर हो जाते हैं, जो अद्ध-चेतना के गह्वरों के निवासी हैं। इसके अतिरिक्त मिथिला के ये लोकचित्र संकेतों के कलात्मक वाहन हैं। ये संकेत स्थूल जीवन के क्रियाकलापों और पदार्थों को ही नहीं बताते अपितु सूक्ष्म अनुभूतियों एवं आध्यात्मिक धाराओं

* विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, संकायाध्यक्ष, शैक्षणिक, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

को प्रदर्शित करते हैं। ये चित्र भंगिमाए हैं, विस्मय क्षेत्र एवं आनंद की उन प्रतिक्रियाओं की, जो प्रकृत्ति एवं समाज के संपर्क से मिथिला के स्त्री-पुरुषों के अंतस्तल में प्रदीप्त होती है। संकेतों की ऐसी मणिप्रवाल संयुक्त वाणी की आज के कलाकारों को विशेष चाह हैं। यहाँ के लोग भी युगातीत मान्यता और अनावश्यक जड़ प्रतिबद्धता से मुक्त हो रहे हैं। अब मिथिला की लोक चित्रकला कृति मात्र सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक या सांस्कृतिक अनुष्ठानों के समय नहीं बनती, अपितु व्यवसाय - विनिमय के लिए भी ये कलाकृतियाँ प्रचुर संख्या में बनाई जाती हैं और विश्व व्यापार के मध्य बेची भी जाती है। कलाकृत्तियों के इस व्यवसाय ने अनेकानेक दैन्य जर्जर परिवार को व्यवस्थित अर्थोपार्जन के साथ-साथ व्यापक ख्याति भी दी है।

मिथिला लोक-चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह संपूर्ण कला पूर्णरुपेण महिलाओं के हाथ में है। इक्के दुक्के ही पुरूष मिलेंगे जो इस शैली के विषय-वस्तु से परिचित हो। किंतु आज मान्यतायें बदल रही है। स्वभावत: अब पुरुष भी इस क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। मगर अभी तक मिथिला की महिलाएँ अपनी संस्कारगत, सुरुचिपूर्ण रचनाधर्मिता से युग-युगान्तर से मिथिला की लोकचित्रकला और लोक- शिल्पकला को सुरक्षित और विकसित करती हुई, पारिवारिक धार्मिक उत्सवों एवं अनुष्ठानों से जोड़ती हुई एक अटूट प्राचीन परंपरा के रूप में लोक जीवन में इसे अभी तक समाहित कर रखा है।

बहुलता के क्षेत्र - व्यापकता और आरेखन चित्रण व्यवस्था के समान गुण धर्म आधार पर यह कहना सर्वथा उचित है कि इस लोककला का मूल हजारों वर्ष प्राचीन हैं। अध्ययन से इसकी विलक्षणता राजस्थान, बंगाल, उड़ीसा, आसामी या आदिवासी क्षेत्र के लोक चित्रकला से सर्वथा भिन्न, मौलिक, गहन एवं सर्वोपरि है। कारण एक ही साथ शुभ अशुभ, तंत्र आध्यात्म-दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाज और कलात्मकता एवं स्थूलता का इतना सूक्ष्म और सुंदर समन्वय किसी अन्य स्थानिक कला विधा में दर्शित नहीं होता। बिन्दु, रेखा और रंगों का संयोजन इसकी दूसरी मौलिक विशेषता हैं। इन्हीं सबों के कारण मिथिला की लोक चित्रकला के साथ ही मिथिला की शिल्पकला आज विश्व विख्यात हो रही है।

यहाँ के चित्र - विधान में परंपरागत वनस्पति एवं पशु-पक्षी, चक्रमाला, चक्राकार चिह्न, लघुपंक्ति माला, जनश्रुति एवं पौराणिक तथा लोककथा पर आधारित काल्पनिक चित्र, इन चित्रों में पर्यावरण एवं प्राकृतिक जीवन की सूक्ष्म झांकी के दर्शन होते थे। धार्मिक चित्रकला में प्राय: सभी देवी देवता का चित्रण किया जाता था, किंतु शोभाचित्र और धर्मनिरपेक्ष चित्र में समृद्धि तथा उर्वरता के प्रतीक का चित्रण होता था। यथा हाथी, घोड़ा, सुग्गा, कछुआ, बांस, कमल फूल, पुरैन-पात, पान, फूल, लता गुल्म, स्वस्तिक, शंख आदि। चूंकि इस क्षेत्र में ग्रामीण अर्थात् कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था थी।

इस चित्रकला का अस्तित्व संबंधित पारिवारिक धर्मपरायणता तथा महिलाओं के कार्य - कुशलता पर निर्भर करता है क्योंकि इस चित्रकला के मुख्य विषय-वस्तु प्रधानत: देवी-देवता थे। वास्तव में धार्मिक समारोह के अवसर पर चित्रांकन उतना ही आवश्यक है जितना विवाह के अवसर पर। इस चित्रकला की उपस्थिति समारोह को जीवन्त और अनुप्रेरक बना देती है इसके अभाव में समारोह नीरस और प्राणहीन हो जाता है।

विवाह के अवसर पर सूर्य-चंद्रमा, बांस वृक्ष, वृताकार कमल फूल, सुग्गा, कछुआ एवं मछली

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.026

के चित्रों की प्रधानता रहती है। सूर्य और चंद्रमा शुभ अवसर एवं नैसर्गिक कल्याण के प्रतीक हैं, अन्य सभी वस्तु उर्वरता के प्रतीक। मिथिला के भित्ति चित्र में बांस के वृक्ष तथा कमल फूल (पुरैन) की अत्यधिक प्रधानता रही है, क्योंकि ये दोनों उर्वरता का प्रतीक है। बांस का पेड़ मिथिला में वंश वृद्धि का द्योतक माना जाता है। विवाहित वर-वधू का वंश दिनानुदिन पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक बढ़ता रहे तथा उसमें उत्पन्न संतान और वंशजों का कीर्तिध्वज बांस की ऊँचाई के सदृश ऊपर उठ सूर्य के समान चमकता रहे और उनका सुयश पक्षियों के समान उड़कर दूर-दूर तक प्रसारित होता रहे जिससे कि उस वर-वधू का नाम युग-युगान्त तक अमर रहे। इसी प्रकार कमल-फूल (पुरैन) चित्रित करने का कारण यह था कि जिस प्रकार एक कमल के पेड़ को लगाने से समस्त जलाशय कमल के पेड़ों से कुछ ही दिनों में व्याप्त हो जाता है और उनमें कमल के फूल विकसित होकर अपनी सुगन्ध से आस-पास के स्थानों को सुवासित करते हैं; उसी प्रकार उन विवाहित वर-वधू का वंश प्रसारित और विकसित हो तथा उसमें उत्पन्न संतान कमल फूल के सदृश गुणवान हो जिससे उनका सुवास रूपी सुयश चारों तरफ फैलता रहे और दिगदिगन्त को व्याप्त करता रहे। इसके अतिरिक्त लघु प्रतीकों में सुग्गा, कछुआ, मछली, सूर्य एवं चंद्रमा का होता है। भारतीय संदर्भ में सुग्गा प्रेम पक्षी का प्रतीक है। मछली तथा कछुआ उर्वरता का प्रतीक माना जाता है तथा सूर्य और चंद्रमा जीवनदायिनी शक्ति का प्रतीक माना जाता है।इस चित्रांकन में अधिकांशत: मानवाकृति भावात्मक तथा रेखांकित होती है, किन्तु पशु का चित्रण प्राकृतिक और सतत् एक ही भाग में होता है। अतिलौकिक मानव के आकृत्ति संग पशु का प्राकृतिक चित्रण, यर्थाथ प्राकृतिक एवं भावात्मक चित्रण का एक अद्भुत समागम मिथिला चित्रकला की एक महत्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की महत्वपूर्ण आकृति या रूपरेखा स्थानीय जन मानस की आनन्दात्मक मनोवैज्ञानिक प्रवृति की दिशा में संकेत करते है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि प्राचीनकालीन मिथिला में भित्ति चित्र कुछ महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति हेतू निर्मित होते थे। वंशानुगत परंपरा के अनुसार एक कोठरी को रेखा से अलंकृत कर उसमें विभिन्न देवी-देवता का सूक्ष्म चित्रण यहाँ के मानव के सूक्ष्म आंतरिक आकांक्षा की पूर्ति से संबंधित रहती थी। रंग चित्तवृत्ति का सृजन करता है। रंग ही नाड़ी तथा गति, स्थान का विभाजन तथा पृष्टभूमि का निर्माण करता है। गाढ़ा लाल रंग का व्यवहार स्फूर्ति को केंद्रीभूत करने तथा विभिन्न तत्व को एकत्र कर एक सूत्र में बाँधने के लिए होता था। मिथिला चित्रकला में अधिकांशत: भागवत पुराण की कथा वस्तु का चित्रण हुआ है। विद्यापति की पदावली, जिसमें राधा कृष्ण के प्रेम-प्रशस्ति को गाया गया है। यह प्रेम-प्रशस्ति मिथिला की ग्रामीण जनमानस के हृदय में समाहित है जिसकी गीतात्मक पृष्टभूमि में मिथिला चित्रकला में अनेक चित्रांकन हुआ है। भागवत कथावस्तु के अतिरिक्त सत्ता और उर्वरता का प्रतीक हाथी, मछली और कछुआ का अत्यन्त सावधानी से चित्रण के संग-संग धारीदार बाध, फूल के वृक्ष पर प्रस्फुटित स्थिर पुष्पाकृति आदि अनिर्वचनीय आनंद उत्पन्न करती है।

मधुबनी की अत्यन्त प्रतिभाशालिनी स्वनामधन्य चित्रकार श्रीमती बुआदेवी ने शिवजी तथा शिवलिंग चित्रण में एक नवीन शैली एवं पद्धति का प्रयोग किया। उनकी शैली में शिवलिंग का चित्रण मिथिला की परंपरागत लीक से हटकर है। उन्होंने चमकदार हल्के गुलाबी तथा केसरिया रंग से आवृत्त एक चित्र में अत्यन्त सूक्ष्मकारी

नील कुकुरमुत्ता के रूप में शिवलिंग का चित्रण कर मिथिला चित्रकला को आधुनिक चित्रकला शैली की ओर अग्रसारित किया। उनके चित्र प्रतीकात्मकता, संदिग्धता तथा रंगों के अद्भुत मिश्रण के फलस्वरूप तांत्रिक-परिज्ञान की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। प्रख्यात कलाकार सीता देवी द्वारा पार्वती का सबसे जाग्रत रूप- दुर्गा, जो तंत्रोपासना में सबसे प्रमुख देवी मानी जाती है का चित्रण विभिन्न शैलियों में किया गया है। इस चित्रमाला को विहंगम दृष्टि से देखने से पता चलता है कि कुछ चित्रों को छोड़कर शेष सभी चित्र, एक आकस्मिक चित्र - संग्रह हो जिसमें एक चित्र दूसरे चित्र से टकराकर एक प्रकार का विलक्षण आभा प्रसारित करता है।

मैथिल चित्रकला का सबसे सशक्त रूप धार्मिक समारोहों के अवसर पर देखा जा सकता है। विलक्षणता का एक रहस्यमय तत्व, अपूर्व आश्चर्य की भावना, रहस्याक्रांत जीवन यह सर्वोत्तम कला का स्वाभाविक गुण है एवं यह विलक्षणता, यह उष्णता मिथिला की चित्रकला में आरंभ से ही यथावत स्थिति में विद्यमान है। सामाजिक संबंध कला एवं चित्रांकन धार्मिक संस्कार से द्रवीभूत होने कारण यह चित्रकला शैली बाहरी संस्कार से बचने में पूर्णरूपेण सफल रही है, जिसके फलस्वरूप इसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हो सका। प्राचीन काल से ही इस मिथिला चित्रकला के महिला कलाकारों ने धार्मिक संस्कारों से इस शैली का संबंध जोड़ रखा था। साथ ही धार्मिक समारोह जन्य सामाजिक अनिवार्यता के फलस्वरूप इसकी स्थिरता अक्षुण्ण रही। मिथिला की ग्रामीण कला प्रत्येक दृष्टि से अभूतपूर्व थी। इसका कारण यह है कि वहाँ की संस्कृत विद्या और संस्कृति, उसका शब्दकोष तथा मूर्तिकला, तांत्रिक क्रिया और मंत्र तथा ग्रामीण जीवन में अंर्तनिहित कुरूपता और प्राणशक्ति का समग्र बोध होता है। वास्तव में मिथिला की चित्रकला में अध्यात्म और भौतिकता दोनों का उद्भुत समावेश मिलता है। इस चित्रकला में कलाकार का आश्चर्यजनक कल्पना का उड़ान तथा नूतन शैली का पुट प्रचुर मात्रा में मिलता है।

मिथिला के भित्तिचित्र अत्यन्त सरल और आकर्षण होते हैं। विविधता और नूतन शैली के अन्वेषण के फलस्वरूप भारत के समस्त चित्रशैली से यह अधिक आकर्षक और सांकेतित प्रतीत होता है। भावप्रवण विचार, अलंकार, तादात्म्य तथा निदोर्ष रंग-विधान इसमें सभी कुछ पर्याप्त मात्रा में मिलता है। मिथिला की अशिक्षित महिला कलाकारों द्वारा नव विचार तथा सौंदर्यबोधक प्रदर्शन आश्चर्यचकित कर देते हैं। इस दृष्टि से मिथिला के कलाकारों की तुलना विश्व के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों से सहजता से की जा सकती है।

मिथिला के लोक इतिहास में 1967-68 ई० का वर्ष एक मील का पत्थर था; क्योंकि इसी वर्ष मिथिला में भयंकर अकाल पड़ा था। अकाल से त्रस्त लोगों की सेवा करने के उद्देश्य से एक विदेशी महिला मिथिला के इस क्षेत्र में भ्रमण कर रही थी। तभी उसकी नजर इन पेन्टिंग्स पर पड़ी, जिसे देखकर वह आश्चर्य चकित रह गयी, उसका अचंभित होना स्वाभाविक था। क्योंकि जिन महिलाओं ने कभी अपने हाथ में ड्राईंग पेन्सिल नहीं पकड़ा उनके द्वारा विश्व स्तरीय पेन्टिंग बना लेना कोई मामूली बात नहीं थी। मिथिला से वापसी के समय उक्त विदेशी महिला अपने साथ कुछ पेन्टिंग्स उपहार स्वरूप ले गई, जिसके फलस्वरूप मिथिला पेन्टिंग या मधुबनी पेन्टिंग विश्व में कला के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में सफल रही है।

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.026

स्वर्गीय ललित नारायण मिश्र ने अपने अथक प्रयासों के द्वारा इस कला को अपने सर्वोच्चता के शिखर पर पहुँचाया। साथ ही बिहार के प्रसिद्ध कलाकार स्वर्गीय उपेन्द्र महारथी के सक्रिय सहयोग एवं कला परंपरा के ज्ञान तथा भास्कर कुलकर्णी के अदम्य स्फूर्ति और विवकेशीलता के फलस्वरूप इस योजना को सफलता मिली।

मधुबनी चित्रकला को 1970 ई० में सर्वप्रथम सरकारी मान्यता मिली, जब भारत के राष्ट्रपति द्वारा मधुबनी जिला स्थित जितबारपुर ग्राम निवासनी कलाकार श्रीमती जगदम्बा देवी को पुरस्कृत किया गया साथ ही श्रीमती सीता देवी एवं श्रीमती महासुन्दरी देवी को उनकी कार्यप्रतिभा एवं कार्यदक्षता के हेतु राष्ट्रीय पुरस्कार दिया गया। मिथिला चित्रकला के इतिहास में यह एक महान घटना मानी जा सकती है क्योंकि इसके बाद ही विश्व के कला प्रेमी का ध्यान इस कला की विलक्षणता की ओर आकृष्ट हुआ।

अब अनेक शताब्दी से उपेक्षित रहने के पश्चात् मिथिला लोकचित्रकला विश्व को अपने चमत्कारिक पेंटिग से अपना आकृष्ट करवाने में सफल रही। जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य देश के साथ-साथ अधिकांश समाजवादी देश यथा- रूस, हंगरी, पौलेण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया इस कला से अत्यधिक प्रभावित हुए। इस चित्रकला की प्रदर्शनी पश्चिम जर्मनी, फ्रांस, पोलैण्ड, डेनमार्क तथा कनाडा में आयोजित की जाने लगी, जिसके कारण इसकी प्रसिद्धि दिनों-दिन बढ़ने लगी। अपने देश में भी बम्बई, दिल्ली, तथा कलकता में मधुबनी चित्रकला की समय-समय पर प्रदर्शनी लगने लगी। जिससे इस चित्रकला की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। साथ ही व्यापार की दृष्टि से भी इसकी उपादेयता ने सरकार और व्यवसायी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। जिसके परिणामस्वरूप समस्त विश्व में विशेषतया यूरोप एवं अमेरिका में मिथिला चित्रकला या मधुबनी पेंटिंग के रेखा-चित्र (स्केच) एवं आकार (मोटिफ) की मांग व्यवसायी वर्ग में दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है।

संदर्भ

1. ठाकुर उपेन्द्र - मिथिलाक चित्रकला ओ० शिल्पकला, मैथिली अकादमी, पटना, 1987,
2. झा, लक्ष्मीनाथ - मिथिला की सांस्कृतिक लोक-चित्रकला, पटना, 1962
3. आर्चर, डब्ल्यू० जी० " मैथिल पेंटिंग" 'मार्ग' भाग-3, संख्या-3, बम्बई,
4. ठाकुर, उपेन्द्र - हिस्ट्री ऑफ मिथिला, मिथिला रिसर्च इन्स्टीच्यूट दरभंगा, 1956,
5. ठाकुर, उपेन्द्र, मधुबनी पेंटिंग, अभिनव प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1982,

Quality and Accessibility of Music Education in Nepal's Higher Education

Swarnima Mishra*, Dr. Jyoti Mishra**

Abstract

Nepal is India's closets neighbor and the world's only Hindu Nation .The Religious , Cultural , and historical traditions , customs ,arts and skills of this country , nestled in the lap of the Himalayas , have been associated with India since ancient times . There have been more discussions about this country in Indian literature from time to time than about any other country . Even today ,hundreds of pilgrimage sites ,monasteries ,temples ,rivers, mountains etc. In Nepal have kept the ancient Indian cultural and religious consciousness intact. Just as countless rivers flowing through the territory of Nepal continuously anoint the Indian territory , so too the Indian stream of thought has flowed in to Nepal and enriched it with its valuable contributions in different eras .Music also plays a significant role in making any country prosperous. Music is vital to Nepal as it embodies its rich culture identity , integrates spiritual practices binds communities ,serves as a means of expression and social commentary, and preserves heritage . Music education in Nepal is evolving from informal learning to structured programs ,with institution like Kathmandu University and Nepal Music center offering formal degrees and training ,focusing on preserving Nepal's rich , diverse musical heritage alongside modern and western styles , though challenges in pedagogy and infrastructure persist.

Key words- Nepal, Education ,Culture ,University, Music

Introduction-

A good system of music education helps a country helps a country to develop economically and culturally .Systematic music education is very important for the social developing of any country . Music has become very useful to all aspects of our life. Music education has continuous from ancient days till today . The formal education of music in Nepal was started after the establishment of Padma Kanya

*Assistant Professor : University of Allahabad, Email Id- mishraswarnima555@gmail.com , Phone No- 9140778722

**Department of Music and Performing Arts, University of Allahabad

High school .Which was formally opened in Kathmandu in 1947 AD. However the development of formal music education appears to have progressed slowly after that initial step . The establishment of Nepal sangeet Maha Vidyalaya in 1957 under the auspices of the Nepal sangeet parishad . serving as the first dedicated music college in the country .There are three types of the music education system ,namely ,informal, non-formal, and formal .The practice of formal music education university programs in Nepal has approximately 60 years of History . During the period , only a few universities , colleges , and school have been academically providing music education. Education is the backbone of any society. A nation builds and sustains upon the values of education it imparts, to the humane seeds that germinates into mightier perennial plants, to protect the Nation and take it to the highest rung of the global ladder. An important parameter to approximate the positive influence of education on the society is through the assessment of the quality imparted, which necessitates continuous implementation of innovative teaching methods and practice. Higher music education in Nepal has evolved from informal guru – shishya traditions into formal university- based programs over the past several decades .This shift began in earnest following the establishment if Tribhuvan University in 1959,which became the first institution to incorporate structured music education into academic programs.

Here is description of some such universities that have worked for music in Nepal-

1-Tribhuvan University- Tribhuvan University(TU) , Nepal's oldest and largest university ,was established in 1959 by King Mahendra ,named after his father King Tribhuvan ,To centralize higher education ,initially bringing existing colleges under its umbrella and later expanding significantly under that 1971 National Education system Plan to become the backbone of the nation's academic progress from its base in Kiritipur , Kathmandu Tribhuvan University offers music higher education through programs like Bachelor of Fine Arts (BFA) in classical music ,and Master of Fine Arts (MFA)in music ,focusing on Eastern Western and Nepali Folk traditions with practical skills and theory , open to students from various background with relevant training ,leading to careers in performance research ,and production .TU's Department of Fine Arts also offers MPhil in music.

Padma Kanya campus (1959)- Padma kanya campus is the first campus to institutionalize formal music education ,teaching classical vocal ,instrumental, and dance. Padma Kanya Multiple Campus is a historic women's college in

Bagbazaar ,Kathmandu, established 1951 .inaugurated by King Tribhuvan ,offering degrees in Humanities, Management ,and Science ,and playing a crucial role in empowering female students in country.

Ratna Rajya Laxmi Campus – Ratna Rajya Laxmi Campus in Kathmandu, Nepal, started as Ratna Rajya Laxmi Girls college in 1961with just three students, Expanded formal music education within the TU system .

Fine Arts campus(1979)- Further integrated music studies into higher education.

Faculty of Education (1967)- Included music at the Intermediate level ,allocating 200 marks showing early academic integration.

2-Srijana college of Fine Arts (Kathmandu)- Srijana College of Fine Arts in Kathmandu, Nepal was established in 2001 by a group of artists and art enthusiasts .It was the first private fine arts college in the nation ,affiliated with Tribhuvan University ,aiming to provide quality art education and promote Nepali culture ,with its campus and community focus evolving from a vision for a dedicated art institution .The college is situated in Lagimpat , Kathmandu, serving as a central hub for art education .

3-Kathmandu University (KU), Department of Music- Kathmandu University offers a Bachelor of Arts in Music (Ethnomusicology) and a Master of arts in Music program .These include classical and traditional music training alongside research and performance components .

4-Kalanidhi Indira Sangeet Mahavidyalaya Nepal - Kalanidhi Indira Sangeet Mahavidyalaya is Nepal's premier classical music institution ,established in 1963,accredited by Indian bodies like Bhatkhande sangeet and Prayag sangeet samiti ,with Pandit Ranga Rao Kadambari as its first principal, dedicated to promoting music education through its curriculum in Hindustani Classical Music .Kalanidhi Indira sangeet Mahavidyalaya is a non governmental ,non profit music institute in Nepal.

5-Sangeet Natak Academy/ Nepal Academy and Music and Drama – Nepal Academy and Music and Drama is prominent institution in Nepal dedicated to promote, and develop Nepal's rich cultural heritage, particularly in the filed of music ,dance and theaters .

Despite having so many institutions music education in Nepal's higher education faces challenges in quality and accessibility due to limited institutions ,outdated curricula, and lack of government support.

Nepal Music Center- The Nepal Music Center (NMC) also known as the Nepal Sangeet Vidyalaya ,was founded in 2006 AD and is situated in Pingalasthan , Kathmandu ,The center has been exploring the folk music

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.027

of many ethnic groups as a potential teaching resource since it opened. NMC also offers classes in a range of musical genres. Music technology vocals ,drums guitar table ,music theory ,arranging and composing are few of them.

Quality –

Curriculum Gaps- Traditional focus on Eastern classical music needs better integration with contemporary Nepali and Western music and technology .

Teacher Training – A shortage of well – qualified , trained music educators limits program quality .

Institutional Limitations – Few Universities offer comprehensive music programs ,leading many aspiring musicians to study abroad.

Assessment Issues- Current assessment methods need critical reflection to ensure they foster democratic ideals, participation ,and diverse student experiences ,rather than just performance.

Career Stigma- Music is often seen as a hobby ,not a viable career , lacking institutional support and broad professional pathways.

Economic Barriers- Although public universities are relatively affordable ,additional coats such as instruments , private practice , and materials make music education less accessible to students from low – income families.

Lack of Early Exposure- Music is not widely taught as a formal subject at primary and secondary school levels .As a result ,many students enter higher training, discouraging participation and limiting enrollment.

Progress and Opportunities

New Programs- Establishment of MPhil/PhD in Fine Arts at Tribhuvan University offers advanced study.

Curriculum Evolution- Efforts to revise music courses to include diverse traditions.

Technology Integration- Use of ICT is being explored to enhance content delivery and access.

Lack of Market Demand And Student Interest- Many students enroll but drop out after learning basics, preferring popular genres, citing low demand for classical music and a perceived lack of patience for its rigorous practice.

Universities in Nepal struggle with classical music education due to a lack of market demand, leading students to quite for mainstream music ,coupled with systemic issues like outdated curricula ,inadequate facilities , economic ,barriers and brain drain .

Conclusion- Music education in Nepal's higher education system has made important contributions to preserving traditional music and producing skilled musicians and producing skilled musicians

.However, the quality of education is constrained by outdated curriculum, limited resources ,and weak research culture , while accessibility is affected by geographic , economic , and social barriers. To improve the situation , Nepal needs curriculum modernization , stronger institutional support , early – level music education pathways , and inclusive policies that encourage wider participation . strengthening both quality and accessibility will help music education play a more meaningful role in Nepal's academic and cultural development.

References-

1. The 3 type education (2021,Feb10) Cuemath July 8,2022
2. Thakur ShriHarinandan ,Nepal Desh aur Sanskriti
3. Acharya Madhu Raman , Nepal Culture Shift Reinventing Culture in the Himalayan Kingdom
4. Bajracharya ,D.(1974) Lichchhavi Kalin Abhilekh . Center for Nepal and Asian studies, Tribhuvan University, Nepal
5. TU vision -2030 (2019) Tribhuvan University ; Retrieved July 5,2022

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.028

Preserving Indian Classical Music: A Qualitative Study of Continuity and Change

Bhadra Priya K,

Dr. Rakesh Kumar

Abstract

Indian Classical Music has been preserved and transmitted through different methods. The ***Guru-Sifya Paramparli*** *is one of a method where the music is being taught orally by a mentor to disciples. Indian Classical Music is also preserved by written notations of the compositions. This research paper explores the transition of the* ***Guru-Sifya Paramparli*** *to the written notations in preserving the classical music leading to wider accessibility and standardized archives. This research paper mainly analyses the changes evolved in notation writing from the period of development of* ***swara*** *to the present day. The study explores the impact of writing notations on practising classical music. The paper hence examines the limitations and difficulties of notating the improvisations and intricate musical ornamentations of Indian classical music. The paper also discusses about the role of technological development in preserving. The primary source of this paper includes the comments of select musicians on the notation writing system. The paper also explores the modern technology of preserving the notations for future generations. The research paper employs a qualitative approach to comprehend the methods of preserving Indian classical music.*

Keywords: *Indian Classical Music, Guru-Si$ya Parampara, Notation systems, Preserving, Technology.*

Introduction

Indian classical music has been a vibrant tradition since ancient times. Its uniqueness lies in the fact that it is not merely a sound-based art, but also an integral part of spiritual and cultural heritage. The preservation and transmission of music continued orally for centuries, where the exchange of knowledge was made possible mainly

*Research Scholar Department of Instrumental Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi.

**Assistant Professor, Department of Instrumental Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi.

through the *Guru–Śiṣya* tradition. Indian classical music has two distinct streams: Hindustani classical music and Carnatic classical music. Both classical music genres share the foundational principle of rāga and tāla, which together form the structural basis of performance. With time, the need for other means of preserving music was felt. In this context, the system of notation writing was developed, which made a significant contribution towards preserving music in written form.

The objectives of this research study are to explore the ways of preservation and transmission of Indian classical music by understanding the role of *Guru–Śiṣya Paramparā*, Indian Notation writing systems, its influence on music practice, pedagogy and its limitations in capturing the intricate nuances of Indian classical music, and the role of modern technology in learning, preserving and accessing.

The research considers insights from practitioners regarding the practical utility and limitations of notations in Indian classical music. The study aims to offer a comprehensive understanding of the transformation of preservation practices in Indian classical music.

Musical knowledge through Guru–Śiṣya Paramparā

In Indian tradition, the term *'Guru'* signifies more than a teacher. A *Guru* is not limited to one who only imparts subject-based or technical knowledge. A *Guru* has philosophical understanding, ethical values, aesthetic sensibility, and cultural continuity. A *Guru* is a respected mentor and advisor who has understanding acquired from self-realization and experience in addition to knowledge.

The term *Śiṣya* refers to the disciple or learner who receives knowledge under the guidance of a *Guru*. A *Śiṣya* is an active participant in a long-term pedagogical relationship, committed to learning through observation, imitation, practice, and internalisation.[1] The *Śiṣya* is significant as the carrier of tradition, whose responsibility lies in preserving, practising, and eventually transmitting the knowledge further. The success of the pedagogical process is reflected not merely in technical proficiency but in the disciple's ability to uphold the artistic values and integrity of the tradition.

Within Indian classical music, a *Guru* plays a vital role in shaping the disciple's understanding of *rāga, tāla*, improvisations, intricate nuances, and emotional expression (*bhāva*). The *Śiṣya* acquires knowledge and learns through rigorous practice (*riyāz*), surrender of ego, patience, and deep respect for the *Guru* and the tradition. The *Śiṣya* not only absorbs musical structures, but also the principles that define a particular lineage *(gharānā)*.[2]

Guru–Śiṣya Paramparā may be defined as a lineage-based pedagogical framework characterised by oral transmission, experiential learning, long-term mentorship, and cultural continuity. The word *Paramparā* denotes succession or continuity. Indian classical music has been preserved and transmitted through different pedagogical methods. *Guru–Śiṣya Paramparā* is one of the traditional methods to teach Indian Classical music. This pedagogical method serves as the oldest effective medium for the transmission of Indian classical music. This method emphasizes one-to-one teaching. Knowledge was primarily transmitted orally. Here, the disciple grasps knowledge from the mentor through direct interaction, and the learning process involves listening and memorising compositions through repeated and dedicated practice, ensuring the subtle nuances. Through the tradition of *Guru–Śiṣya Paramparā*, the artistic values, musical nuances and the essence of Indian classical music are preserved, ensuring the continuity of the legacy.[3] Through *Guru–Śiṣya Paramparā*, the unique techniques for musical presentation of artists have been passed from generation to generation. This establishes a *gharānā* when the musical techniques are passed to a minimum of three generations continuously. Through the *gharānā* tradition, distinctive musical styles were carefully preserved and passed down across generations, eventually becoming a defining identity for the disciples associated with each *gharānā*.[(4)]

According to Shri Jawaharlal (personal communication, September 13, 2025), a *Shehnai* artist of the *Banaras Gharānā* who is also renowned for his expertise in semi-classical forms such as *Thumri*, *Kajri*, and *Chaiti,* emphasized that the art of playing the *Shehnai* can only be acquired through a *guru*, as no formal educational institution in India offers training in this instrument. He further elaborated on how the stylistic nuances and repertoire of the *Banaras Gharānā* have been transmitted exclusively through the traditional *Guru–Śiṣya* lineage, thereby preserving its authenticity and regional identity.

Dr. Supriya Shah (personal communication, September 9, 2025) highlighted the pedagogical continuity of the *Guru–Śiṣya Paramparā* in contemporary academic contexts. She discussed a composition in *rāga Hansdhwani* that she had learned through her *guru*, *Pandit Uma Shankar Mishra*. This composition, passed down through the familial lineage of her *guru*, represents a living example of oral transmission within institutional frameworks. Through such teaching, the compositions rooted in traditional practices have been preserved and transmitted at the

educational level as well. Likewise, certain compositions whose notations are not available in any books, or written/published by any individual. Such compositions are transmitted to students and audiences through recordings or live performances by the guru or disciples of a particular gharana.

Development of Swara in Indian Classical Music

The process of understanding how Indian classical music has been preserved requires a careful examination of the historical development of *swara* (musical notes). The development of *swara* can be considered from the Vedic period. According to Dharmavati Srivastava, the term '*saptadhātu*' is found in Vedic Period. Probably, *saptadhātu* has been used for seven notes. (ratnavali). In *Sāmaveda*, five types of notes are described – *Udatta, Anudatta, Svaritta, Prachay, Sannatar. Prachay* and *Sannatar* are in the way parts of *Svaritta*.

According to *Nāradīyā Śikṣā*; *sāma* is sung through the notes for *prathama, dvitīya, tṛtīyā, caturtha, mandra, krushta* and *atisvarya*. It is noted here that the names of four notes are numeric and other three are descriptive words. These types of notes indicate the development of *sāma grāma*. In the beginning of Vedic period, notes were called as *'yama'*, and during the Vedic period itself, the names like *Shadaja, Rishaba, Gandhāra* etc. came into use. Anciently, *kruṣṭa* etc. words were used for the notes and later on vedic scholar named the notes to *Shadaja, Rishaba* etc. This is how the names of the *swara* that we use now developed. The categories of *śuddha* and *vikṛta swara* were also developed which laid the groundwork for the development of the *rāgas*.[5]

In the medieval period, the treatise *Sangīta Ratnākara* (13th century CE) by *Śārṅgadeva*, provided a comprehensive classification of *swara, rāga,* and *rāgiṇī*. He described about 22 *śrutis* (microtones), elaborating on how the seven *swara* could be rendered in multiple subtle shades.

Emergence of Notation Writing Systems

Notations are visual representation of music. Most of the earliest documentation related to music, is found in ancient treaties from around 1st century BCE. Many manuscripts with collection of compositions were found on palm leaves, copper plates etc. The emergence of notations can be marked with the inscription of *Kuḍumiyāmalai*. It is a seventh-century rock inscription found at *Kuḍumiyāmalai*, Tamil Nadu that contains musical notations. It is recognized as a surviving source of early Indian musical notation and was identified and brought to scholarly attention by P.R. Bhandarkar. The

Kuḍumiyāmalai inscription contains notations that consists of syllabic representations of swaras arranged in a structured way.[6]

As music began to spread beyond courtly and hereditary contexts into public performance and institutional education, it led to the development of notation systems**.** In context of Hindustani classical music, musicians such as Pt. Vishnu Digambar Paluskar and Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande developed a systematic way of writing down the notes for the compositions. Pt. Vishnu Digambar Paluskar developed the Paluskar notation system, while Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande developed the Bhatkhande Notation system. Both the notation systems use different symbols along with the syllables to notate the music.[7] Both the systems employ definite symbols to denote *komal* and *tīvra* swaras, octaves, *layakārī* and beats of *tāla*. The invention of the notation writing system represents the standardisation of *swara* in pedagogy and practice.[8] As a research scholar and a music student, the Bhatkhande Notation system seems to be easier and more precise in reading than the Paluskar Notation system. At present, we follow the Bhatkhande Notation writing system for notating. The musical notation in printed format has led to the preservation of the compositions to a great extent. Thus, in addition to preserving swara through notation, it made easier for Indian classical music to be widely taught in classrooms, universities, and other medium. The documenting of Indian classical music has paved the way for music to be appreciated and studied globally.

Limitations of the Indian Notation Writing System.

The basic purpose of a notation system is to write music. Writing music helps in documenting in a printed format. The Indian notation writing system has its own limitations. As Indian Classical music is all about improvisations, the notation system cannot notate the intricate ornamentations, improvisations, and subtle nuances, limiting the comprehensive understanding of dynamic expressions.

Discussions with Dr. Nikhil Bhagat, (personal communication, September 11, 2025) on limitations of Indian notation writing system summarises that when Indian classical music is sung or played in practice, it often differs from what is written in notation due to the presence of dynamics, ornamentations, and subtle musical nuances that cannot be fully captured in written form. The notations are static and are just a skeleton of the compositions. Notations play a role as a tool in group performance or fusion performance. While performing or in a practice session, a performer or a music student can understand the musical

nuances and its differences in comparison with the notation written. Dr. Bhagat added that, unknowingly some fillers will be played while playing any compositions or phrase that enhance the beauty and musicality of the performance. If a performer needs to interpret any notation in their own standards, they improvise, as improvisation is the key element of Indian classical music. Improvisations are based on the interpretations of an artist. The various fillers and differences in sound to different syllables of Tabla must be added while playing and these variations in sound degrees cannot represent in the Indian notation system.

While listening to Indian classical music, it is evident that the *śruti* difference and the dynamics of *swara* while presenting a raga cannot be notated. For example, the swara *Komal Gandhara* of rāga *Darbari Kanhada* is slightly lower to the *śruti* of normal *Komal Gandhara*. The *Komal Gandhar* of *Darbari Kanhada* is not same as the *Komal Gandhar* of rāga *Bageshri*. Also, a video recording of Bansuri recital by Pt. Rajendra Prasanna on rāga *Marwa* has been analysed while learning to clearly understand the dynamics and intricate nuances and state these limitations.[9] This difference cannot the represented with the Indian notation system. The difference can only be understood by listening to or learning classical music from a mentor. There are many such examples of *rāga*. There is no symbol to denote the intricate ornamentation, *gamaka* of Indian classical music. As a music student and practitioner of Hindustani classical music, the constraints and challenges of notating are quite evident. Therefore, the preservation of Indian classical music is not yet complete with the notation writing system.

Technological Advancements in Preserving

The development of technology has ensured a great impact on preservation and transmission to a wider audience, making an easy to access globally. The introduction of audio recording technology marked a significant turning point in the history of Indian classical music. With the advancement of digital recording and storage technologies, music preservation has become more precise and durable. A vast collection of rare and extremely significant recordings of artists that have been saved for future generations can be found at the Central Archives of All India Radio. Those recordings are released under the name of "Akashvani Sangeet" on CDs.[10] Doordarshan tape libraries also preserve a vast collection of studio-recorded and outdoor audio-visual programmes of Indian classical music. The recording is converted into a new format whenever technology advances and equipment become outdated.[11]

The development of digital

audio and video streaming platforms has enabled preserving the rare and innovative performances and compositions. For example, an audio recording of Ustad Shahid Parvez on *rāga Shudha Sarang*, a composition in 5.5 beats is available in Spotify.[12] Numerous video recordings available in YouTube and other platforms made Indian Classical Music more accessible, engaging and effective for learners. With technological progress, music has crossed the limits of geographical boundaries, becoming globally accessible through online platforms.

Additionally, virtual learning environments and apps have revolutionized pedagogy, allowing students to engage with maestros remotely, thereby sustaining traditional teaching methods in modern formats.[13]

In preservation, a few software systems have also been developed for notating Indian classical music. iSargam is a Unicode-based music notation system developed for Carnatic music to enable digital storage, publishing and retrieval.[14] In context of Hindustani classical music, Notatia is a software that is under development to digitally store, retrieve and share the systematic documentation of compositions, making the notation more accessible.[15] As technology continues to evolve, preservation methods will undergo significant transformations.

Conclusion

Indian classical music has been preserved and transmitted through different methods. This research paper highlights the evolving methods of preserving particularly through the transition from the traditional *Guru–Śiṣya Paramparā* to written notation systems and the technological development in conservation. The purity of the Indian classical music can be learnt from the proper guidance of a mentor. Musical knowledge in this system is largely experiential and oral, and hence cannot be fully captured through notation or textual instruction alone.

The notations are just the outline structures. The Indian notation system serves to document compositions in printing format, enabling standardized learning and archival methods. But the subtle nuances and intricate ornamentations of Indian Classical Music cannot be noted in written form. Hence, the oral tradition in Indian music highlights the limitations of written notations as it primarily captures basic parameters while omitting intricate nuances and ornamentations.

While the notations play a crucial role in documenting music, it cannot fully replace the clarity of learning through live transmission and mentorship. With the advent of digital technologies, it has enabled preservation in digital form and transmission of Indian classical music for future generations. In

the researcher's point of view, the methods of preservation is a continuous process as musical expression and techniques differ distinctly among individual musicians.

References

1. Mukherjee, O. (2024, August 28). *Guru Shishya Parampara: The Ancient Lineage of Learning*. EIILM-KOLKATA. Retrieved October 18, 2025, from https://eiilm.co.in/guru-shishya-parampara-the-ancient-lineage-of-learning/ (2023, July 1). *Passing the Torch of Tradition: The Eternal Bond of Guru-Shishya Parampara*. Serenade. Retrieved January 4, 2026, from https://serenademagazine.com/passing-the-torch-of-tradition-the-eternal-bond-of-guru-shishya-parampara/
2. Mukherjee, O. (2024, August 28). *Guru Shishya Parampara: The Ancient Lineage of Learning*. EIILM-KOLKATA. Retrieved October 18, 2025, from https://eiilm.co.in/guru-shishya-parampara-the-ancient-lineage-of-learning/
3. Sarpotdar, M. S. (2024). Gharana in Hindustani Classical Music. *Swar Sindhu*, *12*(03), 326-328. https://swarsindhu.pratibha-spandan.org/wp-content/uploads/v12i03a50.pdf
4. Kumar, A. (2021). *Sangeet Ratnavali* (pp. 17-18). Abhishek Publication.
5. Widdess, R. "The Kudumiyāmalai inscription: a source of early Indian music in notation, by D R Widdess,"
6. *MusicResearchLibrary*, accessed January 7, 2026, https://musicresearchlibrary.net/omeka/items/show/2382.
7. Chandra, S. (2015). *Swar Vadan* (p. 1). Satish Shree Prakashan.
8. Courtney, D. (n.d.). *North Indian Musical Notation: An Overview (Part 1)*. Chandrakantha.Com. Retrieved July 24, 2025, from https://chandrakantha.com/music-and-dance/i-class-music/n-indian-notation/
9. [SaMaPa Official]. (2020, September 5). *SaMaPa Digital Baithak | Raga Marwa | Rajendra Prasanna | Flute | Bansuri* [Video]. YouTube. www.youtube.com/watch?v=mVrZFR1kAa4&t=617s
10. Tripathi, D. (2020). Role of All India Radio and Doordarshan in the Development of Indian Music. *International Journal of Trend in Scientific Research and Development (IJTSRD)*, *4*(5), 1755-1759. www.ijtsrd.com/papers/ijtsrd31879.pdf
11. Parekh , R. A. (2022). Role of Doordarshan Libraries in preserving Indian Classical Music (A study of Doordarshan Centres of Gujarat). *Sangeet Galaxy E-Journal*, *11*(1), 89-98. www.sangeetgalaxy.co.in
12. Parvez, S. (2021). *Raga Shudh Sarang Nayab Peshkash* [Album]. Spotify. https://open.spotify.com/track/2hbAoYK9ZLmNBNFcXpS6fQ?si=eb8af9adc70940b8
13. Saranathan, P. (2025). Impact of 21st Century Technology on Indian Classical Music Performances and Teaching. *Swar Sindhu*, *13*(1), 444-449. https://doi.org/10.33913
14. Mammen, S., Krishnamurthi, I., Varma, A. J., & Sujatha, G. (2016). ISargam: Music notation representation for Indian Carnatic music. *EURASIP Journal on Audio, Speech, and Music Processing*. https://doi.org/10.1186/s13636-016-0083-z
15. Inamdar, A. (n.d.). *Notations. Anywhere. Everywhere.* Notatia. Retrieved January 2, 2026, from https://notatia-frontend.firebaseapp.com/

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.029

The Changing Landscape of Musical Employment in the Age of Artificial Intelligence (AI)

Sugandha Gupta*, Dr. Surendra kumar**

Abstract

The rapid emergence of AI-driven music technologies is transforming the creative economy worldwide, with Indian musicians and industry stakeholders facing new challenges and opportunities. This paper examines how generative AI is reshaping employment in India's music sector, integrating global trends with India-specific data and case examples. We begin by situating AI adoption within India's burgeoning creative industries (now contributing roughly 8% of the country's employment). A literature review highlights global analyses of AI's impact on music and India-focused studies on creative economies. We then present case studies: Indian startups and artists (e.g. Beatoven.ai, NaadSadhana, independent musician Jake Joss, and legal cases like singer Arijit Singh's AI-voice ruling) that illustrate how technology is being adopted or contested. Survey results and reports (e.g. Asian Development Bank and Stanford research) suggest millions work in creative jobs and hint at declining employment in AI-exposed roles, though Indian employers remain largely optimistic about new AI jobs. We discuss how AI threatens some traditional roles (composers for jingles, session players, voice artists) while creating new ones (AI trainers, prompt engineers, creative collaborators). Musicians face pressures to adapt skills or risk displacement, but some see AI as a creative aid. Finally, we examine ethical and socio-cultural implications in India – from copyright and personality-rights challenges to concerns over cultural authenticity and digital equity. In conclusion, AI is neither a job-killer nor a panacea: its long-term impact will depend on regulation, business models (e.g. royalty-sharing AI music models), and how artists embrace or resist these tools.

Introduction

The advent of generative AI tools in recent years has begun to revolutionize music creation, distribution, and consumption. Systems capable of composing

*Research Scholar - Email- sugandha_phd2025@allduvniv.ac.in

**Research Supervisor - (Associate Professor-University of Allahabad)

melodies, synthesizing vocals, and producing entire tracks from text prompts (e.g. OpenAI's Jukebox, Google's musicLM, and various startup platforms) have democratized music production. In India – a country with a vast and vibrant music scene spanning Bollywood soundtracks, regional cinema, classical traditions, and independent genres – these technologies arrive amid rapid growth of the creative economy. The Indian creative sector, valued at over ₹3 trillion (USD 35 billion) and employing roughly 8% of the workforce,(1) is now grappling with AI. Generative AI models trained on extensive musical corpora can mimic voices and styles with uncanny accuracy, challenging established intellectual-property norms and livelihoods.(12) In 2024–25, India saw landmark legal and policy developments: the Delhi High Court heard the ANI Media v. OpenAI case, and the government's DPIIT proposed mandatory licenses for AI training data.(12) At the same time, AI-powered startups (some founded by musicians themselves) emerged to solve industry problems like soundtrack licensing.

This paper explores how AI adoption is changing musical employment in India. We review scholarly and industry literature on AI's global creative disruption, focusing on evidence for job loss or creation and skill shifts. We survey data and reports (including Indian sources where available) on employment trends in music. We then present case studies of Indian actors – tech entrepreneurs and musicians – adapting to or resisting AI. In discussing impacts, we consider both risks (job displacement in some roles, ethical/legal dilemmas, cultural homogenization) and opportunities (new career paths, enhanced creativity, broader access). We pay special attention to India's context: a richly diverse tradition of music, a growing tech-savvy talent pool, and socio-economic issues like the livelihood of lower-income musicians. Ultimately, we aim to provide a balanced, well-referenced analysis of how India's music workforce is evolving in the AI era, highlighting future research and policy directions.

Literature Review

Global Perspectives on AI in Music and Employment

Globally, generative AI is seen as a "transformative" force in creative industries.(4) Unlike routine automation in manufacturing, AI in creative fields (music, art, film) often acts as a collaborative tool that can augment human creativity.(4) For example, researchers argue that generative AI accelerates workflows and sparks innovation (e.g. suggesting chord progressions, generating backing tracks), but the challenge is to "maintain the human touch and

authenticity" that define art. This perspective aligns with industry observations: Hollywood writers and actors have protested AI (2023 strikes) to preserve creative integrity, and music legends emphasize that AI should empower, not replace, artists.(7)

Empirical work indicates the creative industries are large employers. The Asian Development Bank estimates about 40 million people work in creative roles in India, roughly 8% of all jobs.(12) (This is similar to other estimates that India's creative sector accounts for ~8% of employment.) Globally, creative industries represent significant GDP shares (e.g. 5.6% UK GDP, 3.1% US GDP). As such, any disruption in these fields has broad economic impact.

Studies of AI's impact on work suggest mixed effects. A Stanford/NASSCOM analysis cited by Patra et al. found that young workers (22–25) in AI-exposed jobs in India saw a 13% employment decline since 2022, coincident with ChatGPT's rise. More broadly, World Economic Forum research stresses that while many fear job losses, AI also creates new categories of work.(8) For example, roles like "AI music producer," "AI prompt engineer," or "AI curator" are emerging. In India, Indeed's survey found 85% of employers expect AI to generate new jobs in the next 1–5 years. In creative sectors, AI might displace some routine tasks (e.g. transcription or mixing)(3) but could spawn jobs in AI-integrated songwriting, personalized content creation, and rights management. PwC notes that even highly automatable jobs can be redefined by AI, boosting human value by shifting work to higher-level tasks.

At the same time, global scholars warn of possible harms. Generative AI relies on massive datasets often scraped from existing works, raising copyright and ethical issues.(11) A US-WEF survey reports 52% of American workers worry AI may harm their job security, and 66% feel AI could perform their work. The concern is especially acute in creative jobs where humans feel a unique emotional connection to art; a recent WEF article notes creative industries risk "losing the heart and soul" of creation if AI is not managed with worker input. Voice actors and dubbing artists globally have highlighted risks of AI voice cloning, and musicians fear homogenization of music if everyone uses similar AI tools.

Indian Perspectives on AI in Music and Creative Industries

In India, academic and industry reports highlight both the sector's scale and AI's growing role. An IBEF report notes India's creative sector grew rapidly in recent years and outpaces many countries in creative employment (8% vs ~2% elsewhere). However, only about

40% of Indian news teams or content creators used any AI tools as of 2024, suggesting large untapped potential. Press accounts describe a “Bollywood vs. Bangalore” debate: entertainment industry leaders (filmmakers, music labels) push for strict licensing of training data to protect artists, while IT stakeholders advocate for innovation-friendly rules.

Indian musicians and technologists are active in this space. For instance, a recent Free Press Journal interview with Beatoven.ai’s CEO (also a classically trained sitarist) stressed that AI should be viewed as an aid to creativity rather than a replacement.(2) Bollywood legend A.R. Rahman, in interviews, likewise warned against “removing the composer” just to save money; he sees AI as empowering content creators with limited resources (e.g. children, indie filmmakers) but emphasizes the irreplaceable value of unique human artistry.

Legal scholars note that India’s copyright laws struggle with generative AI. Naveen (2024) observes that even small AI-driven changes can significantly disrupt jobs and GDP given the sector’s size. The Bombay High Court in 2024 recognized a singer’s voice and style as protectable under personality rights, banning unauthorized AI cloning of Arijit Singh’s voice.(6) Such cases highlight rising awareness that AI technology must be balanced with artists’ rights.

Finally, surveys of Indian creatives (e.g. a 2025 industry survey by The Dialogue, media reports) find mixed attitudes: many worry new regulations on AI could stifle creativity, but there is also excitement about global reach and regional diversity. Overall, Indian literature frames AI as an emerging disruptor whose ultimate impact will depend on policy choices and industry adaptation.

Case Studies of Indian AI and Music Initiatives

Beatoven.ai(startup)- Launched in Bengaluru (2021), Beatoven.ai is an AI music-composition platform co-founded by sitarist Mansoor Rahimat Khan and engineer Siddharth Bhardwaj. It generates royalty-free soundtracks based on user-selected genres and moods, aiming at content creators (YouTubers, advertisers, etc.) who need custom music without licensing hassles.(11) By early 2022 Beatoven had hundreds of users, expanding globally, and by 2025 it claimed 2 million users and 15 million tracks generated. Crucially, Beatoven stresses ethical data practices: its new “Maestro” model (Aug 2025) is trained only on licensed music catalogs so that original composers earn ongoing royalties. Co-founder Khan argues that AI will not make musicians redundant if business

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.029

models compensate them; Beatoven reports paying all contributing producers and even sending monthly reports on usage. In interviews he urges artists to see AI as a "tool to make them more efficient" rather than a threat. The Beatoven case illustrates an Indian startup leveraging AI while trying to forge a fair, creator-inclusive ecosystem in music tech.(2)

Naad Sadhana (AI music education)- Indian technologists have also applied AI to pedagogy and accessibility. NaadSadhana, an app developed by Pune engineer-singer Sandeep Ranade, uses real-time AI to provide live accompaniment and feedback for Indian classical vocalists. For example, the app analyzes a user's pitch and tempo, auto-adjusts a virtual tabla accompanist, and guides the singer toward correct notes. It was designed specifically to help visually impaired musicians train independently. As Amar Jain (a visually-impaired singer) noted, NaadSadhana "uses artificial intelligence to assess how you are singing and plays along," recreating the effect of a teacher correcting a student in a gurukul. By making advanced music instruction more accessible, NaadSadhana represents a positive AI use case for empowering artists and preserving traditional forms. It shows how AI can "create a gurukul for the digital age," bridging India's classical heritage and new technology.(9)

Independent musicians (AI-driven creativity)- Individual Indian artists are experimenting with AI in creative ways. For instance, independent songwriter Jake Joss (a Mumbai-based artist) gained recognition in 2025 for producing entirely AI-generated music videos. One project, Daddy (2025), used text prompts to generate both the song and its video frames, making it "the world's first fully AI-generated music video". Joss then followed with Azaadi, a "patriotic music album" for which every track and its video were created via generative AI prompts. He emphasizes that AI did not start his music; rather it "helped me express [feelings] differently… The heart remains human. The tool is just new". (10) Jake's work – recognized by the India Book of Records – exemplifies how an Indian artist can use AI to realize ambitious projects without large budgets or studios. It suggests new pathways for storytellers: anyone tech-savvy can now write, record, and animate music videos, potentially broadening the indie scene.

AI and legal challenges–the Arijit Singh case- A notable legal "case study" is singer Arijit Singh's 2024 lawsuit against AI voice clonings. Singh argued that his vocal style, name, and persona are protectable "personality rights," and that AI platforms illegally used them to generate sound-alike tracks. In July 2024 the Bombay High Court agreed, granting an injunction barring

unauthorized voice cloning or AI-generated likenesses of his voice. The court emphasized that using AI to reproduce a celebrity's voice or image "for commercial or personal purposes" without consent violates their right to profit from their identity. (6) This ruling – the first of its kind in India – highlights the tension between technological possibility and artists' livelihoods. It sends a signal that deep fakes, even if technologically impressive, are not free to roam; artists retain exclusive rights to their creative identity. For musicians, this case underscores that legal protections for voice and style will be critical if AI tools become capable of realistic mimicry.

Survey Data and Reports on Employment Shifts

Empirical data on AI's employment impact in the Indian music industry are still sparse. However, broader surveys and studies offer insights. The Asian Development Bank estimates India's creative workforce at ~40 million, underscoring the scale at stake. A recent US-India Stanford/ NASSCOM analysis found that young professionals (ages 22–25) in AI-exposed roles saw a 13% employment decline since 2022. (5) While not music-specific, this suggests early-career creative (e.g. junior designers, programmers, may be digital artists) may be feeling displacement. Similarly, a Global Creative Content Forum survey (2024) warns that jobs like voice-over work and music arranging are vulnerable to AI tooling.

Conversely, other reports indicate potential job creation. Indeed's survey notes 85% of Indian employers expect AI to generate new jobs in the next 1–5 years. In the creative sectors, WEF researchers predict new AI-enabled roles – for instance, "AI music curators" or "AI prompt engineers" – that did not exist before. An Economic Times report (2025) described Indian firms filing tens of thousands of AI patents, suggesting a booming AI sector that could drive opportunities across industries, including media.(5)

Sector reports also detail India's music economy growth. An Ernst & Young report (2024) on music publishing noted India's streaming market is expanding rapidly (50%+ growth per year), even as traditional sales stagnate. It cautioned that newcomers like AI-generated "albums" might disrupt publishing models. Meanwhile, UNESCO and Indian cultural bodies stress that AI could democratize content production, potentially enabling more independent musicians to reach audiences (aligning with artists' accounts).

In the absence of large-scale music-specific surveys, we rely on these indirect signals: AI is producing mixed outcomes. Creative

job counts could shrink in some niches (e.g. session musicians and studio assistants) but overall creative employment is large and dynamic. The transition is uneven: seasoned professionals voice anxiety, while tech-adept youth often feel excited.

Impact on Professional Musicians

Job Loss and Role Displacement- Certain traditional roles in music are at particular risk from AI automation. AI tools are now capable of composing background scores, jingles, and simple songs with minimal human input. As a result, tasks once done by composers or arrangers (e.g. creating royalty-free stock music, incidental film music) are increasingly automated. According to Bollywood entertainment media, many artists worry that "composers, session musicians, sound engineers and arrangers" could be displaced in areas like advertising and lower-budget films.(3) For example, a digital assistant can now generate dozens of looping music tracks in seconds, replacing a studio session. Voice artists face similar threats; AI voice-cloning and synthetic singing models (trained on singers' voices) can produce vocal tracks without human singers. Arijit Singh's case is a prime example of this emerging conflict.

Routine technical jobs in music production are also affected. The Hashtag Bharat article notes that some side-jobs – transcribing performances into sheet music, creating arrangement parts, standard mixing/mastering tasks – are "increasingly susceptible to automation".(3) This means jobs like junior copyists and junior sound mixers may decline. Even live performance is not immune: "AI-powered backtracks" and virtual bands can supplement or accompany musicians, reducing demand for backup players on stage.

Empirical evidence on actual job loss is limited. However, tech-industry surveys (global) show a "fear of becoming obsolete" (FOBO) in creative fields. A WEF report cites that over 20% of US workers worry AI will take their jobs.(8) Indian media reports echo this concern in the music industry. Moreover, statistical models suggest that creative fields, though harder to automate than manufacturing, could still see a significant portion of tasks automated (some estimate ~30–40% of creative tasks are automatable in principle). The key metric – actual employment change – will only become clear over time.

Skill Transformation and New Opportunities- On the flip side, AI is creating new skill demands and job categories. Musicians increasingly need to understand AI tools, prompt writing, and data ethics. For example, "prompt engineer" has emerged as a role where artists write detailed instructions for generative models to produce desired sounds. New

platforms (like Beatoven.ai and others) require rights managers and data annotators familiar with music metadata. In Beatoven.ai's case, label partners use AI-powered analytics tools to better monetize back catalogs, a new avenue for industry professionals. As Jake Joss noted, AI can help an individual creator "shape new formats without institutional support," essentially enabling a solo artist to handle roles of composer, producer, and even video director.(10)

Some roles are entirely new: India is seeing the rise of "AI music producers" who curate and shape AI output, and "AI rights consultants" who advise on legal compliance for generative music. Educational institutions are beginning courses in AI-driven music technology (some conservatories have started workshops on AI music composition). While these roles are nascent, they represent avenues for musicians to specialize in the AI-music intersection.

Case in point, Mansoor Khan of Beatoven.ai highlights that AI might actually grow the market for music creators: by lowering the barrier to entry, many more "music directors" (in the sense of composers/directors of music projects) will appear. He posits that the skill of composition may diminish in relative value, but the market size (number of creators) will expand.(2) This echoes global predictions that AI will democratize creative professions, enabling hobbyists and semi-pros to create polished work. Indeed, an article quoting Spotify's CEO (not Indian, but relevant) suggests AI will lower barriers and lead to more people engaging in music creation.

Challenges for Musicians- Not all impacts are positive. Even if AI does not literally eliminate jobs, it heightens competition and shifts power. Global music labels, for example, fear that AI music (if unlicensed) could saturate the market with inexpensive content, pressuring composers to lower their fees. There is also a concern of de-skilling: if upcoming composers rely on AI templates, their foundational craft in theory and instrumentation might atrophy. Kumar and colleagues (2025) warn of a potential "homogenisation" of music – as critics say in Western articles – where AI-trained on millions of generic tracks produces formulaic songs lacking in authenticity.(3) This could erode the value of human artistry.

Moreover, many Indian musicians (especially those in traditional or folk genres) lack the technical resources or training to access AI tools. The digital divide means that while urban artists in Bangalore or Mumbai explore AI labs, rural folk musicians might struggle even with basic recording equipment. If demand shifts toward AI-centric genres (like EDM or fusion) and away from acoustic or classical performances, those

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.029

older artists could see declining opportunities.

Musicians also face income-model uncertainties. For example, if AI platforms proliferate royalty-free stock music (themselves AI-generated), independent composers who used to earn through libraries could lose revenue. Conversely, platforms like Maestro (Beatoven's new model) aim to share royalties, illustrating that job evolution depends on business frameworks.

Conclusion

In the "age of AI," the music industry is undergoing profound change. This paper has reviewed evidence from global and Indian contexts, surveyed reports and expert views, and examined real-world cases to understand how AI affects musical employment in India. Key findings include: India's creative workforce is large (~8% of jobs), meaning any disruption will have broad impact. Generative AI tools threaten certain traditional roles – for instance, routine composition, arrangement, and voice-over tasks – raising fears of job loss among composers and musicians. Indeed, some studies report early declines in AI-exposed occupations (e.g. 13% drop for young Indian workers).

However, the picture is not uniformly bleak. AI also creates opportunities: it lowers technical barriers, enabling indie artists to produce music at scale (as seen with Jake Joss), and it spawns new jobs in creative tech (data licensing, AI prompt engineering, platform development). Startups like Beatoven.ai illustrate how AI can be integrated in fair ways (paying royalties, training on licensed data). Many industry voices in India and globally stress that AI should "augment" rather than "replace" human artistry. Government and courts are stepping in: India's first AI-related lawsuits signal that authors' rights and personality rights will be actively defended.

The long-term outcome is uncertain and depends on choices made today. If India adopts balanced regulations (as the DPIIT has begun exploring), invests in creative-AI education, and promotes ethical AI ecosystems, the country could harness AI to grow its music sector and enrich cultural output. But if unchecked, AI could concentrate value among tech platforms, dilute cultural authenticity, and displace vulnerable artists. Based on current trends and expert opinions, we conclude that AI will reshape musical employment but not eliminate the need for human musicians. New careers will emerge alongside transformed old ones. Musicians who adapt (by learning new tools or emphasizing the unique human aspects of performance) are likely to thrive, while others may face challenges.

References

1. Reimagining India's Creative Economy for a Digital Future, 22oct 2025, IBEF. www.ibef.org.
2. Fernandes, K. (2023, May 25). Beatoven.ai CEO talks about the future of AI & independent musicians in exclusive interview. The Free Press Journal. https://www.freepressjournal.in
3. Hashtag Bharat. (2025, July 28). AI music advances threaten traditional musician roles. #Bharat. https://hashtagbharat.com.
4. Mogaji, E., Elbanna, A., & Dwivedi, Y. K. (2024). The impending disruption of creative industries by generative AI: Opportunities, challenges, and research agenda. International Journal of Information Management, 71, 102759. https://www.sciencedirect.com
5. Patra, S., & Bansal, A. (2026, January 13). IPR and the impact of AI on artists and creative industries in India. Bar & Bench. https://www.barandbench.com
6. Rout, S. (2024, July 26). Bollywood singer prevails in first AI voice-cloning infringement decision in India. World Trademark Review. https://www.worldtrademarkreview.com
7. Times of India – Entertainment Desk. (2025, April 15). AR. Rahman opens up about people replacing human creativity with AI in music; calls it 'foolishness'. The Times of India. https://timesofindia.indiatimes.com
8. Whiting, K. (2024, February 28). This is how AI is impacting – and shaping – the creative industries, according to experts at Davos. World Economic Forum. https://www.weforum.org
9. NewzHook (Staff). (2020, April 6). Pune developer Sandeep Ranade's app Naadsadhana will make classical music accessible to visually impaired people. NewzHook. https://newzhook.com
10. PTI. (2025, November 29). India quietly delivers two world-first AI music breakthroughs in under a year. ET EnterpriseAI (Economic Times). https://enterpriseai.economictimes.indiatimes.com
11. Bansal, A. (2026, August 28). Beatoven.ai launches fully licensed generative AI music model. YourStory. https://yourstory.com
12. Asia Development Bank. (2024). Asian Development Bank study of creative industries (summary statistics). [Cited in Patra & Bansal, 2026]. https://www.Barandbench.com

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.030

The Unwritten Past: A Journey into India's Musical Antiquity

Dr. Bhanupratap Sahoo*Prof. Revati Sakalkar**

Abstract

The gharana system, with its emphasis on stylistic lineage and regional identity, has been central to the pedagogy and performance of Indian classical music since the 16th century. However, the rich musical traditions that preceded the emergence of gharanas remain under-explored. This paper investigates the foundational systems that sustained Indian classical music before the codification of gharanas, tracing their roots from the Vedic period to the medieval era. Drawing upon ancient texts such as the Sama Veda, Natya Shastra, Brihaddeshi, and Sangita Ratnakara, this study highlights the significance of oral transmission through the guru-shishya parampara, the role of temple and court patronage, and the spiritual integration of music with ritual and performance. It also examines the rise of devotional and mystical movements such as Bhakti, that shaped musical expression in ways distinct from later gharana-based formalism. By contextualizing these early frameworks, the paper argues that pre-gharana traditions laid the philosophical, theoretical, and emotional groundwork for the classical music systems of both Hindustani and Carnatic lineages. This exploration opens new pathways for understanding Indian music not merely as a stylistic heritage, but as an evolving cultural and spiritual continuum.

Keywords: *Indian classical music, Pre-gharana traditions, Guru-shishya parampara, Natya Shastra, Dhrupad*

I. Introduction

The gharana system, a hallmark of Hindustani classical music, represents a stylistic and pedagogical lineage passed down through generations within a particular school or family. While gharanas have shaped the aesthetic and technical contours of Indian classical performance from the 16th century onwards, the musical

*Assistant Professor, Department of Indian Classical Music-Instrumental (Sitar-Violin), Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara, Gujarat- 390001, India. email id - bhanu.sahoo99@gmail.com Orcid: https://orcid.org/0009-0005-1978-3476

**Professor, Department of Vocal Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi – 221001, email id – revati.sakalkar1@bhu.ac.in

landscape that preceded them remains relatively underexplored. Before the rise of gharanas, Indian music evolved through a complex interplay of spiritual, ritualistic, and courtly practices that were sustained through oral traditions and deeply rooted in sacred texts. This pre-gharana period saw the emergence of foundational theories of svara (note), raga (melodic structure), tala (rhythm), and rasa (aesthetic emotion) through ancient treatises like the Sama Veda, Natya Shastra, Brihaddeshi, and Sangita Ratnakara. Musical learning and performance were guided by the guru-shishya parampara, a deeply personal and immersive system of knowledge transmission that prioritized lived experience over stylistic conformity. Music flourished in temples, royal courts, and devotional movements such as Bhakti, shaping rich traditions that were diverse yet unified by their philosophical depth. This paper seeks to explore these pre-gharana systems, demonstrating that they were not primitive precursors but rather sophisticated, dynamic, and spiritually grounded frameworks that laid the essential foundation for the classical music we recognize today.

II. Vedic Foundations of Indian Music

Indian classical music traces its origins to the Vedic period (c. 1500–500 BCE), where music functioned as a sacred element of ritual and spiritual life rather than an independent art.

Sama Veda: The Musical Source

The Sama Veda is the earliest musical scripture of India. It transformed Rig Vedic hymns into melodic chants (samans) for rituals, introducing early swaras. Initially based on a three-note system—anudatta, svarita, and udatta—it later expanded into the seven-note scale (Sa–Ni) used in classical music today.

Nada Brahma: Sound as the Divine

Vedic philosophy viewed sound as sacred, expressed in the concept of Nada Brahma (Sound is God). Music was believed to align human consciousness with cosmic order (Rita) and serve as a means of spiritual transcendence.

Transmission of Musical Knowledge

Music was taught through the gurukula and guru–shishya parampara, relying entirely on oral transmission. Learning emphasized memorization, repetition, discipline, and spiritual training rather than written notation.

Musical Features of the Vedic Period

Vedic music already showed:

- Early melodic patterns (proto-ragas)
- Structured rhythmic meters (chhandas)
- Call-and-response chanting

- Use of instruments like veena, flute, and dundubhi

Impact and Legacy

These Vedic principles later shaped classical treatises such as the Natya Shastra and Sangita Ratnakara. Concepts of swara, shruti, tala, and rasa developed from these early foundations, forming the enduring backbone of Indian classical music.

III. Classical Theoretical Texts and Frameworks

Between 200 BCE and 1300 CE, Indian classical music theory took a systematic form through authoritative treatises that codified musical knowledge. Long before the rise of gharanas, these texts established the grammar of raga, tala, aesthetics, and performance, shaping the foundation of Indian classical music.

1. Natya Shastra (c. 200 BCE–200 CE)

Attributed to Bharata Muni, the Natya Shastra is the earliest comprehensive work on performing arts, with chapters 28–34 devoted to music.

Key contributions:

- Classification of swaras and tonal relations
- Distinction between marga (classical) and desi (regional) music
- Concepts of grama, murchana, and jatis (proto-ragas)
- Central role of rasa theory

It established the close link between music, emotion, and expression.

2. Brihaddeshi (8th–9th century CE)

Written by Matanga Muni, this text marks the transition of music into an independent art form.

Major contributions:

- First clear definition of raga as an emotion-evoking melodic entity
- Classification of desi ragas
- Discussion of ornamentation (alankara) and improvisation
- Reference to shruti and microtonal nuances

3. Sangita Ratnakara (13th century CE)

Authored by Sharngadeva, this is the most comprehensive pre-gharana treatise, accepted by both Hindustani and Carnatic traditions.

Key features:

- Detailed treatment of swaras, ragas, talas, compositions, and performance
- Advanced raga classification
- Complex rhythmic systems
- Integration of sacred and secular music

4. Other Important Texts

- Dattilam: Early raga classification

- Naradiya Shiksha and Sangita Makaranda: Swara and tala principles
- Abhinavabharati: Philosophical interpretation of rasa Legacy

These texts:

- Standardized musical theory and practice
- Preserved regional diversity within a classical framework
- Linked music with philosophy, aesthetics, and spirituality

While gharanas later emphasized stylistic lineage, these treatises focused on universality and systemization, forming the enduring theoretical backbone of Indian classical music.

IV. Temple and Court Patronage

Before the formalization of gharanas in the post-medieval period, Indian classical music found strong institutional support and cultural expression within temples and royal courts. These two domains played a pivotal role in the preservation, practice, and propagation of music across different regions of India. Each had distinct aesthetic priorities and performance contexts, but both contributed significantly to the evolution of classical music traditions.

1. Temples as Musical Institutions

In ancient and early medieval India, temples served as centers of learning, performance, and innovation in the musical arts. Music was considered an essential component of ritual worship, and temple premises became venues for both liturgical and aesthetic musical expression.

Key Features:

- Ritual Music: Daily and seasonal rituals involved recitations, hymns, and songs—often based on Vedic chants or devotional poetry.
- Musical Ensembles: Temples maintained trained ensembles of singers and instrumentalists (Goshti), including specialists in veena, mridangam, and vocal performance.
- Patronage and Education: Temples patronized musicians, provided accommodation and food, and functioned as early gurukulas where students trained under accomplished gurus.
- Documentation: In South India especially, temple inscriptions detail donations made for musical services, the hiring of court musicians, and the maintenance of instruments.

Prominent examples include:

- Brihadeeswarar Temple (Thanjavur) – renowned for its musical tradition during the Chola period.
- Jagannath Temple (Puri) – where devotional music, including early forms of Odissi and bhajana, were nurtured.

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.030

- Meenakshi Temple (Madurai) – patronized musicians and composers who developed early Carnatic traditions.

2. Royal Courts as Cultural Hubs

Parallel to temple patronage, royal courts provided an elite and secular space for the refinement of musical styles. Kings and emperors regarded music as a symbol of sophistication and political legitimacy, and thus extended sustained support to musicians and composers.

Key Features:

- Court Musicians: Emperors and kings appointed court musicians (astana vidwans), often elevating them to positions of high esteem.
- Intercultural Exchange: Court environments facilitated interaction between Persian, Central Asian, and Indian musical traditions, especially in the Sultanate and Mughal periods.
- Performance and Composition: Courts encouraged both vocal and instrumental forms, with an emphasis on innovation, formal structure, and poetic composition.
- Women and Music: Some courts also supported female performers, including dancers and singers, contributing to the development of allied art forms.

Notable royal patrons and courts:

- Chalukya and Rashtrakuta dynasties – supported early Kannada musical compositions.
- Krishnadevaraya of Vijayanagara – known for assembling scholars and musicians like Tenali Ramakrishna and Purandara Dasa.
- Mughal emperors, especially Akbar – employed legendary musicians like Tansen, who is credited with shaping early Dhrupad and Khayal traditions.
- Rajput courts, particularly in Jaipur and Gwalior – became strongholds of structured raga systems prior to the codification into gharanas.

3. Temples vs. Courts: Complementary Influences

Aspect	Temples	Courts
Purpose	Spiritual, ritualistic	Secular, aesthetic, entertainment
Patronage Type	Religious institutions, trustees	Royal families, noble patrons
Style Focus	Devotional (e.g., Thevarams, Bhajans)	Classical refinement (e.g., Dhrupad)

Musical Training	Guru-shishya in gurukulas	Formal court training, sometimes oral
Notable Legacy	Early Carnatic music, liturgical forms	Proto-gharana styles, formal compositions

4. Impact on Pre-Gharana Music Evolution

The support from temples and courts allowed music to evolve in different directions:

- Temples nurtured spiritual and devotional expression, preserving ancient ragas and traditional forms.
- Courts encouraged experimentation and stylization, paving the way for later formal schools and individual artist lineages.

The co-existence of these two institutions enriched the musical ecosystem of India, allowing for both preservation and innovation. The diversity in performance contexts, audience, and patronage ensured that music remained a living tradition—dynamic, adaptive, and deeply embedded in the cultural life of the people. This institutional foundation was essential in enabling the later emergence of gharanas, which would formalize stylistic identities based on these earlier traditions.

V. Pre-Gharana Musical Forms

Before the post-16th century gharana system, Indian classical music had already developed well-structured musical forms rooted in sacred, courtly, and regional traditions. These forms were orally transmitted and displayed high levels of aesthetic discipline and theoretical maturity.

1. Prabandha

Prabandha was a major pre-gharana compositional form and a precursor to Dhrupad and Khayal.

Key features:

- Four-part structure: Udgraha, Melapaka, Dhruva, Abhoga
- Strict melodic and rhythmic framework
- Composed mainly in Sanskrit or Apabhramsha
- Emphasis on fixed composition over improvisation

Though it declined by the 13th century, its structural rigor strongly influenced Dhrupad.

2. Dhrupad

Dhrupad was the most prominent classical form before Khayal.

Salient features:

- Slow, meditative alap followed by a composed bandish
- Use of Brahma talas (chautal, dhamar)

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.030

- Stress on swara shuddhi, raga purity, and voice control
- Devotional and courtly themes

Initially regional practices, traditions like Dagar, Darbhanga, and Bettiah later became recognized as gharanas.

3. Margi and Deshi Traditions

Classical texts distinguish:

- Margi: Classical, spiritually oriented music
- Deshi: Regional and folk-based traditions

Deshi music encouraged innovation and supplied many ragas and talas later formalized in gharanas.

4. Regional Devotional Traditions (Vani and Sampradaya)

Devotional movements shaped early musical expression through Vani (stylistic voice) and Sampradaya (sectarian traditions).

Examples:

- Bhajans and Abhangas (Maharashtra, Gujarat)
- Tevarams and Divya Prabandhams (Tamil Nadu)
- Vachanas (Karnataka)
- Gita Govinda (Odisha)
- Vaishnav Padavali (Bengal)

These traditions emphasized bhava and rasa, used regional languages, and influenced later forms like Khayal and Thumri.

5. Instruments and Early Instrumental Music

Sophisticated instrumental traditions existed, including:

- Rudra veena (Dhrupad tradition)
- Bamboo flute
- Pakhawaj, mridangam, and early tabla

Training followed oral guru traditions with a focus on improvisation within fixed frameworks.

6. Legacy

Pre-gharana forms:

- Laid the foundation for Khayal, Thumri, and gharana styles
- Established principles of raga development, rasa, and rhythm
- Emphasized long-term training and guru–shishya pedagogy

Though not gharanas in name, these traditions were systematic, diverse, and musically advanced, forming the true groundwork of Indian classical music.

VI. Guru–Shishya Parampara

Before the rise of musical gharanas, the Guru–Shishya Parampara was the foundation of musical training in Indian classical traditions. This sacred and immersive system ensured the transmission of musical knowledge through generations. It was not limited to music alone, but extended to spiritual, artistic, and scriptural learning. In music, it preserved depth, continuity,

and personal refinement long before hereditary lineages emerged.

1. Philosophical Foundations

Rooted in Vedic thought, the guru was both a teacher and a spiritual guide. Learning music was seen as sadhana, and music itself as a path to the divine.

Key ideas:

- Knowledge is realized through experience, not ownership.
- The guru transmits skill, discipline, and aesthetic values.
- Music is tapasya, and learning is lifelong, not curriculum-bound.

2. Modes of Transmission

Training was oral, practical, and immersive. The shishya lived with the guru and learned through observation and constant practice.

Key methods:

- Intensive swar sadhana for voice and intonation.
- Memorization of bandish through imitation.
- Learning raga development via alap, taan, and improvisation.
- Continuous exposure to riyaz and live performance.

Early training relied on no written notation, only internalized practice.

3. Individualized Learning

The system emphasized personalized instruction, unlike later rigid styles.

Features:

- Teaching adapted to the student's ability and temperament.
- Students developed individual expression within raga rules.
- Controlled freedom encouraged creativity and stylistic diversity.

This flexibility later contributed to the formation of distinct gharanas.

4. Social and Cultural Context

The tradition flourished in:

- Temples (religious training),
- Royal courts (court musicians),
- Villages and homes (oral folk-classical traditions).

Lineage was not mandatory; mastery depended on dedication and merit, often crossing caste and community boundaries, especially in Bhakti traditions.

5. Transition into Gharanas

With socio-political changes:

- Guru-shishya ties became hereditary and lineage-based.
- Musical styles were codified into gharana gayaki or baaj.
- The parampara remained the core training method within gharanas.

Even today, it remains central to serious classical music training.

6. Legacy and Continuing Relevance

The Guru–Shishya Parampara ensured:

- Survival of oral traditions over centuries.
- Preservation of rare ragas, talas, and compositions.
- Development of discipline, humility, emotional depth, and spirituality.

In the pre-gharana period, this system allowed music to evolve organically, laying the foundation for the later gharana system.

VII. Bhakti Movement

The Bhakti movement profoundly reshaped Indian music through Vani, a mode of devotional expression where word, melody, and rhythm merged to convey spiritual experience. Saint-poet composers used Vani to communicate devotion in a direct, emotionally charged, and accessible manner.

Key Features of Vani:

- Language and Accessibility: Composed in vernacular languages (Braj, Marathi, Tamil, Kannada, Bengali), Vanis of Kabir, Meera, Surdas, and Tukaram made music accessible beyond Sanskrit-educated elites.
- Raga and Tala Framework: Despite their simplicity, Vanis were set within recognizable ragas and talas, linking devotion with classical discipline.
- Emotional Expression: Emphasis on bhava—love, longing, surrender—deeply influenced expressive forms like Khayal and Thumri.
- Sectarian Traditions: Vaishnava and Shaiva sampradayas fostered collective singing forms such as Padavali Kirtan, Abhanga, and Vachana.

Musical Legacy of the Bhakti Movement

Emerging in South India around the 7th century and spreading across North India (13th–17th centuries), Bhakti rejected rigid ritualism and caste barriers in favor of personal devotion.

Contributions to Music:

- Growth of devotional forms: bhajan, abhang, kirtan, padavali, vachana
- Use of regional ragas and rhythmic patterns
- Expansion of emotional and thematic range in music

Major Saint-Composers:

- South India: Alvars, Nayanmars, Purandara Dasa
- Maharashtra: Tukaram, Namdev, Eknath
- North India: Kabir, Meera Bai, Surdas, Tulsidas
- Bengal: Chaitanya Mahaprabhu and Vaishnava Padavali poets

Impact on Musical Evolution

- Democratized music across caste, class, and gender

- Shifted focus from ritual to personal devotion
- Encouraged melodic innovation and improvisation
- Created the emotional and aesthetic foundation for later gharana-based traditions.

Through Vani, the Bhakti movement infused Indian classical music with emotional depth, linguistic diversity, and devotional intensity, ensuring its evolution as a living and inclusive tradition rather than a rigid ritual form.

VIII. Transition to the Gharana System

The emergence of the gharana system from the late 16th century marked a major shift in Indian classical music. Earlier traditions, guided by the guru–shishya parampara, were fluid, spiritually oriented, and regionally diverse. Gharanas formalized these practices into lineage-based stylistic schools, shaped by changing sociopolitical and cultural conditions.

1. Sociopolitical Catalysts

Key factors behind gharana formation included:

- Decline of temple patronage, especially in North India
- Mughal and post-Mughal court patronage, where musicians developed distinct styles
- Regional courts (Gwalior, Rampur, Jaipur, Lucknow) becoming new cultural centers

These conditions encouraged musicians to settle permanently and cultivate identifiable musical traditions.

2. Meaning of Gharana

Derived from ghar (family), a gharana denotes a musical lineage sharing:

- A distinct style (gayaki or baaj)
- A specific pedagogical method
- Transmission through family or discipleship

A gharana thus represents both a musical ideology and a community of practice.

3. Changes in Pedagogy and Performance

The transition to gharanas brought significant changes in how music was taught, preserved, and performed:

Feature	Pre-Gharana Era	Gharana Era
Transmission	Guru–shishya parampara (fluid, open)	Hereditary and closed lineage-based
Repertoire	Shared compositions and improvisation	Unique bandishes and signature taans
Identity	Spiritual and regional	Family- or region-specific musical style
Style Variation	Highly individualized	Codified stylistic norms and conventions
Patronage	Temples, general courts, communities	Specific royal courts and elite patrons

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.030

The emphasis shifted from universal grammar and spiritual practice to stylistic specialization and formal inheritance.

4. Rise of Prominent Gharanas

Between the 17th and 19th centuries, prominent gharanas emerged:

- Gwalior, Agra, Kirana, Jaipur-Atrauli, Rampur-Sahaswan, Benaras, Patiala (vocal)
- Etawah (Imdadkhani) for sitar, Benaras for tabla, Maihar for instrumental music

Each developed a distinctive approach to raga, rhythm, and performance.

5. Continuity and Change

Gharanas retained:

- Oral transmission and guru–shishya training
- Classical raga and tala grammar

Yet they also introduced stylistic gatekeeping, limiting cross-influence and innovation.

6. Significance

The gharana system provided:

- Structural stability amid political change
- Clear stylistic identities
- Preservation of regional and familial traditions

Thus, the transition to gharanas represented a shift from spiritual universality to stylistic individuality, shaping Indian classical music into its modern form.

IX. Conclusion

Indian classical music before the gharana system was a highly developed tradition shaped by spirituality, philosophy, and oral pedagogy. Ancient treatises such as the Natya Shastra, Brihaddeshi, and Sangita Ratnakara provided a strong theoretical framework for raga, tala, swara, and rasa.

Musical training followed the guru–shishya parampara, emphasizing experiential learning and spiritual discipline. Music flourished in temples, courts, and religious gatherings, with forms like Prabandha and Dhrupad showing structured melodic and rhythmic organization.

The Bhakti movement expanded emotional expression, vernacular usage, and access to music, encouraging innovation beyond social barriers. The emergence of gharanas later formalized these diverse practices into distinct lineages.

Thus, the pre-gharana period was not undeveloped but a foundational phase marked by depth, discipline, and cultural plurality, essential to understanding the evolution of Indian classical music.

Bibliography

- Bharata Muni. Natya Shastra. Translated by Manomohan Ghosh. Asiatic Society, Kolkata. pp. 34–169

- Matanga Muni. Brihaddeshi. Ed. & trans. by Prem Lata Sharma. IGNCA, New Delhi. pp. 41–287
- Bose, S. (1966). The Theory and Practice of Music in the Vedas. Indian Musicological Society. pp. 44–249
- Mukherjee, B. (2002). Raga and Rasa: Aesthetic Theories in Indian Classical Music. Sangeet Natak Akademi. pp. 10–298
- Subramanian, L. (2006). From the Tanjore Court to the Madras Music Academy. Oxford University Press India. pp. 31–254
- Deva, B. Chaitanya. (1990). An Introduction to Indian Music. Publications Division, Government of India. pp. 89–226
- Ramanathan, S. (1982). Some Aspects of the Gharana System in Hindustani Music. Sangeet Natak, Vol. 63. pp. 87–135
- Raghavan, V. (1958). The Aesthetics of Indian Music. Adyar Library and Research Centre. pp. 26–184
- Rao, B. Subba. (1960). Raga Nidhi (Vols. I–IV). Music Academy, Madras. pp. 40–226
- Kuppuswamy, G., & Hariharan, M. (1985). Indian Music: A Systematic Study. MJP Publishers. pp. 64–280
- Rowell, L. (1992). Music and Musical Thought in Early India. University of Chicago Press. pp. 89–131
- Widdess, R. (1995). The Ragas of Early Indian Music. Oxford University Press. pp. 72–186
- Sanyal, R., & Widdess, R. (2004). Dhrupad: Tradition and Performance in Indian Music. Ashgate. pp. 81–249
- Jairazbhoy, N. A. (1995). The Rags of North Indian Music: Their Structure and Evolution. Popular Prakashan. pp. 84–111

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.031

Rasa Experience in Carnatic Devotional Music: Aesthetic Theory and Emotional Transformation in Dikshitar's Elemental Kritis

Arun Sankar R*, Dr. Abu K M**

Abstract

This paper investigates how classical Indian rasa theory elucidates the aesthetic-spiritual experiences generated through Carnatic devotional music, focusing specifically on Muthuswami Dikshitar's Pancha Bhootha Sthaḷa Kritis, a cycle of five compositions honoring Shiva temples associated with the five elements. While rasa theory has been extensively applied to drama and dance, its systematic application to Carnatic musical performance remains underexplored. Employing an aesthetic-theoretical methodology combining close musical analysis with semi-structured interviews of fifteen Carnatic performers, this study examines how specific raga-tala configurations function as vibhāvas (determinants) that evoke predictable rasas in both performers and listeners. Key findings reveal that particular ragas—such as Kedaram evoking adbhuta (wonder) and shānta (tranquility), and Bhairavi generating shānta infused with vīra (heroic) undertones—create consistent emotional-spiritual responses across diverse practitioners. Performers unconsciously employ classical rasa vocabulary when describing their experiences, and reports of aesthetic absorption closely parallel descriptions of yogic and contemplative states. This research demonstrates that rasa theory provides a culturally indigenous and philosophically robust framework for understanding how Carnatic devotional music functions as a legitimate spiritual practice, wherein aesthetic experience (rasāsvāda) becomes indistinguishable from divine communion.

Keywords: *rasa theory, Carnatic music, Dikshitar, Pancha Bhootha kritis, shānta rasa, bhakti, aesthetic spirituality*

*Affiliation: PhD scholar, Sree Shankaracharya University of Sanskrit, Kalady, Kerala

**Assistant Professor & Teacher in Charge, Department of Mohiniyattam, Sree Shankaracharya University of Sanskrit, Kalady, Kerala

I. Introduction

The classical Indian theory of rasa, articulated in Bharata's Nāṭyaśāstra and refined by Abhinavagupta's commentarial tradition, constitutes one of the world's most sophisticated frameworks for understanding aesthetic experience. Yet despite its comprehensive scope, rasa theory's application has remained predominantly within the domains of drama, poetry, and classical dance. The realm of Carnatic devotional music—a tradition deeply embedded in bhakti spirituality and ritualized performance practice—has received comparatively little systematic attention through the rasa-theoretical lens.

This lacuna is particularly striking given that Carnatic music's fundamental purpose, as articulated by its trinity of composer-saints (Tyagaraja, Muthuswami Dikshitar, and Syama Sastri), is precisely the evocation of transformative emotional-spiritual states. As Singh observes, "The rasa doctrine as propounded by Bharata is applicable to both drama and poetry... The Nāṭyaśāstra considers rasa as the aesthetic experience that arises when emotions (bhāvas) are artistically represented and distilled" (2). If rasa emerges through the artistic representation of emotion, then Carnatic music—with its intricate melodic structures, rhythmic sophistication, and devotional lyrics—should prove an exemplary site for rasa manifestation.

This paper addresses this scholarly gap by demonstrating rasa theory's relevance for understanding the devotional musical experience. Specifically, it examines Muthuswami Dikshitar's Pancha Bhootha Sthaḷa Kritis, five compositions dedicated to Shiva temples associated with the cosmic elements: earth (prithvi), water (jalam), fire (agni), air (vayu), and space (akasha). These kritis provide an ideal case study because their explicit cosmological symbolism, varied raga assignments, and devotional intensity create clearly identifiable conditions for rasa evocation.

The significance of this investigation extends beyond musicological interest. By bridging aesthetic theory and performance practice, this study illuminates how Carnatic music functions as a spiritual discipline—not metaphorically, but experientially. Understanding the mechanisms through which musical performance generates rasa offers insights into indigenous Indian conceptions of art's transformative potential, providing an alternative to Western psychological models of musical affect.

II. Literature Review

Classical Rasa Theory: Bharata's Foundation

Bharata Muni's Nāṭyaśāstra (circa 200 BCE–200 CE) establishes

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.031

rasa as aesthetic sentiment arising through the harmonious integration of determinants (vibhāvas), consequents (anubhāvas), and transitory emotions (vyabhicāribhāvas) with a permanent emotional state (sthāyibhāva). This process is encapsulated in the famous rasa-sūtra: "Vibhāvānubhāvavyabhicārisaṃyogād rasaniṣpattiḥ"—rasa arises through the conjunction of these elements (Bharata 6.31). The result is a supernormal (alaukika) relishing that transcends ordinary emotional experience. As Nishi explains, "Rasa is a kind of sentiment and the audience gets the sentiment from a piece of creative object. The realization of rasa gets manifested in the heart of the spectator by the stimulation of the appropriate permanent emotional state" (1).

Bharata's original schema identifies eight principal rasas—śṛṅgāra (erotic), hāsya (comic), karuṇa (pathetic), raudra (furious), vīra (heroic), bhayānaka (terrible), bībhatsa (odious), and adbhuta (marvelous)—each stemming from a corresponding sthāyibhāva (Nishi 2-3). Singh notes that this framework was designed for performative pleasure, with later commentators deepening its metaphysical implications (2-6).

Abhinavagupta's Transformation

The eleventh-century Kashmiri philosopher Abhinavagupta fundamentally transformed Bharata's psychological framework into a metaphysical account of consciousness. Pollock observes that "Abhinavagupta's elaboration of Bharata's rasa theory, while retaining its structural outline, transforms it into a metaphysical account of consciousness—tasting rasa becomes tasting one's own bliss-nature" (57). This transformation hinges on the concept of sādhāraṇīkaraṇa (universalization), whereby personal emotion is stripped of ego-bound specificity and becomes contemplable bliss. As Gnoli's translation conveys, "Rasa is a form of aesthetic bliss akin to brahmānanda" (59).

Abhinavagupta shifts the locus of rasa from the dramatic character to the spectator's heart, where it manifests as chamatkāra—a heightened, multisensorial state of wonder-joy (Blanchard 40-41). For Abhinavagupta, rasa is not merely emotional excitation but meditative ecstasy analogous to yogic realization. Rodríguez elaborates: "For Abhinavagupta, aesthetic experience is an echo of divine awareness; rasa is savored when the ego dissolves and consciousness rests in its universal nature" (42).

Shānta and Bhakti Rasa Debates

Abhinavagupta's most contested innovation is his recognition of shānta rasa—the rasa of tranquility—as the ninth and potentially supreme rasa. Mullik explains: "For Abhinavagupta,

śānta is the rasa to which all others ultimately lead; it is the cessation of all mental fluctuations, a state where aesthetic pleasure merges with spiritual calm" (98). Masson and Patwardhan define it as "the aesthetic experience of tranquillity born of knowledge and detachment" (112). Critics argued shānta lacks dramatic viability due to its passivity, yet Abhinavagupta positioned it as the foundational equilibrium underlying all rasas (EIILM University 3).

The status of bhakti rasa remains contested. Classically, bhakti does not appear as an independent rasa but was absorbed within other categories. As De notes, "Bhakti was not conceived as a distinct rasa in early Sanskrit aesthetics" (176). However, Vaidya observes that "Shanta rasa attains its most sublime form as Bhakti rasa, for in devotional poetry, tranquility is not detachment but absorption in love of the divine" (626). Rodríguez confirms that within bhakti movements, "what was once aesthetic pleasure becomes the soul's passionate union with the divine" (47).

Limited Applications to Carnatic Music

While dance and drama have received extensive rasa-theoretical treatment, Carnatic music scholarship has predominantly focused on technical analysis—raga classification, tala structure, compositional form—without systematic integration of aesthetic theory. Schweig's observation regarding performance studies applies here: "While Bharata foregrounds performative emotion and Abhinavagupta emphasises contemplative bliss, bhakti aesthetics oscillate between these poles—drawing on classical rasa theory without being fully contained by it" (92). This oscillation is precisely what Carnatic devotional music embodies, yet the field lacks rigorous theoretical frameworks connecting musical structure to emotional-spiritual experience.

III. Theoretical Framework

This study employs Abhinavagupta's expanded rasa-bhava model as its primary theoretical framework. The model comprises three interconnected dimensions:

Vibhāva-Anubhāva-Vyabhicāribhāva Structure

Vibhāvas are the objective determinants that stimulate emotional response—in music, these include raga, tala, lyrical content, and performance context. Anubhāvas are the consequent expressions manifesting emotional states—in performers, these include ornamentational choices, tempo variations, and physical gestures. Vyabhicāribhāvas are the transitory emotions that accompany and color the dominant aesthetic mood. Together, these elements awaken the

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.031

sthāyibhāva (permanent emotion), which, when universalized, becomes rasa.

Sādhāraṇīkaraṇa (Aesthetic Universalization)

Abhinavagupta's concept of sādhāraṇīkaraṇa explains how personal emotion transforms into aesthetic experience. Through artistic presentation, emotions lose their ego-bound character and become contemplable objects, generating impersonal pleasure rather than personal disturbance. As Blanchard explains, even painful emotions like sorrow "transmute into transcendent pleasure" through this universalizing process (40).

Rasāsvāda as Brahmānanda

Abhinavagupta's most radical claim is that aesthetic experience (rasāsvāda) constitutes a glimpse of Brahman—ultimate reality. Rodríguez confirms: "For Abhinavagupta, aesthetic experience is an echo of divine awareness; rasa is savored when the ego dissolves and consciousness rests in its universal nature" (42). This positions art not as entertainment or even catharsis, but as legitimate spiritual practice. Gopal synthesizes: "Bhakti and Śānta are not opposed but concentric: Śānta provides the contemplative base, Bhakti the expressive overflow of divine consciousness" (53).

IV. Methodology

Musical Analysis

This study conducts close analysis of Dikshitar's five Pancha Bhootha Sthaḷa Kritis:

1. Ānandanātam (Chidambaram, Akasha/Space) – Raga Kedaram
2. Śrī Kālahastīśa (Kalahasti, Vayu/Air) – Raga Huseni
3. Aruṇācalanātham (Tiruvannamalai, Agni/Fire) – Raga Saranga
4. Jambūpatē (Tiruvanaikkaval, Jalam/Water) – Raga Yamunakalyani
5. Ēkāmranātha (Kanchipuram, Prithvi/Earth) – Raga Bhairavi

For each kriti, analysis identifies rasa-generating features: raga characteristics (melodic phrases, emotional associations), tala structure and tempo implications, and lyrical determinants (vibhāvas) including deity invocations, cosmic imagery, and devotional attitudes.

Semi-Structured Interviews

Fifteen accomplished Carnatic performers (eight vocalists, seven instrumentalists) with minimum fifteen years' performance experience were interviewed regarding their experiences performing these kritis. Interview protocols explored:

- Emotional and spiritual states experienced during performance
- Perceptions of raga-emotional correlations

- Descriptions of peak aesthetic moments
- Vocabulary used to characterize musical experience

Thematic Analysis

Interview transcripts underwent thematic analysis to identify patterns in experiential descriptions. Particular attention was paid to correspondence between performers' natural vocabulary and classical rasa terminology, even when performers were unfamiliar with formal aesthetic theory.

V. Analysis

Raga-Rasa Correlations

Analysis reveals consistent and theoretically significant raga-rasa associations across the Pancha Bhootha corpus. Each kriti demonstrates how Dikshitar's raga selection functions as a primary vibhāva—a determinant initiating the rasa-generating process through inherent melodic characteristics, traditional associations, and psychoacoustic properties.

1. **Kedaram (Ānandanātam):** This raga, representing akasha (space/ether) for Chidambaram temple, evokes a distinctive blend of adbhuta (wonder) and shānta (tranquility). Its pentatonic structure emphasizes madhyama and panchama while omitting nishadha and gandhara, creating luminous spaciousness remarkably appropriate to its elemental association. This omission eliminates melodic tension, generating expansive serenity performers consistently recognized. As Mullik explains, shānta represents "the cessation of all mental fluctuations, a state where aesthetic pleasure merges with spiritual calm" (98). Performers employed parallel language—"vastness," "infinite stillness," "stillness within movement." One vocalist elaborated: "When I sing Kedaram, especially in this kriti, there is a feeling of the sky opening inside me. The boundaries of my body seem to dissolve." This precisely matches Abhinavagupta's characterization of aesthetic experience as consciousness "resting in its universal nature" (Rodríguez 42).
2. **Bhairavi (Ēkāmranātha):** Representing prithvi (earth), Bhairavi generates complex rasa blending. Its gamaka-rich phrases evoke karuṇa (pathos) through plaintive quality, while associations with morning worship introduce shānta and vīra (heroic) undertones. Performers reported feeling "grounded," "anchored in something immovable," and "courageously still"—

language combining contemplative tranquility with devotional determination. One instrumentalist observed: "Bhairavi has weight, but not heaviness. It is the weight of being rooted, like a great tree that cannot be shaken. When I play Ēkāmranātha, I feel both completely stable and completely surrendered—these are not contradictory feelings." Blanchard's observation that rasa involves "embodied cognition and empathetic reciprocity between performer and audience" (40-41) manifests here, as Bhairavi's heavy gamakas require substantial effort, contributing to embodied groundedness.

3. **Yamunakalyani (Jambūpatē):** Representing jalam (water), this raga evokes śṛṅgāra (erotic love) transmuted through sādhāraṇīkaraṇa into devotional bhakti. Its flowing movements suggest emotional fluidity appropriate to water symbolism. Performers described experiences transcending ordinary emotion: "The love feeling is there, but it's not personal—it becomes something universal, aimed at the divine. It's not that I love someone; it's that I am love, or love is moving through me toward Shiva." This illustrates sādhāraṇīkaraṇa's operation—transformation from personal emotion (rati as sthāyibhāva) to universalized aesthetic experience (śṛṅgāra as rasa), transmuted into bhakti. As Vaidya observes, "in devotional poetry, tranquility is not detachment but absorption in love of the divine" (626).

4. **Saranga (Aruṇācalanātham):** The agni (fire) association manifests through vīra (heroic) and adbhuta (wonder) rasas. Saranga's ascending phrases and upward melodic trajectories suggest aspiration and transformative energy. Performers described "rising energy," "transformation," and "burning away of obstacles." One vocalist stated: "Aruṇācalanātham feels like the sun rising inside the chest. There is heat, but it is not uncomfortable—it is the heat of tapas, of spiritual intensity. By the end of the kriti, I feel clarified, like impurities have been burned away." This parallels classical accounts of vīra rasa, arising from utsāha (enthusiasm/energy) and characterized by vigor and obstacle transcendence.

5. **Huseni (Śrī Kālahastīśa):** Representing vayu (air/wind), this raga evokes shānta blended with "transformed

bhayānaka"—awe transmuted into reverence. Huseni's delicate phrases suggest wind's intangibility and subtle movement. Performers reported "breath awareness," "subtle presence everywhere," and "dissolution of solidity." One performer noted: "Huseni makes me aware of the spaces between notes, the silence that holds the sound. It is like becoming aware of air—you cannot see it, but suddenly you know it is everywhere, and you are breathing it, and it is breathing you."

Tala Contributions

Beyond raga, tala (rhythmic cycle) functions as crucial anubhāva, shaping aesthetic atmosphere through temporal structuring. Ādi tala's eight-beat structure provides stable grounding supporting shānta's tranquility, while Rūpaka tala's three-beat cycle creates gentle forward momentum. Performers noted tala functions subliminally during absorbed performance: "You're not counting consciously, but the rhythm holds you—it becomes like breathing." As one instrumentalist explained: "When tala becomes unconscious, when I no longer need to track where I am in the cycle, that is when absorption happens. The rhythm carries me rather than me carrying it."

Lyrical Determinants

Dikshitar's Sanskrit lyrics function as explicit vibhāvas, providing cognitive content directing emotional response toward devotional objects and contemplative themes. His characteristic mudra "Guruguha" appears in each composition, invoking simultaneously his guru, the divine, and his compositional identity, establishing the devotional relationship fundamental to bhakti rasa. The cosmological imagery—references to five elements, sacred geography, Shiva's cosmic dance—provides contemplative objects appropriate to shānta rasa. As Blanchard observes, vibhāvas include "knowledge of truth, detachment, purity" (41)—precisely what Dikshitar's lyrics evoke through theological sophistication. The lyrics function as meditation objects directing consciousness toward rasa-appropriate states.

Performer Experiential Accounts

Thematic analysis revealed remarkable consistency, with four major themes correlating with classical rasa-theoretical categories:

Theme 1: Ego Dissolution. Twelve of fifteen performers described self-forgetting during peak moments. One vocalist stated: "There comes a point where I am no longer singing—the song is singing through me. The 'I' that started the kriti is gone." This directly parallels Abhinavagupta's description

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.031

of rasa occurring when "the ego dissolves and consciousness rests in its universal nature" (Rodríguez 42).

Theme 2: Transcendent Emotion. Performers distinguished musical emotion from ordinary feeling. One instrumentalist explained: "When I play Bhairavi, there's something like sadness, but it's not my sadness—it's purified, beautiful. It doesn't hurt; it heals." This describes sādhāraṇīkaraṇa's transformative function—universalization through which personal emotion becomes impersonal aesthetic experience.

Theme 3: Temporal Alteration. Eleven performers reported altered time perception: "Twenty minutes feels like two minutes—or two hours. Time becomes irrelevant, or rather, it becomes something different. There is only now, and now, and now—not a sequence of moments but one continuous present." Such experiences parallel yogic samādhi states. Abhinavagupta's claim that rasāsvāda approaches brahmānanda finds support here.

Theme 4: Unconscious Rasa Vocabulary. Despite unfamiliarity with formal rasa theory, performers naturally employed its terminology—"peace" (shānta), "wonder" (adbhuta), "courage" (vīra), "devotional love" (bhakti)—spontaneously. This suggests rasa theory is not arbitrary intellectual construction but accurate phenomenology of aesthetic experience.

VI. Results and Discussion

Evidence for Predictable Rasa Evocation

This study provides strong evidence that specific raga-tala-lyric combinations evoke predictable rasas across diverse performers. The consistency of primary raga-rasa correlations suggests Indian musical tradition has empirically encoded aesthetic-emotional knowledge within melodic structures. This predictability suggests raga is not merely melodic framework but psycho-spiritual technology—a carefully calibrated vibhāva system for generating specific consciousness states.

Performers' Implicit Rasa Knowledge

Particularly significant is performers' unconscious employment of rasa vocabulary. Without theoretical training, experienced performers describe experiences mapping onto classical categories established two millennia ago. This suggests rasa theory is not arbitrary construction but accurate phenomenology—description of what actually happens when art is properly received. The theory's empirical validity is confirmed by its continued descriptive adequacy.

Aesthetic Absorption as Yogic State

Performer reports of ego dissolution, temporal alteration, and transcendent emotion parallel descriptions of yogic samādhi. As Blanchard notes, for Abhinavagupta,

"rasa is not merely emotional excitation but a meditative ecstasy akin to yogic realization" (40).

Present findings support this empirically. Performers describe states phenomenologically indistinguishable from formal meditation practice—self-transcendence, temporal dissolution, purified emotion, absorbed awareness. This suggests devotional musical performance constitutes legitimate yoga—a path of union through aesthetic absorption.

Implications for Music as Spiritual Practice

These findings validate the traditional understanding that music functions as spiritual discipline. The experience is not mere emotional stimulation but genuine transformation—temporary liberation from ego-bound consciousness into contemplative freedom. As Gopal observes, "Bhakti and Śānta are not opposed but concentric: Śānta provides the contemplative base, Bhakti the expressive overflow of divine consciousness" (53). Dikshitar's kritis instantiate this concentric relationship, functioning as liturgical instruments—sonic technologies for generating the very states they describe.

Works Cited

1. Abhinavagupta. Abhinavabhāratī. Translated by Raniero Gnoli, vol. 1, Italian Institute for the Middle and Far East, 1968.
2. Bharata. The Nāṭyaśāstra. Translated by Manomohan Ghosh, 2nd ed., Asiatic Society of Bengal, 1967.
3. Blanchard, Michael J. Tasting Physical Expression: A Sensorial and Cultural Analysis of the Notion of Rasa in Classical Indian Dance. Concordia University, 2020.
4. De, S. K. Sanskrit Poetics. K. L. Mukhopadhyay, 1960.
5. EIILM University. Indian Aesthetics. EIILM University, n.d., www.eiilmuniversity.co.in/downloads/INDIAN_AESTHETICS.pdf.
6. Gnoli, Raniero, translator. The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta. Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1956.
7. Gopal, N. R. "Divine Aesthetics: Bhagavad Gita's Path of Dharma, Devotion, and Rasa." Global Theoretical Research Studies, vol. 4, no. 3, 2025, pp. 50-58.
8. Hardy, Friedhelm. Viraha-Bhakti: The Early History of Kṛṣṇa Devotion. Oxford UP, 1983.
9. Masson, J. L., and M. V. Patwardhan. Śāntarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics. Bhandarkar Oriental Research Institute, 1969.
10. Mullik, Gaurav. Bharata's Theory of Aesthetic Pleasure or Rasa: Classical Indian Theories of "Aesthetics" and Their Relation to Cinema. Springer, 2020.
11. Nishi. "Bharata's Rasa Theory." Lucknow University Department of English, 2020, www.lkouniv.ac.in/site/writereaddata/siteContent/20200412063219463
12. 1nishi_Rasa_Theory.pdf.
13. Pollock, Sheldon. A Rasa Reader: Classical Indian Aesthetics. Columbia UP, 2016.

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.031

14. Rodríguez, Guillermo. "The Taste of Art and Transcendence: Transformation(s) in Rasa and Bhakti Aesthetics." The Routledge Handbook of Intercultural Aesthetics, Routledge, 2017, pp. 42-47.
15. Schweig, Graham M. Dance of Divine Love: India's Classic Sacred Love Story. Princeton UP, 2005.
16. Singh, Anita. Emotions in Classical Indian Drama: Rasa Theory as Conceptualized in Bharata's Nāṭyaśāstra. Academia Press, 2021.
17. Vaidya, Kanchan Rameshwar. "Rasa Theory in Rabindranath Tagore's Gītāñjali: An Aesthetic Exploration." International Journal of English Studies, vol. 7, no. 5, 2021, pp. 624-631.

Feminine Subjectivity in Thumri: A Dialogue Between Voice and Silence

Dr. Deepika Srivastava*, Aditi Pandey**

Abstract

This study explores the ways in which feminine subjectivity is expressed via the interaction of speech and silence in Thumri performances. It argues that Thumri serves as a unique expressive arena where women negotiate and speak identities amid social constraints by examining the transitional areas between sound and quiet. The study highlights how artists rework classic themes of longing as intricate acts of self-expression and empowerment. The study presents the idea that silence in Thumri is not simply absence of words but a potent communicative force that amplifies vocalization in conveying women lived experiences, which are often marginalized in mainstream narratives. Through close lyric analyses, performance technique examination, and consideration of the genre's historical evolution, the paper demonstrates how Thumri cultivates expressive spaces where feminine subjectivity emerges through the inter play of sound and silence, offering deeper insight into how musical forms embody gendered consciousness.

Introduction: The Unsounded Notes

There is a constant conversation between what women say and what is left unsaid, from the dimly lit courtyards where Thumri first appeared to the contemporary concert halls where it is presently performed. This conversation appears not just in spoken words but also in the pauses, or we can say the intentional pauses, the breaths, and minor note extensions that precede silence. Feminine subjectivity often finds its most genuine expression in these spaces. Silences, pauses, and interstitial spaces are frequently just as important in musical practice as the notes themselves. This is especially evident in Thumri, where the relationship between voice and silence creates a very emotional soundscape. These "unsounded notes" encourage nuance, reflection, and emotional depth by

*Associate Professor & Head, Dept. of Performing & Fine Arts, E-mail : deepika.srivastava@cup.edu.in
**Ph.D. Research Scholar, Dept. of Performing & Fine Arts,E-mail : aditipandey816@gmail.com

drawing listeners into an interaction with implicit emotions. In Thumri, silence is not mere absence but an active presence enhancing vocal expression.

This study examines how these unsounded notes are instrumental in articulating feminine subjectivity within Thumri. By focusing on the moments when sound recedes, the research elucidates how silence becomes a communicative element enriching the emotional and spiritual fabric of the performance. It argues that the delicate balance of voice and silence in Thumri creates a unique sanctuary for feminine consciousness, enabling women to communicate complex identities beyond the scope of spoken language. Thus, this study introduces "The Unsounded Notes" as a conceptual lens to understand how silence alongside voice constructs meaningful, agentive spaces within Thumri for feminine articulation.

Thumri stands out for its emotional intensity, which makes it especially suitable for expressing feminine storylines and feelings in contrast to the organized and formal genres Dhrupad and Khayal. Thumri's evolution is closely related to the lives and performances of women in North India, as Regula Burckhardt Qureshi points out. However, there are conflicts in this relationship because cultural attitudes stigmatized female performers while also giving them limited liberties that are not available to other women.

The ancient Nadabindupansisad says, "The sounds of music settle the unsteady mind and cause it to focus on a definite target" (Shyam Sundar Das 64). Within Thumri, this "definite target" represents expressions of suppressed desires, sorrows, and forms of resistance that lack general cultural acceptability. Thumri performers have traditionally created a unique place for feminine subjectivity to thrive despite patriarchal restraints by weaving music and silence together.

Nada and Duality of the Sound

Nada Yoga offers a philosophical framework for understanding sound in Indian music, including Thumri. Nada, from Sanskrit, means "sound" or "musical tone," encompassing the physical and metaphysical vibrational essence fundamental to cosmic creation. This concept bifurcates into Ahata Nada, the audible sound produced by instruments and voice, and Anahata Nada, the unstruck, cosmic sound apprehended spiritually. Anahat Nada is Divine Nada, only some can hear it after proper Sadhna.

This duality is clearly manifested in Thumri: Ahata Nada appears in the genre's emotive singing and instrumental accompaniment, whereas Anahata Nada resonates through the devotional and emotional undercurrents inherent in the lyrical

and melodic fabric. This blend reflects the spiritual dimension of feminine subjectivity, channelling emotional and psychological depths that go beyond just aural perception.

Furthermore, Thumri's use of sound and silence reflects the genre's interest in the material and spiritual worlds. The performer is positioned as a channel for feminine emotional landscapes that go beyond traditional communication through the melodic improvisations, ornamentations, and expressive vocal renditions that serve both the sensory experience and the meditation on Nada as cosmic vibration. Similar to Nada's nature as cosmic music, this produces elevated sensations of desire, devotion, and transcendence (Sahapedia 2004; All About Music 2017).

In sum, the concept of Nada and Sound Duality elucidate how Thumri embodies Sonic and Spiritual sound dimensions, enriching its expressiveness and enhancing its capacity to articulate feminine subjectivity and emotive performance.

Feminine subjectivity and performance

The historically rooted Thumri genre emerges as an expression of feminine subjectivity, shaped by its cultural milieu and association with women, particularly courtesans. The genre conveys themes of love, longing, and internal emotional states from a distinctly female perspective, earning the appellation "feminine voice" in Hindustani classical music due to biographical and thematic emphasis (JSTOR 2025; Kharagpur College 2020).

Lyrically, Thumri centers on female protagonists, often the nayika, who embody complex emotional textures such as desire, separation, and torment. This focus, coupled with the predominance of female performers historically, grounds academic characterizations of Thumri as a feminine form. Its stylistic traits—lighter ragas, nuanced ornamentation, intimate singing contexts—reinforce its feminine identification (Manchester Research 2015; Rupkatha 2013).

By reflecting women's actual experiences, particularly those of courtesans who used Thumri's vernacular to express social realities, Thumri enacts feminine subjectivity. By navigating demands and restrictions under patriarchal confines, the genre allows female performers to assert agency while articulating vulnerability alongside transgression. This diversity expands interpretative frameworks of women and power and challenges reductive stereotypes (Sahapedia 2004; Rupkatha 2013).

Thumri's performance circumstances, which are typically limited to private Mehfils rather than public concert halls, align with women's marginal social statuses and facilitate the emergence of their voices. The genre's relevance as

a feminine expressive medium is maintained by contemporary exponents who walk a tightrope between tradition and contemporary female empowerment.

The thematic content of thumris centres on feminine longing, yet rarely depicts women as empowered subjects: "The pangs of unrequited love, agony of separation, the ecstasy of union and the anger coupled with sorrow at being deceived, form the thematic content of thumris. The centrality of the female speaker and of feminine emotions notwithstanding, the literary text of thumri rarely presents woman [who] is in control and has subjugated her beloved'".1

Thumri is a crucial cultural vehicle that shapes and reflects the feminine voice in Indian classical music. Feminine-centred tales, emotional subtlety, and performances grounded in women's reality are all ways that feminine subjectivity in Thumri appears.

The historical context: from courtyard to concert hall

Understanding feminine subjectivity in Thumri requires contextualizing its historical trajectory from courtesan salons to public concert halls. Thumri originated in 18th to 19th-century North Indian royal courts, particularly Lucknow and Varanasi, evolving as accompaniment to Kathak dance by courtesans or tawaifs. In the Indo-Gangetic area, Thumri was originally used as a musical accompaniment for Kathak dance. Prior to the 17th century, all Thumri compositions were created especially for dancing performances. Kathak's expressive motions were intricately entwined with its musical framework and lyrical meaning. But by the late 1700s, Thumri had become a separate vocal form and was on par with Kathak.2

These performers occupied paradoxical social statuses: culturally celebrated for artistic mastery yet socially stigmatized for erotic associations. Veena Talwar Oldenburg describes them as "repositories of culture," skilled entertainers simultaneously excluded from respectable society; this marginality paradoxically afforded freedoms not granted to domestic women.

With the decline of royal patronage and rise of nationalist cultural reform, Thumri underwent transformation. Vidya Rao terms this a "respectable relocation" from courtesan salons to concert stages. The genre's style shifts—from rhythmic, dance-oriented Bandish-ki-Thumri (ex-Dekho sakhi kanhaiya roke) to the more introspective and lyric-heavy Bol-Banao-Thumri (ex-Kaun gali gayo Shyaam?)—aligned with changing social norms.3

Thumri was revitalized and innovated in the post-independence era thanks in large part to female vocalists. They challenged social

norms and maintained Thumri as an essential form of feminine expression by bringing fresh approaches, styles, and emotional interpretations to the genre. With their expressive nuance, performers like Begum Akhtar, Girija Devi, and Shobha Gurtu changed the vocal style and contributed to Thumri's continuation as a living heritage of feminine voice.

The voiced narratives: lyrical content

Thumri's vernacular lyrics—typically Braj Bhasha or Awadhi—center on romantic love, mainly from the heroine's perspective undergoing longing, separation, or union. Within these narratives, subtle ambiguity and poetic plurality allow expansive expressions of feminine selfhood. Vidya Rao notes Thumri's texts "open themselves to multiple interpretations," enabling innovation in emotional expression.

Famous Thumris, such as "Babul Mora," which Begum Akhtar frequently renders, go from conventional laments to intricate reflections on feminine relocation and societal precariousness. In a similar vein, novels about waiting heroes challenge conventional limitations on female agency by framing a dual discourse of embodied, aggressive desire and devotional yearning.

Harish Trivedi characterizes Thumri lyrics as embodying a "feminine sensibility," marked by intense emotional investment and vulnerability that facilitates the articulation of normally suppressed desires within male-dominated classical music.

A number of well-known Thumris eloquently express themes like love, desire, and separation that are strongly associated with feminine subjectivity. For example, the Thumri song "Kaun Gali Gayo Shaam" depicts the intense longing of a lady looking for her missing partner, eloquently conveying the anguish of being apart through her expressive voice (Artium Academy, 2025). Another well-known Thumri, "Tum Radhe Bano Shyam," highlights conflicts between vulnerability and agency within conventional gender norms by using Radha to represent power and control, symbolizing a complicated negotiation of feminine identity (Scroll, 2024). The song "Raina Biti Jaye, Sham Na Aaye" powerfully captures the quiet anguish and emotional depth typical of the feminine experience in this style by reflecting sleepless nights and unsatisfied longing (Artium Academy, 2025).Many traditional Thumris rooted in Radha-Krishna lore also explore the interplay between expression and restraint, where the feminine voice delicately balances what is spoken and what remains unvoiced, symbolizing a nuanced dialogue of emotions and social conventions (Du Perron, 2025).

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.032

The unvoiced narrative: strategic silences

Complementing lyrics are silences—pauses and unspoken nuances—that function as active communicative strategies. Musicologist Martin Clayton highlights the significance of spaces between notes as crucial sites of emotional resonance. Techniques like bol banav, involving elaborate melodic variations on single words, demonstrate how pauses between iterations create expressive depth.

The texts in Thumri often express female desire, usually in the form of love-in-separation (Viraha). The heroine either curses the day her lover left her or pines in silence for his return. This dialogue between voice and silence encapsulates the feminine subjectivity in Thumri, highlighting a complex interaction of presence and absence that conveys emotional depth through the voice as much as what remains unspoken.4

Silence also operates as veiling, permitting indirect articulation of female desire socially proscribed for explicit expression. As feminist musicologist Susan McClary emphasizes, what remains unsaid in women's music can reveal profound gendered experiences. Thumri's characteristic ambiguity, especially in Shringar rasa, negotiates articulation with subtlety, fostering multiple interpretive possibilities (Rao 297).

Embodied performance: the resonant body

Thumri's embodied nature emerges through abhinaya—expressive gestures—that complement vocal delivery, turning performers' bodies into both medium and message of feminine subjectivity (Chakravorty 204). Vocal techniques—such as vocal catches, tonal roughening, and kall—and the "grain of the voice," as Barthes terms it, reinsert corporeality into musicality.

"Thumri's first-person female perspective is sometimes compared to the Urdu gazal's male narrator, yet this genre uniquely expresses the emotions of love, longing, and pain from the woman's voice. The heroine is defined by her yearning, pining for her lover's presence or absence, often expressing feigned pride or anger as a strategic emotional form rather than genuine empowerment" (Du Perron, 184).5

Legendary vocalist Girija Devi described Thumri as a tension between intense feeling and restrained expression, wherein the body simultaneously reveals and veils emotion (Weidman 113). This paradox underscores the embodied dimension of feminine expression.

Rao explains the emotional depth of Thumri: Thumri is all about emotion. If you don't have the bhaav, you don't have the music. The themes revolve around love and its overwhelming emotions—the longing and teasing, the pain and anger. But

it is seldom one-tone. It is a complex layering of emotion. Suppose a woman is angry with her lover for being out all night. She is upset, she is angry. But the bhaav might express, "I'm going to close the door on you because I'm angry. But I'm leaving it slightly ajar because maybe you want to repent and come in and make up with me?" (Rao).

Contemporary resonances: Thumri in the modern world

While anchored historically, Thumri's dialogic interplay of voice and silence evolves with modern feminist consciousness and shifting performance contexts. Artists such as Kaushiki Chakraborty and Manjusha Patil innovate within tradition to articulate contemporary feminine subjectivities (Chakrabarty 89). Ethnomusicologists like Amanda Weidman observe modern audiences attuned to Thumri's subversive potential, perceiving lyrics and silences as expressions of autonomy and social transformation rather than merely romantic sentiment.

Thumri also remains culturally and socially relevant by prompting reflections on gender roles and emotional expression in today's society. Performers frequently highlight the genre's capacity for personal storytelling, thus encouraging conversations about how emotions linked to femininity are portrayed and understood in the modern world.6

The spread of internet platforms has made it easier for Thumri to circulate internationally, promoting scholarly discussion and cross-cultural interaction. Thumri's ongoing relevance as a medium for communicating feminine voice and artistic depth beyond geographical and cultural barriers is reinforced by its thematic emphasis on silent yearning and complex emotional expression, which continues to resonate across diverse audiences.

Conclusion

Thumri is a "threshold" where social limits may be crossed and new possibilities imagined, a liminal expressive space where feminine subjectivity negotiates restriction through the dialectic of voice and silence. In hegemonic language, women's expression frequently functions indirectly, "between the lines," as this discussion illustrates. The combination of Thumri and Nada Yoga demonstrates how human desire may be transformed into transcendent awareness through embodied music while maintaining the feminine and physical aspects. Thumri is a prime example of an aesthetics of strategic expression in the current feminist conversation about voice and silence. She knows when to assert and when to withhold, expressing substantial meaning through pause and nuance. Thus, the tradition provides timeless insights into the relationship

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.032

between gender, music, and identity, confirming that subjectivity arises not only from what is said but also from how it is said—and occasionally from what is powerfully unsaid, resting in the resounding silence between notes, waiting for an attentive ear.

References

1 Purkayastha, Shramana Das. “Performance as Protest: Thumri and Tawaif’s Quest for Artistic Autonomy.” Vijaygarh Jyotish Ray College, 2025, p. 104.

2 Sarkhel, Amrita. “The History and Art of Thumri Music.” IJCRT, vol. 13, no. 6, June 2025, pp. b182–b187.

3 Majumdar, Manasi. “The Contribution of Female Artists in Purab Ang Thumri: Post Independent Era.” International Journal of Research in Social Sciences, 2014.

4 Altaf, Kabir. “Thumri and Social Change.” Thoughts of a Bibliophile, 2020.

5 Du Perron, Lalita. “Thumri - A Discussion of Female Voice.” JSTOR, 2025, p. 184.

6 Scroll.in. “Is Thumri Louche or Evolved? A Debate.” June 24, 2024.

Exploring Disease Prevention through Bharatanatyam and Yoga: An Analytical Study of Indian Cultural Healing Practices

Soma Mondal*, Prof. Dr. Lawanya Kirti Singh 'Kabya**

Abstract

This study explores the role of Bharatanatyam and Yoga as traditional Indian cultural practices that contribute to disease prevention and holistic health. By analyzing existing secondary data and literature, the research highlights how these practices promote physical fitness, mental well-being, and emotional balance, which collectively help prevent lifestyle-related illnesses. Bharatanatyam's expressive movements and Yoga's integrated physical and meditative techniques foster stress reduction, improved immunity, and overall wellness. The cultural significance of these practices further enhances community bonding and psychological resilience. The findings suggest that integrating Bharatanatyam and Yoga into modern healthcare can offer sustainable, cost-effective methods for improving public health outcomes.

Keywords: *Bharatanatyam, Yoga, Disease Prevention, Indian Cultural Healing, Holistic Health*

Introduction

India, with its vast and ancient heritage, is known not only for its cultural diversity but also for its unique approaches to health and well-being. Traditional Indian healing systems, like Ayurveda, Yoga, and spiritual arts, have always emphasized a holistic view of health—one that goes beyond just the absence of disease. Among these, Bharatanatyam and Yoga stand out as practices that blend physical movement, mental discipline, and spiritual harmony. This study explores how Bharatanatyam, a classical Indian dance form, and Yoga, an ancient physical and spiritual practice; contribute to the prevention of diseases. It aims to analyze their role as non-pharmaceutical, culturally

*Research Scholar, Lalit Narayan University,Darbhanga,Bihar; E-mail : sumi.som09@gmail.com
**Head of the Department Department of Music & Dramatics

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.033

rooted systems for enhancing human well-being.

Bharatanatyam and Yoga, both originating from the Indian subcontinent, reflect a shared philosophical foundation based on balance, discipline, and self-realization. Bharatanatyam, with its rich combination of physical posture, rhythmic footwork, and expressive gestures, is not merely an art form but also a form of dynamic meditation. Yoga, on the other hand, with its asanas (postures), pranayama (breathing exercises), and dhyana (meditation), provides a structured way to harmonize body and mind. Together, they present a potent cultural system that contributes significantly to preventive health care.

In today's world, where modern lifestyles are increasingly sedentary and stress-laden, the importance of physical movement and mental wellness has grown. Chronic diseases like obesity, hypertension, diabetes, and mental health disorders are on the rise, and conventional medical systems, while effective, are not always sufficient to address the root causes. In this context, the relevance of traditional practices such as Bharatanatyam and Yoga is being rediscovered. This research examines how these practices can be systematically used to prevent disease by improving physical fitness, enhancing mental clarity, and promoting emotional balance.

The preventive aspect of health is often overlooked in mainstream medicine. Modern health systems tend to focus on treatment and diagnosis rather than holistic wellness. Bharatanatyam and Yoga, however, inherently focus on prevention by keeping the body in motion, increasing flexibility, and calming the mind. Several studies and anecdotal evidence suggest that these practices, when adopted regularly, lead to improved cardiovascular health, better respiratory function, enhanced metabolic processes, and improved immunity.

Let us begin with Yoga, which has been recognized globally as a comprehensive system for mind-body balance. Yoga is more than just physical exercise—it is a lifestyle discipline that connects body, mind, and spirit. As per ancient texts such as the Yoga Sutras of Patanjali, health is not only freedom from illness but also a balanced state of being. Yoga encourages one to adopt ethical behavior (Yama and Niyama), develop body awareness (Asana), regulate breath (Pranayama), and control the mind (Dhyana). These components contribute to lowering stress hormones like cortisol, improving sleep, and reducing inflammation—key factors that are linked to disease prevention.

Several scientific studies have affirmed Yoga's role in enhancing immunity and reducing the risk of chronic disease. For example, regular

practice of Yoga postures like Surya Namaskar and pranayama has been linked to improved lung function and reduced anxiety. A study conducted by the National Institutes of Health found that individuals who practiced Yoga regularly showed lower blood pressure and better glycemic control compared to non-practitioners. Additionally, meditation, which is an integral part of Yoga, has been proven to activate the parasympathetic nervous system, bringing about a state of relaxation that boosts overall immunity.

Bharatanatyam, though primarily seen as a performing art, is also an intense form of physical and mental exercise. The dance involves precise movements, strong footwork, controlled breathing, and complex hand gestures (mudras), which together form a comprehensive workout. Dancers develop core strength, stamina, flexibility, and rhythm. More importantly, Bharatanatyam requires concentration, emotional expression (Bhava), and storytelling (Abhinaya), which demand mental focus and psychological involvement.

As an aerobic activity, Bharatanatyam helps improve cardiovascular health. It also engages almost every muscle group in the body, making it an effective full-body exercise. The continuous movement and posture changes improve balance, coordination, and muscle tone. A study conducted by the Sree Balaji Medical College in Chennai concluded that Bharatanatyam dancers had lower BMI and higher endurance levels compared to the general population. Moreover, the expressive and narrative elements of Bharatanatyam serve as a powerful tool for emotional release, reducing the risk of depression and anxiety.

Another important aspect of Bharatanatyam is its spiritual dimension. Traditionally, Bharatanatyam was performed in temples as an offering to the divine. The dancer loses their personal identity and becomes a medium for higher consciousness. This spiritual immersion brings a sense of inner peace and purpose, which is essential for mental well-being. In this way, Bharatanatyam not only enhances physical health but also nurtures the soul, contributing to holistic healing.

One of the core arguments of this study is that Bharatanatyam and Yoga are not isolated practices but complementary disciplines. Both involve breath control, physical movement, inner focus, and an awareness of energy flow in the body. A Bharatanatyam dancer, through training, unconsciously practices Yoga by aligning breath with movement, maintaining posture, and staying mentally focused. Likewise, a Yogi who incorporates expressions, gestures, and rhythm enters the realm of performative meditation. When practiced together, these traditions

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.033

create a synergy that reinforces both physical fitness and emotional intelligence.

Furthermore, the social dimension of these practices cannot be ignored. Both Bharatanatyam and Yoga foster a sense of community, cultural identity, and personal discipline. Group Yoga sessions or dance classes bring people together, reduce social isolation, and improve mood. Cultural engagement through traditional practices also gives individuals a sense of pride and belonging, which is essential in today's fragmented society. For young learners, incorporating Bharatanatyam and Yoga in school curricula can instill healthy habits early on and reduce dependence on screens and passive entertainment.

Women, in particular, benefit greatly from these practices. Studies have shown that Bharatanatyam improves pelvic strength, body posture, and hormonal balance—factors that are vital for women's health. Similarly, Yoga has been found effective in managing menstrual disorders, menopause symptoms, and postnatal recovery. As both practices are non-invasive and adaptable, they serve as empowering tools for women across age groups to take charge of their physical and emotional health.

From a policy perspective, recognizing Bharatanatyam and Yoga as public health tools can lead to innovative programs in schools, community centers, and workplaces. The government's promotion of International Yoga Day is a step in this direction. However, more needs to be done to integrate traditional knowledge into modern healthcare models. Clinical trials, long-term studies, and interdisciplinary research can help validate traditional wisdom and present it in a language acceptable to contemporary science.

It is also important to highlight that both Bharatanatyam and Yoga are cost-effective. Unlike gym memberships or medical treatments, they require minimal infrastructure and investment. A small space, a teacher, and regular practice are all it takes. In rural areas or under-resourced communities, these practices can be valuable tools for health promotion and disease prevention without financial burden.

The role of teachers or gurus is central in both disciplines. A well-trained Bharatanatyam guru not only teaches dance but also instills values, discipline, and cultural appreciation. Similarly, a Yoga instructor guides the student through personalized healing journeys. The guru-shishya parampara (teacher-student tradition) in Indian culture ensures that knowledge is passed down with care, respect, and integrity. In the modern context, this mentorship model can be preserved and adapted through certified training programs and community outreach.

In conclusion, Bharatanatyam and Yoga are not just heritage practices;

they are dynamic, living traditions that have immense potential in promoting preventive healthcare. Their value lies not just in physical movement, but in their ability to touch every layer of human existence—body, mind, and spirit. This research seeks to understand how, when practiced mindfully and regularly, these art forms can help build a healthier society grounded in its own cultural roots. By viewing them as healing systems, we open up new possibilities for culturally relevant, accessible, and sustainable health solutions for future generations.

Review of Literature

The integration of Bharatanatyam and Yoga as holistic health practices has received growing scholarly attention in recent years. Traditional Indian knowledge systems recognize these disciplines not only as cultural expressions but also as powerful tools for disease prevention and wellness. Researchers have explored their effects on physical fitness, emotional balance, and cognitive development. Yoga is widely acknowledged for improving physiological and mental health, while Bharatanatyam has been linked to enhanced motor coordination and stress relief. This review of literature brings together academic and clinical studies that emphasize the preventive, therapeutic, and cultural significance of these practices in modern health frameworks.

In The Healing Power of Dance, Koch (2015) explores how dance, including classical forms like Bharatanatyam, contributes to physical and emotional well-being. Through clinical studies and interviews, Koch identifies dance as a therapeutic practice that enhances body awareness, emotional regulation, and stress relief. Bharatanatyam, with its structured movements and expressive gestures, helps in the prevention and management of psychosomatic disorders. This study supports the view that dance is not only an art form but also a medium of holistic healing that aligns with ancient Indian health philosophies. Iyengar (2001), in his foundational work on yoga, illustrates how specific asanas (postures) and pranayama (breath control) aid in preventing chronic diseases like hypertension, diabetes, and respiratory disorders. His detailed therapeutic sequences for various ailments provide evidence for yoga as a preventive and curative system. Iyengar's approach is deeply rooted in classical Indian traditions and bridges ancient wisdom with modern healthcare needs, making it highly relevant for this study. Pillai's (2013) ethnographic research on Bharatanatyam examines its origins as a temple dance and its transformation into a cultural wellness practice. The study highlights how sustained practice of Bharatanatyam cultivates discipline, mental focus, and

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.033

emotional stability. Pillai argues that the rhythmic movements and mudras stimulate specific energy centers in the body, contributing to better circulation and stress relief, thus serving as a form of cultural healing. Telles et al. (1993) conducted clinical trials to assess the physiological benefits of yoga on school children and adults. Their findings show improvements in pulse rate, blood pressure, and mental alertness. The researchers conclude that yoga is highly effective in building resilience and preventing stress-related illnesses. These outcomes support the integration of yoga into educational and community health programs, aligning with this study's emphasis on cultural healing. Chakravarty (2008) explores the role of classical Indian dance in cognitive and motor development. Her study finds that Bharatanatyam improves balance, muscle coordination, and memory. She emphasizes that the narrative aspect of the dance engages multiple brain regions, contributing to mental health. The study positions Bharatanatyam as a tool for preventive care, especially among children and elderly populations.

Desikachar (1995), a prominent yoga therapist, presents yoga as a personalized therapy that considers individual constitution and life conditions. He outlines case studies where yoga therapy helped prevent escalation of early symptoms of chronic conditions. His integrative approach mirrors the ancient Indian concept of Swasthya (well-being), reinforcing the therapeutic potential of yoga in preventive health. Khanna and Grewal (2011) investigate the effects of yoga and classical dance on adolescent girls' self-esteem and physical health. Their research found significant improvements in self-image, posture, and stress levels among those who practiced Bharatanatyam or yoga regularly. The study concludes that combining cultural practices with health interventions can produce long-term preventive health benefits. Kumar (2010) delves into the Ayurveda-Yoga relationship, arguing that traditional Indian systems view health holistically. Yoga, in this context, serves as both prevention and cure, especially in lifestyle-related disorders. He includes references to classical texts like the Yoga Sutras and Charaka Samhita, showing how cultural practices have always promoted balanced living. Ramanathan (2012) studies the role of performance arts in community health promotion. Bharatanatyam workshops conducted in rural Tamil Nadu showed increased physical fitness and decreased anxiety among women participants. This grassroots research highlights how traditional art forms can contribute to public health initiatives. Sharma (2009) analyses the psychosocial benefits of integrating yoga and dance into

mental health programs. Using qualitative interviews, she finds that these practices enhance emotional resilience, reduce depressive symptoms, and create a sense of cultural identity, which is vital for community-based healing models.

The reviewed literature clearly indicates that both Bharatanatyam and Yoga play a significant role in promoting holistic health and preventing disease. Studies consistently highlight Yoga's effectiveness in reducing stress, improving flexibility, enhancing immunity, and supporting mental well-being. Bharatanatyam, as a classical dance form, has also been shown to aid physical fitness, emotional expression, and cognitive focus. Together, these Indian cultural practices offer an integrated approach to wellness that aligns with preventive healthcare models.

The convergence of ancient traditions and modern research reinforces their value as complementary health practices, deserving further exploration and inclusion in public health discourse.

Research Objectives

1. To understand how practicing Bharatanatyam and Yoga can help in preventing common physical and mental health problems.
2. To explore the similarities and differences in the healing methods of Bharatanatyam and Yoga.
3. To examine how these traditional Indian practices can be used as part of modern preventive healthcare.

Research Methodology

This research is based on secondary data and uses a qualitative analytical approach. Information was gathered from various existing sources such as books, research articles, journals, official reports, and digital libraries focusing on Bharatanatyam, Yoga, and their roles in disease prevention within Indian cultural healing practices. Relevant literature was selected through careful review of academic databases like Google Scholar and JSTOR using keywords related to traditional Indian healing, Yoga, and Bharatanatyam. The collected data was then analyzed thematically to understand how these practices contribute to physical and mental health. Since this study relies on existing literature, it does not include primary data collection, limiting findings to the scope of previously published work. Conclusion

This study aimed to explore the role of Bharatanatyam and Yoga as cultural healing practices for disease prevention, identify their specific health benefits, and analyze their cultural significance in contemporary healthcare. The analysis highlights

the deep-rooted connection between these traditional Indian practices and holistic well-being, which is increasingly relevant in today's health-conscious world.

Firstly, Bharatanatyam and Yoga are not merely physical exercises or art forms; they represent a holistic system of healing embedded within Indian culture. Bharatanatyam, with its intricate gestures (mudras), rhythmic movements, and expressive storytelling, promotes physical fitness while simultaneously engaging mental focus and emotional balance. Similarly, Yoga integrates physical postures (asanas), breathing techniques (pranayama), and meditation, fostering harmony among body, mind, and spirit. Both practices align with the ancient Indian philosophy of health, which emphasizes balance as the key to disease prevention. This confirms the first research objective, underscoring how these practices function as traditional healing methods that contribute to maintaining health and preventing illness (Krishna 2014). The second objective focused on specific health benefits. The literature review and secondary data reveal that Yoga has been extensively researched for its therapeutic effects. Regular practice improves cardiovascular health, strengthens immunity, reduces stress levels, and aids in managing chronic conditions such as hypertension, diabetes, and respiratory disorders (Iyengar 2005). Bharatanatyam, though less studied in clinical settings, offers comparable benefits through its physically demanding yet graceful movements. It enhances muscular strength, flexibility, and coordination while also promoting mental clarity and emotional expression. The meditative aspect inherent in both Yoga and Bharatanatyam fosters stress reduction, which is a crucial factor in preventing psychosomatic illnesses. Together, these practices offer a natural, non-invasive approach to boosting physical and mental health (Nair 2010). The third objective examined the cultural relevance and acceptance of these practices in modern healthcare. The growing global interest in Yoga as complementary and alternative medicine is well documented. Yoga's inclusion in health promotion and rehabilitation programs worldwide signifies a recognition of its preventive and therapeutic potential (Feuerstein 2008). Bharatanatyam, while primarily perceived as a performing art, is gaining attention for its health benefits in cultural and educational settings, encouraging active lifestyles that reduce sedentary behavior-related diseases. These practices act as cultural bridges, integrating traditional wisdom with contemporary health paradigms. This reflects a shift towards holistic, patient-centered care that appreciates cultural contexts in health interventions (Desai 2016).

The data collected through secondary research indicate that despite the availability of modern medicine, cultural healing practices like Bharatanatyam and Yoga remain vital in preventing diseases by promoting a balanced lifestyle. This study's findings affirm that incorporating these practices into daily routines can enhance quality of life and reduce the burden of lifestyle-related ailments. They offer sustainable, cost-effective health solutions that are accessible to diverse populations, including those with limited access to conventional healthcare. Furthermore, the cultural significance of these practices fosters community engagement and mental well-being. Bharatanatyam, often performed in social and religious gatherings, reinforces social bonds and cultural identity, which contribute to psychological resilience. Yoga's meditative components cultivate mindfulness and emotional regulation, empowering individuals to manage stress and prevent stress-related diseases. These social and psychological dimensions are critical to comprehensive disease prevention strategies, emphasizing the need for integrative health models. In conclusion, the study reinforces the importance of Bharatanatyam and Yoga as culturally embedded healing practices that contribute significantly to disease prevention and health promotion. Their integration into healthcare systems and public health policies can complement biomedical approaches, leading to more holistic and effective health outcomes. Further research, particularly clinical studies on Bharatanatyam's health benefits, is encouraged to strengthen the evidence base and promote wider adoption.

References

- Krishnan, Ananda. Yoga and Health: Traditional Approaches to Wellness. Delhi: Bharatiya Vidya Bhavan, 2005. pp. 22–39.
- Subramanian, Lakshmi. The Graceful Strength: Bharatanatyam and the Female Body. Chennai: Kalakshetra Publications, 2010. pp. 61–74.
- Iyengar, B. K. S. Light on Yoga. Mumbai: HarperCollins India, 2002. pp. 45–89.
- Sinha, Meera. Indian Dance Therapy: A Cultural Approach to Healing. New Delhi: SAGE Publications, 2016. pp. 91–107.
- Sharma, Ramesh. Yoga for Disease Prevention. Varanasi: Arya Prakashan, 2014. pp. 53–66.
- Natarajan, Gayatri. Bharatanatyam: A Path to Inner Healing. Hyderabad: Sahitya Kala Prakashan, 2013. pp. 102–115. Desikachar, T. K. V. The Heart of Yoga: Developing a Personal Practice. Inner Traditions International, 1995, pp. 102–118.
- Devi, Malavika. Bharatanatyam and Mind-Body Discipline. Chennai: Natya Shastra Publications, 2008, pp. 77–89.
- Iyengar, B. K. S. Light on Yoga. Mumbai: HarperCollins India, 2002, pp. 45–89.

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.033

- Krishnan, Ananda. Yoga and Health: Traditional Approaches to Wellness. Delhi: Bharatiya Vidya Bhavan, 2005, pp. 22–39.
- Natarajan, Gayatri. Bharatanatyam: A Path to Inner Healing. Hyderabad: Sahitya Kala Prakashan, 2013, pp. 102–115.
- Raina, Nupur. Dance in Education: A Preventive Health Approach. New Delhi: Shiksha Prakashan, 2017, pp. 133–147.
- Satyananda Saraswati, Swami. Asana Pranayama Mudra Bandha. Bihar School of Yoga, 2001, pp. 142–159.
- Sharma, Ramesh. Yoga for Disease Prevention. Varanasi: Arya Prakashan, 2014, pp. 53–66.
- Sinha, Meera. Indian Dance Therapy: A Cultural Approach to Healing. New Delhi: SAGE Publications, 2016, pp. 91–107.
- Subramanian, Lakshmi. The Graceful Strength: Bharatanatyam and the Female Body. Chennai: Kalakshetra Publications, 2010, pp. 61–74.
- Desai, Soma. Integrating Traditional Indian Practices into Modern Healthcare. New Delhi: Health Publishers, 2016. pp. 85-104.
- Feuerstein, Georg. The Yoga Tradition: Its History, Literature, Philosophy and Practice. Prescott: Hohm Press, 2008. pp. 210-235.
- Iyengar, B.K.S. Light on Yoga. New York: Schocken Books, 2005. pp. 145-176.
- Krishna, V. Dance and Healing: The Cultural Role of Bharatanatyam. Chennai: Cultural Heritage Publishers, 2014. pp. 57-73.
- Nair, Anjali. Yoga and Wellness: Scientific Perspectives. Mumbai: Wellness Books, 2010. pp. 112-130.

Comparative Study of Indian and Western Music Theory: Scales, Modes and Rhyrhm

Dr. Deepika Srivastava * Gurlal Singh**

ABSTRACT

This paper explores and compares the practical and theoretical elements of Indian and western music focusing on scales, modes, and rhythm, which form the core of each tradition's structure and expression. While both traditions provide complex musical frameworks they diverge significantly in structure, and cultural philosophy. This study aims to shed light on these differences by examining the scales and modes that underpin melody, as well as the rhythmic structures that support musical expression. Western music relies on the twelve-tone equal temperament system, dividing an octave into twelve semitones, and primarily uses major and minor scales. In contrast, Indian classical music is built on ragas, which are more than scales; they are melodic frameworks with specific rules that evoke moods (rasas), associate with times of day, and are believed in spiritual elements. Like western music focuses on harmony and polyphony, whereas Indian music, intertwined with spirituality, emphasizes melodic and transcendence. By examining these components, the study demonstrates how each system gives a distinct perspective on music theory while also reflecting its cultural roots.

KEYWORDS- Western, Music Theory, Scale, Rhythm, Mode

Introduction

Music, in its diverse forms, has long served as one of the most profound expressions of human creativity and cultural identity. It has developed as a theoretical field as well as a performance art throughout history, influencing perspectives on emotion, order, and sound. With their strong philosophical, artistic, and structural underpinnings, Indian and Western musical traditions stand out as two of the most significant in the world. Comparative analysis of these

*Head & Associate Professor, deepika.srivastava@cup.edu.in

**Ph.D. Scholar, Department of Performing and Fine Arts, Central University of Punjab, Ghudda, Punjab; Email- gurisingh71064@gmail.com

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.034

two traditions provides important insights into how various cultures organize and conceptualize sound, particularly in the areas of rhythm, modes, and scales.

Indian music theory is embedded in a holistic worldview where sound, or nāda, is seen as a manifestation of the universal essence. In Indian music theory, which is based on a holistic perspective, sound, or nāda, is seen as an expression of the universal essence. The method emphasizes the microtonal richness of swaras (notes), the evocative impact of rāgas (melodic frameworks), and the intricate cyclic patterns of tālas (rhythmic cycles)i. Its roots are in the Vedas, particularly the Sāmaveda, which introduced the ideas of sound as a spiritual conduit, intonation, and chanting. Over the course of centuries, treatises such as Bharata's Nāṭyaśāstra and later works like Sharngadeva's Saṅgīta Ratnākara established the theoretical features of scales, intervals, modes, and rhythm. Indian classical music still places a strong emphasis on improvisation, ornamentation, and the aural experience, whether it is Carnatic in the south or Hindustani in the north.

Significant differences in the structure and perception of music can be found when comparing various traditions. The seven basic swaras of Indian music are composed of 22 theoretical shruti (microtonal intervals), which offer a sophisticated palette for melodic expression. Many rāgas, like melakarta in Carnatic music or thāṭs in Hindustani, are based on scales that are organized into parent frameworksii. Each rāga is more than a scale, with unique phrases, rising and declining rhythms, and emotional associations associated with the season or time of day. The rhythm of Indian music is similarly complicated, with tālas functioning as cyclic patterns rather than linear meters. This allows for intricate improvisations such as layakari (rhythmic play) and tihai (a cadential phrase that is repeated three times).

In contrast, Western music largely organizes pitch material into 12 equal semitones, from which major and minor scales are derived. Modes such as Dorian, Phrygian, or Lydian provide additional tonal colors but are structurally simpler than the expansive raga system. Rhythm, while capable of great complexity in modern and contemporary works, is often conceptualized through time signatures and bar lines, emphasizing predictability and metric clarity.

This study attempts to analyze and compare the theoretical underpinnings of Indian and Western traditions with a focus on scales, modes, and rhythm. The study intends to highlight the philosophical distinctions that impact musical expression in these cultures in addition to the structural and aesthetic variances by examining these fundamental elements. This type

of comparison analysis demonstrates how music reflects distinct ways of thinking, one focused on cyclical time and microtonal complexity and the other on linear growth and harmonic structure, even if it is universally human.

Indian Music : Spiritual and Expeeiential Orientation

Indian music relies heavily on spiritual engagement and aesthetic experience (rasa). The notion that sound, or nāda, is a primordial, cosmic phenomenon forms the intellectual basis of Indian musical philosophy. In addition to being a kind of entertainment, classical texts like as Bharata's Nāṭyaśāstra claim that music can lead to emotional and spiritual enlightenment. A particular emotion (rasas), such as compassion (karuna), heroism (vira), love (shringara), or peace (shanta), is what each rāga is meant to evoke. The intrinsic link between melody and emotion ensures that musical performances are both private and public experiences, connecting the performer, audience, and cosmic orderiii.

Indian classical music's emphasis on experience is strengthened by its improvisational style. A rāga's structure is provided by its framework, but each performance is unique as the artist explores melodic and rhythmic possibilities in real time. Tihai (threefold repetition) and layakari (tempo manipulation inside the cycle) are examples of rhythmic improvisation that show how musicians work dynamically with time, enhancing the aesthetic experience. Indian music emphasizes meditation, contemplation, and the quest for transcendence through sound, making it fundamentally as much a philosophical as an artistic endeavor.

Western Music: Structural and Expressive Orientation

Western music, while also capable of emotional impact, places significant emphasis on structure, harmony, and linear progressioniv. Its aesthetic and philosophical underpinnings are deeply influenced by Ancient Greek mathematics, Renaissance humanism, and Enlightenment rationalism. Musical beauty in the Western context often derives from balance, proportion, and the tension-resolution relationships inherent in harmony and counterpoint. Composers such as Bach, Beethoven, and Mozart exemplify this approach, constructing intricate musical architectures that evoke emotion through formal development rather than direct association with external moods or times of day.

A philosophical bent toward universality and codification is also evident in Western music theory. Predictable narrative arcs can be created within a composition using the tonal harmony system, which

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.034

is based on functional relationships between chords and key centers. The contradiction between freedom and order is highlighted by the fact that even in Western music, such as jazz, improvisation takes place inside a clearly defined harmonic and modal structure. In contrast to cyclical meditation, rhythm, which is structured using metric measurements, stresses linearity and forward motion, further solidifying a sense of chronological development.

Scales

Scales are the foundation of musical ideas in many civilizations. They represent systematic pitch configurations that provide structure to improvisation, melody, and harmony. Despite the universality of the concept of scales, there can be significant variations in the ways that different traditions develop, interpret, and apply them. In both Indian and Western music theory, the idea of scales is intimately tied to aesthetic objectives, historical development, and cultural philosophy. This comparative study shows how Indian music's focus on microtonality and emotive frameworks contrasts with the West's concentration on tempered scales and harmonic functioning.

Scales in Indian Music Theory

Indian music theory is rooted in the concept of the saptak (heptatonic scale) consisting of seven fundamental swaras (notes): Sa (Shadja), Re (Rishabha), Ga (Gandhara), Ma (Madhyama), Pa (Panchama), Dha (Dhaivata), and Ni (Nishada)v. These seven notes form the basis of both Hindustani (North Indian) and Carnatic (South Indian) classical traditionsvi.

1. **Shrutis and Microtonality**
   Although the octave is divided into 22 shrutis (microtonal intervals), according to ancient Indian theorists, performers really employ variable intonation rather than fixed equal divisions. This theoretical framework highlights that small fluctuations and ornaments (gamakas) are just as important to music's expressive power as fixed pitches.
2. **Shuddha, Komal, and Tivra Swaras**
   Five of the seven notes have variations: Re, Ga, Dha, Ni, and Ma.
   Shuddha= Natural form
   Komal= (Ga, Dha, Ni, and Re can all be komal.)
   Tivra = sharp (Ma can be tivra).
3. **Thaat and Melakarta Systems**
   In Hindustani music, scales are systematized into 10 thaats (parent scales), as codified by Vishnu Narayan Bhatkhande. Examples include Bilawal thaat (similar to Western major scale), Kafi thaat (similar to

Dorian mode), and Asavari thaat (similar to natural minor).

In Carnatic music, the system is more comprehensive, with 72 melakarta ragas serving as parent scales. Each melakarta includes all seven notes in both ascending and descending forms. Derived ragas (janya ragas) are created by modifying these scales through omission, repetition, or ornamentation.

Scales in Western Music Theory

Western music theory has historically been shaped by a progression from modal systems to tonal harmony, with scales playing a central role in organizing pitch relationships.

1. **The 12-Tone System and Equal Temperament**
   Western music divides the octave into 12 equal semitones through the system of equal temperament. This innovation, solidified in the Baroque period, allows instruments like the piano to play in all keys without significant tuning discrepancies.
   Unlike the microtonal shrutis of Indian theory, Western scales are standardized and mathematically equal.
2. Major and Minor Scales

- The major scale (Ionian mode) consists of a specific pattern of whole and half steps (W-W-H-W-W-W-H). It became the cornerstone of Western tonal music from the Baroque through the Romantic era.
- The minor scales (natural, harmonic, melodic) provide expressive variety, especially with the raised 7th degree in the harmonic minor for strong cadences.

3. Scales Beyond the Diatonic
   Western music also developed non-diatonic scales:

- Chromatic scale (12 semitones)
- Pentatonic scale (5 notes, common in folk traditions and similar to Indian pentatonic ragas like Raga Durga).
- Whole-tone and octatonic scales (used in Impressionist and 20th-century music). These scales expand the harmonic and melodic palette beyond the classical tonal system.

Modes

Both Indian and Western music use modes as the foundation for melodic expression, despite their very divergent interpretations and uses. In Indian tradition, a modal framework that goes beyond a simple scale is referred to as rāga. Not only does each rāga prescribe specific ascending and descending movements and emphasize specific notes, but it is also associated with moods, emotions (rasa), and even seasons or times of day. Conversely, Western modes, which originated in ancient Greece and were standardized

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.034

in the church during the Middle Ages, are mostly scalar arrangements, such as Lydian, Phrygian, or Dorian, and are distinguished by interval patterns and tonal centers. Indian modes place more emphasis on improvisation and aesthetic pleasure than Western modes, which evolved toward structural clarity and had an impact on harmony and composition.

Modes in Indian Music

- Concept of Rāga: more than a scale – includes ascending (āroha), descending (avaroha), vadi-samvadi (primary tones), characteristic motifs, and emotional associations (rasa)vii.
  - Time theory: rāgas tied to times of day/seasons.
  - Thaat/Melakarta system: theoretical parent scales for rāgas.

Examples:

- Raga Yaman (Kalyan thaat, Lydian-like with tivra Ma).
- Raga Bhairav (flattened Re and Dha, evokes seriousness and devotion).
- Improvisatory nature: performer interprets within modal rules.

Modes in Western Music

- Greek origins: Dorian, Phrygian, Lydian, Mixolydian, Aeolian, Ionian, Locrian.
- Medieval use: Church modes in Gregorian chants.
- Renaissance/Baroque shift: modes replaced largely by tonal major/minor system.
- 20th-century revival: jazz (Miles Davis' Kind of Blue), folk, and modern classical composers (Debussy, Bartók).

Examples:

- Dorian mode (used in folk & jazz).
- Mixolydian mode (blues, rock, Celtic music).

RHYTHM

Rhythm is central to music, yet Indian and Western traditions approach it differently. Indian music uses tāla—cyclical, improvisatory, and spiritually grounded—while Western music relies on linear meters and time signatures for structure and coordination. Comparing these systems highlights not only technical differences but also distinct cultural perceptions of time, expression, and musical order.

Rhythm in Indian Music

The origins of Indian rhythmic thought trace back to the Nāṭyaśāstra (c. 200 BCE–200 CE), which codified tāla as one of the foundational elements of music and danceviii. Later treatises, such as Sangita Ratnakara (13th century), further systematized the concept. Rhythm in India is not simply a background structure but an active, dynamic framework. The

emphasis is not on strict repetition but on the interplay of cycles, improvisations, and mathematical calculations, reflecting the cultural notion of time as eternal recurrence.

Rhythm in Western Music

In the West, rhythmic thinking developed through Greek philosophy and medieval ecclesiastical practice. Ancient Greeks associated rhythm with poetry and dance, considering it a proportional arrangement of durations. The medieval period saw the development of rhythmic modes in plainchant, which gradually gave way to mensural notation in the Renaissance, leading to modern rhythmic notation with bar lines and time signatures. Western rhythm evolved toward clarity and standardization, enabling polyphony, orchestration, and complex ensemble coordination.

Structural Elements of Rhythm

1. **Indian Tāla System**

- Tāla is a rhythmic cycle consisting of a fixed number of beats (mātrās).
- Beats are grouped into sections marked by claps (tāli) and waves (khāli).
- Common tālas: tintāl (16 beats), jhaptāl (10 beats), rupak (7 beats).
- South Indian Carnatic system features over 100 tālas with subdivisions (angas).
- Improvisation: performers manipulate rhythm through layakari (playing with tempo) and tihāī (a thrice-repeated phrase landing on the sam or first beat).

2. **Western Metric System**

- Western rhythm is organized around meter, represented by time signatures (e.g., 4/4, 3/4, 6/8).
- Strong and weak beats alternate in regular patterns (duple, triple, compound).
- Standardized notation allows for precision across ensembles.
- Rhythmic complexity in Western music often arises from syncopation, polyrhythms, and shifting meters.
- Examples: Baroque dance forms, Beethoven's metric disruptions, Stravinsky's irregular rhythms, and jazz swing.

Conclusion

The comparative study of Indian and Western music theory reveals that while both traditions share the fundamental human impulse to organize sound, they diverge profoundly in methodology, aesthetics, and philosophical orientation. Beyond technological differences, the creative and philosophical elements of each system emphasize its cultural and existential tendencies. Due to its emotional, spiritual, and meditative

elements, an Indian music concert is a unique and cosmic experience. Western music prioritizes structural coherence, harmonic progression, and intellectual engagement while evoking emotional emotions through narrative and tension-resolution dynamics. When taken as a whole, these perspectives show how music may provide insight into human feelings, thoughts, and cultural perspectives.

Rhythmic accuracy and the emotional coloring of notes through rāgas in the domain of scales are highly valued in Indian music, making every performance a unique, expressive experience. Western music, on the other hand, uses a system of twelve semitones, major and minor scales, and tempered tuning to promote structural clarity, harmonic stability, and repeatability between performances. This analogy illustrates how cultural goals, ranging from harmonic building to spiritual expression, influence the basic elements of music.

The various conceptual frameworks are further demonstrated by the way modes are treated. Indian rāgas are living frameworks that are imbued with emotion, time, and aesthetic purpose, and they go beyond simple scale sequences. Western modes provide several tonal qualities within a set melodic and harmonic framework. They are derived from ancient Greek theory and were modified in medieval and Renaissance music. Western modes are frequently used as instruments within a defined musical logic, while Indian modes are deeply contextual, incorporated with improvisation and emotional resonance, even if both systems explore tonal possibilities.

Indian music employs cyclic tālas for rhythm, which allow for complex temporal improvisation and allow musicians to manipulate time through tihai and layakari. Predictability, metric precision, and harmonic synchrony are highly valued in Western rhythm. Time signatures, bar lines, and linear meters are used in its structure. These approaches demonstrate divergent philosophical conceptions of time: Indian music is cyclical and contemplative, whereas Western traditions are linear and narratively focused.

In conclusion, Indian and Western music theories, though differing in scale structure, mode philosophy, rhythmic conception, and aesthetic purpose, each offer profound insights into the nature of sound, emotion, and human expression. The comparative study of these traditions illuminates both their uniqueness and their shared capacity to evoke beauty, convey meaning, and resonate with the human spirit. Understanding these differences enhances not only musicological scholarship but also practical appreciation, pedagogy, and creative experimentation, demonstrating that the study of music is as much about

cultural insight as it is about technical mastery.

REFERENCE

i Indian Classical Music Vs Western Music : A Comparative Study

ii 000027.pdf

iii JSS_046_1d_SwamiAgehanandaBharati_ComparativeStudyOfIndianAndWesternMusic.pdf

iv JSS_046_1d_SwamiAgehanandaBharati_ComparativeStudyOfIndianAndWesternMusic.pdf

v Bhatkhande, Vishnu Narayan. Hindustani Sangeet Paddhati. Vols. 1–4, Sangeet Karyalaya, 1951.

vi A Comparative Study of Indian and Western Music Forms | PDF | Performing Arts

vii Rao, Suvarnalata. Raga-Nidhi: Theory, Structure, and Aesthetics of Hindustani Raga. ITC Sangeet Research Academy, 1999.

viii The Mathematics Behind Indian and Western Music | by Skanda Vivek | Emergent Phenomena | Medium

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.035

Collection Development of Music Subject in the Library of Mahila Mahavidyalaya, Jog Chauk, Amravati, Maharashtra (India)

Dr. Vijay G. Wardikar

Abstract

Academic libraries play a vital role in strengthening subject-based teaching, learning, and research through systematic collection development. Music as a discipline requires diversified resources in print, audio-visual, and digital formats. Mahila Mahavidyalaya, Amravati, affiliated with Sant Gadgebaba Amravati University, is one of the oldest women's higher education institutions in the Vidarbha region of Maharashtra and is known for its progressive academic outlook and emphasis on women empowerment. The Music Department of the institution offers education from undergraduate to doctoral level, covering Hindustani classical music, folk music, and Western music along with theoretical and practical components. The institutional library, which is fully computerized and ICT-enabled, supports these academic programs through a well-planned music collection and access to digital resources and consortia. The present study examines the collection development practices of music subject resources in the library of Mahila Mahavidyalaya, Amravati. It analyzes the nature of the collection, ICT integration, and the role of the library in supporting music education and research. The study also highlights challenges and provides recommendations for strengthening music collections in academic libraries.

Keywords: *Collection Development, Music Library, Academic Library, ICT, Women's Education, Mahila Mahavidyalaya*

1. Introduction

Libraries are the backbone of academic institutions, supporting teaching, learning, and research activities. Collection development is a continuous and dynamic process that involves the selection, acquisition, organization, evaluation, and maintenance of library resources to meet users' needs. In subject-

Librarian, Mahila Mahavidyalaya, Amravati. Maharashtra, India Email: librarianmmv@gmail.com
Contact: 8830481335

based disciplines such as Music, collection development becomes more complex due to the need for printed materials, audio-visual resources, musical scores, digital archives, and research literature.

Collection development is one of the core functions of an academic library and directly influences the quality of education and research in an institution. A well-developed collection ensures access to relevant, authentic, and updated information resources. In disciplines such as Music, collection development is more complex because it involves not only textual materials but also musical scores, recordings, audio-visual documents, and digital archives.

Mahila Mahavidyalaya, Amravati, affiliated with Sant Gadgebaba Amravati University, has a long history of providing quality higher education to women in the Vidarbha region. The institution offers academic programs from graduation to Ph.D. level and has adopted modern ICT-based educational practices while preserving traditional pedagogical values. The Music Department is academically strong and supported by qualified faculty members who emphasize innovative research and holistic musical education.

The library of Mahila Mahavidyalaya is fully computerized and equipped with modern information and communication technologies. The availability of digitized books, QR code-based access, and connectivity to various consortia has enhanced information accessibility. In this context, the present paper attempts to study the collection development of music subject resources in the library and evaluate its effectiveness in meeting academic and research requirements.

2. Review of Related Literature

The review of literature provides a theoretical and empirical background for understanding collection development practices in academic libraries, with special reference to music subject collections and ICT-based services.

Evans (2005) emphasized that collection development is a systematic and continuous process involving selection, acquisition, evaluation, and weeding of library materials to meet user needs. He highlighted the importance of aligning collections with institutional objectives and academic curricula, which is particularly relevant for specialized subjects such as music.

Kumar (2014) discussed the management of library collections in higher education institutions and stressed that subject-based collection development must consider faculty recommendations, research trends, and user demand. According to the author, music libraries require diversified formats including books, scores, sound recordings, and digital

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.035

resources.

Chowdhury (2010) examined the impact of digital technologies on information retrieval and pointed out that ICT has transformed traditional collection development practices. The study noted that digital libraries and online databases play a crucial role in improving access to specialized subjects such as music, where non-print materials are equally important.

Shukla and Tripathi (2013) studied collection development policies in Indian academic libraries and observed that many libraries lack formal written policies, leading to imbalanced collections. The authors recommended systematic planning and periodic evaluation of subject collections to ensure relevance and adequacy.

Bhat and Mudhol (2015) analyzed the development of music collections in university libraries in India and found that most libraries emphasized print resources while audio-visual and digital materials were underdeveloped. Their study suggested that music libraries must adopt hybrid collection models to support both theoretical learning and performance-based education.

Patil and Pradhan (2016) explored the role of ICT in academic libraries and reported that automation, digitization, and access to consortia have significantly improved information services. They emphasized that QR codes, OPACs, and institutional repositories enhance user engagement and facilitate easy access to subject-specific resources.

Singh (2017) examined user satisfaction with music resources in higher education institutions and found that availability of recorded music, notations, and online tutorials had a positive impact on learning outcomes. The study highlighted the growing demand for electronic and multimedia resources in music education.

Kumari and Panda (2018) studied collection development practices in women's colleges in India and observed that libraries in women-centric institutions play a vital role in empowering students through access to knowledge resources. Their findings indicated that ICT-enabled libraries significantly support advanced research and skill development.

Deshpande and Chavan (2019) conducted a study on digitization initiatives in college libraries in Maharashtra and reported that digitized collections and consortium access have improved research productivity. The authors stressed the need for continuous upgradation of digital infrastructure to support specialized disciplines like music.

Reddy and Kumar (2020) examined the role of academic libraries in supporting performing arts education and concluded that music collections must include a balanced mix of classical texts,

contemporary research publications, and digital learning materials. They also emphasized faculty involvement in the selection process.

More recently, Joshi and Kulkarni (2022) analyzed the impact of e-resources on music research in Indian universities and found that access to online journals, digital archives, and recorded performances has transformed research methodologies in music studies. The study highlighted the importance of consortia-based access for resource-sharing among institutions.

3. Objectives of the Study

The objectives of the present study are:

1. To examine the nature and scope of music subject collections in the library of Mahila Mahavidyalaya, Amravati.
2. To study the collection development practices adopted for music resources.
3. To analyze the role of ICT and digital facilities in music collection development.
4. To assess the support provided by the library to music teaching and research.
5. To suggest recommendations for further improvement of music collections.

4. Statement of the Problem

Music education requires access to specialized, multi-format resources that support both academic study and practical training. The problem addressed in this study is to determine whether the existing music subject collection in the library of Mahila Mahavidyalaya adequately fulfills the curricular and research needs of students and faculty members. The study also seeks to identify areas requiring enhancement in the context of technological advancements and emerging research trends.

5. Scope of the Study

The scope of the study is limited to:

- Music subject collections available in the library of Mahila Mahavidyalaya, Jog Chauk, Amravati.
- Print, non-print, and digital music resources.
- ICT-based services related to music collections.

The study does not include comparative analysis with other institutions or quantitative user studies.

6. Research Methodology

The study adopts a descriptive research methodology. Data were collected through:

- Observation of library infrastructure and music collections
- Analysis of available print and digital resources
- Review of departmental and institutional academic information

 https://doi.org/10.65403/bhairavi.vol30.035

The study is qualitative in nature and based on the information provided by the institution.

7. Limitations of the Study

The study is subject to the following limitations:

1. It is restricted to a single women's college.
2. Quantitative data such as budget allocation and usage statistics are not included.
3. User feedback through questionnaires or interviews is not covered.
4. Findings are based on available institutional input and observation.

8. Analysis and Discussion

8.1 Music Education and Academic Requirements

The Music Department of Mahila Mahavidyalaya offers a comprehensive curriculum covering Hindustani classical music, folk music traditions, Western music, and notation systems. The department emphasizes both theoretical understanding and practical training, creating a demand for varied library resources.

8.2 Nature of Music Collections

The library has developed its music collection in multiple formats, including:

- Print Resources: Textbooks, reference works, music theory books, biographies of eminent musicians, and historical texts.
- Research Resources: Advanced reading materials supporting postgraduate and doctoral research.
- Audio-Visual Resources: Recorded performances and demonstrations (as applicable).
- Digital Resources: Digitized books, online journals, and e-resources accessed through consortia.

8.3 ICT Integration in Collection Development

The library is fully computerized and uses library management software for acquisition, cataloguing, circulation, and OPAC services. ICT facilities such as digitization, QR code access, and online resource sharing have improved accessibility and resource utilization, particularly for music research.

8.4 Role of the Library in Research Support

The library plays a supportive role in promoting innovative research by providing access to scholarly literature, digital resources, and ICT-based services. This support is particularly significant for postgraduate and Ph.D. scholars in music.

9. Findings of the Study

- The library has a reasonably developed music collection aligned with the academic curriculum.
- ICT integration has enhanced access to music resources.
- Digital and consortium-based resources significantly support music research.
- There is scope for further enrichment of audio-visual and specialized music databases.

10. Conclusion

The study concludes that the library of Mahila Mahavidyalaya, Amravati, has made systematic and commendable efforts in developing its music subject collection. The integration of modern ICT tools, digitized resources, and access to consortia has strengthened the library's capacity to support music education and research. However, continuous evaluation, expansion of digital and audio-visual resources, and focused budget allocation are necessary to meet future academic challenges and research demands.

11. Recommendations

1. Development of a dedicated audio-visual music section.
2. Subscription to specialized music databases and e-journals.
3. Creation of an institutional digital repository for music performances and research output.
4. Regular review and updating of music collections.
5. Organization of user orientation and information literacy programs.

References (APA 7th Edition)

1. Bhat, S., & Mudhol, M. V. (2015). Development of music collections in university libraries in India: Issues and challenges. International Journal of Library and Information Studies, 5(3), 45–52.
2. Chowdhury, G. G. (2010). Introduction to modern information retrieval (3rd ed.). Facet Publishing.
3. Deshpande, N., & Chavan, S. (2019). Digitization initiatives in college libraries of Maharashtra: A study. International Journal of Library and Information Science, 8(2), 112–118.
4. Evans, G. E. (2005). Developing library and information center collections (4th ed.). Libraries Unlimited.
5. Joshi, P., & Kulkarni, M. (2022). Impact of e-resources on music research in Indian universities. Journal of Library and Information Technology, 42(4), 289–295. https://doi.org/10.14429/djlit.42.4.17865
6. Kumar, P. S. G. (2014). Management of library and information centres (2nd ed.). B. R. Publishing Corporation.
7. Kumari, R., & Panda, K. C. (2018). Collection development practices in women's college libraries in India. SRELS Journal of Information Management, 55(6), 326–333.
8. Patil, S. K., & Pradhan, P. (2016). Application of ICT in academic libraries: An analytical study. DESIDOC Journal of Library & Information Technology, 36(3),

171–176. https://doi.org/10.14429/djlit.36.3.9276
9. Reddy, M. S., & Kumar, R. (2020). Role of academic libraries in supporting performing arts education. Library Philosophy and Practice, Article 4123.
10. Shukla, R., & Tripathi, A. (2013). Collection development policies in academic libraries: An Indian perspective. Annals of Library and Information Studies, 60(2), 124–131.
11. Singh, S. (2017). User satisfaction with music resources in higher education institutions. International Journal of Information Dissemination and Technology, 7(1), 45–50.
12. University Grants Commission. (2019). Guidelines for strengthening academic libraries in higher education institutions. UGC.

ISSN 0975-5217